ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–षष्ठ पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

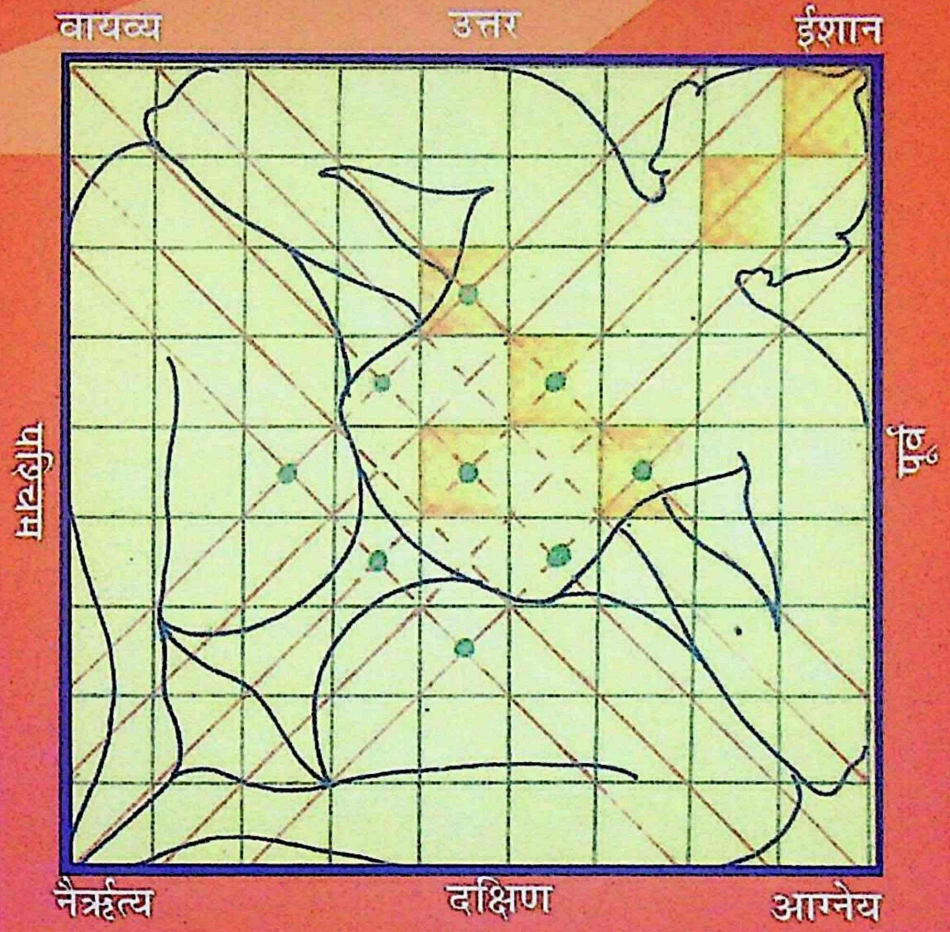

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–षष्ठ पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो० भवेन्द्र झा
कुलपति

सम्पादक
प्रो० देवीप्रसाद त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष

M.Katyayana

वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली–११००१६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रकाशक-
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विंश्वविद्यालय)
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-११००१६

ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण - २०१३

मूल्य २००/-

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली-११०००९
९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुरोवाक्

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के आदिकालीन स्रोत वैदिक संहिताओं तथा उनके अनुवर्ती साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद विश्व साहित्य का सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। ऋग्, यजु एवं सामवेद को संयुक्त नाम **'त्रयी'** से जाना जाता है। भारतीय संस्कृति मात्र आर्यसंस्कृति की ही देन नहीं है अपितु आर्य-अनार्य दोनों संस्कृतियों का समिश्रण है। अनार्य की व्याख्या करते हुए कई चिन्तकों ने कहा है कि द्राविण, नाग एवं असुरादि अनार्य हैं। इन दोनों संस्कृतियों का काफी संघर्ष रहा है। इन दोनों के सांस्कृतिक संघर्ष के प्रतिफल के रूप में ही अथर्ववेद का प्रादुर्भाव हुआ। इसी के पश्चात् ही **'चत्वारो वेदाः'** की परम्परा पल्लवित एवं पुष्पित हुई । यह भारतीय स्थापत्य आर्य-अनार्य दोनों की वास्तु कलाओं का मिश्रित रूप है। ग्राम, अरण्य, एवं सरिता कूलों के प्रेमी आर्यों पर अनार्यों के सहस्र स्तम्भ बहुभूमिक भवनों एवं हर्म्यो जैसी भव्य योजनाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। आर्य अलंकृति विहीन तथा अनार्य विशाल अलंकृति से ओत-प्रोत और तक्षण-चित्रणादि से सुशोभित रचनाओं के प्रेमी थे। नागों का चित्रण और तक्षण भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। नग्नजित् के चित्र लक्षण का प्रभाव भारतीय स्थापत्य में सर्वाधिक मिलता है। बौद्धों के जातक ग्रन्थों एवं पाली साहित्य में भी नागों की चित्रकला का वर्णन उपलब्ध होता हैं।

भारतीय स्थापत्य को आचार्यों ने वास्तु, शिल्प एवं चित्र नाम से तीन विभागों में विभक्त किया है। इस आधार पर निर्माण एवं स्थापना में पार्थिव-अपार्थिव के समिश्रण का विचार ही समग्र वास्तुशास्त्र है। भारतीय वास्तुशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है परन्तु सम्प्रति लोग वास्तुशास्त्र को विज्ञान न कहकर वास्तु कला ही अधिकतर कहते हैं। वास्तुमूल रूप में शास्त्र है, शास्त्र.व्यवस्था देता है। बिना व्यवस्था के विज्ञान और कला निरर्थक हैं। शास्त्र के द्वारा नियन्त्रित विज्ञान और कला ही मानवोपयोगी हो सकती है अन्यथा नहीं, क्योंकि ये दोनों विज्ञान और कला आसुरी सम्पदायें हैं, इन्हें देवत्व भावना से ओत-प्रोत शास्त्र के द्वारा अनुप्राणित व नियन्त्रित रखना चाहिए नहीं तो ये दोनों आसुरी

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सम्पदायें मानव का भक्षण भी कर सकती हैं। आज विज्ञान और कला दोनों सम्पदायें देवत्व भावना से दूर होती जा रही हैं इसीलिए इसके परिणाम भी भयावह दिखाई दे रहे हैं।

भारतीय वास्तुशास्त्र की एक सुदृढ़ एवं वैज्ञानिक परम्परा रही है। आज समाज में इस शास्त्र की सर्वाधिक चर्चा होती है परन्तु सम्यक् शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में समाज कुछ दिग्भ्रमित सा लगता है । यदि आज इस शास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान एवं परम्परा से लोगो को अवगत किया जाय तो इस शास्त्र के जिज्ञासुओं एवं अनुरागियों को सर्वाधिक लाभ होगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति तथा इस शास्त्र के जनोपयोगी एवं व्यवहारिक होने के कारण विद्यापीठ इस शास्त्र के अध्ययन एवं अध्यापन में संलग्न है। इसी के प्रतिफल के रूप में इस **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'षष्ठपुष्प' को प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी ने विभिन्न शोध लेखों से सुसज्जित किया है । यह इनके निरन्तर कार्य करने का ही परिणाम है अतः मैं इन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

यह विषय जितना लोकप्रिय है उतना ही शास्त्रीय भी है । इस शास्त्र के गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को जन-जन तक पहुँचाने और प्रचलित भ्रान्त धारणाओं के निराकरण में किया जाने वाला यह कार्य एक स्वच्छ एवं सुदृढ़ भूमिका का निर्वहन कर रहा है । मैं विभागीय सभी विद्वज्जनों को धन्यवाद देते हुए इस **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'षष्ठपुष्प' को वास्तुशास्त्र के अध्ययनशील जिज्ञासुओं एवं प्रेमियों के अध्ययनार्थ समर्पित करते हुए हर्ष एवं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

आषाढ़ शुक्लपूर्णिमा, वि.सं. 2070
दिनांक 22. 07. 2013

–प्रो. भवेन्द्र झा
कुलपति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सम्पादकीय

वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में भारतीय दृष्टिकोण बहुत व्यापक एवं स्पष्ट है। स्थापत्य की दृष्टि से सम्पूर्ण भूमण्डल ही नहीं अपितु समग्र विश्व ही वास्तुशास्त्र का विषय है। इस सृष्टि की कोई भी योजना एवं निर्माण ऐसा नहीं है जो वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत समाहित न होता हो। समरांगण सूत्र धारादि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में सृष्टि, भुवनकोश, सौर मण्डल, काल एवं दिक् की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों के आधार पर कह सकते हैं कि जब समग्र भूमण्डल एवं सौरमण्डल वास्तु का विषय है तो वास्तु शास्त्र को मात्र भवन निर्माण की प्रक्रिया तक ही सीमित रखना बहुत तर्क संगत नहीं होगा। भारतीय स्थापत्य के अनुसार वास्तुपरक विनियोजना समग्र भूमण्डल को देखकर ही बनाई जाती है। पृथ्वी पर आवासीय योजना सफल है या नहीं इसको देखने के लिए हमें सौर उर्जा के अस्तित्व को देखते हुए सौरमण्डल का सन्तुलन हमारे साथ अर्थात् पृथ्वी के साथ कैसा है यह भी बार-बार देखना होगा। पृथ्वी की बनावट एवं पृथ्वी पर सूर्य की उर्जा का प्रभाव तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग कर्क और मकर रेखा के मध्य है जिसे उष्ण कटिबन्ध कहते हैं, इस क्षेत्र पर सर्वाधिक प्रभाव सौर उर्जा का पड़ता है। द्वितीय भाग उत्तर-दक्षिण गोल में 23.5 अक्षांश से 66.5 अक्षांश तक का है जिसे समशी-तोष्ण कटिबन्ध कहते हैं, इस क्षेत्र पर सौर उर्जा का प्रभाव प्रथम क्षेत्र की अपेक्षा कम पड़ता है तथा तृतीय भाग 66.5 अक्षांश से 90 अक्षांश तक का है जिसे शीत कटिबन्ध कहते हैं, इस क्षेत्र पर सौर उर्जा का प्रभाव प्रथम द्वितीय क्षेत्र की अपेक्षा कम पड़ता है, इसीलिए सर्वाधिक आबादी का घनत्व प्रथम व द्वितीय भाग में क्रमशः अधिक है जबकि तृतीय भाग में इन दोनों भागों की अपेक्षा न्यूनाति न्यून है। स्वाभाविक है कि आवासीय योजनाओं की अधिकता भी क्रमशः प्रथम व द्वितीय भाग में ही अधिक होगी। किस भौगोलिक परिस्थिति में कैसा निर्माण होना चाहिए ? यह भौगोलिक एवं सौर मण्डलीय उर्जा क्षेत्र को समझे बिना सम्भव नहीं होगा, इसीलिए वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में समग्र भूमण्डल एवं सौरमण्डल के अध्ययन की बात कही गयी है।

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

हमारी पृथ्वी सौर मण्डल की एक लघु इकाई है। सौर मण्डल के सभी ग्रह एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तभी हमारा सौरमण्डल अस्तित्व में है अन्यथा यह इस स्थिति में नहीं रह सकता था । सौर परिवार में सूर्य के प्रकाश से ही सभी ग्रह प्रकाशित होते हैं ग्रहों में अपना प्रकाश नहीं है। प्रत्येक ग्रह से सूर्य का प्रकाश प्रत्यावर्तित हो कर जब सौरपरिवार में फैलता है तो उसका गुण-धर्म बदल जाता है। इसलिए किसी भी निर्मिति हेतु समग्र सौर परिवार का ज्ञान होना आवश्यक है। हमारी पृथ्वी सजीव है और इसमें जीवन बिना सूर्य के सम्भव नहीं है। पृथ्वी में उर्जा का अनुपात अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक अच्छा है, नहीं तो पृथ्वी में जीवन नहीं हो सकता था। अतः कह सकते हैं कि सौर परिवार की वर्त्तमान स्थिति जो है उसी के कारण पृथ्वी में जीवन फल फूल रहा है। यदि सौर परिवार की वर्तमान स्थिति में तनिक भी बदलाव आ जाय तो पृथ्वी का जीवन संकट में पड़ सकता है। यही कारण है कि वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने आयादि विचार के साथ दिग्देश काल ज्ञान पर सर्वाधिक ध्यान देते हुए अष्टांग स्थापत्य में ज्योतिष शास्त्र को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। बिना ज्योतिष के वास्तुशास्त्र का उद्देश्य एवं प्रयोजन समझना कठिन ही नहीं अपितु नितान्त दुष्कर भी है, क्योंकि पार्थिव-अपार्थिव के एकत्व को ज्योतिष शास्त्र ही ठीक-ठीक समझकर दोनों के भेद को भी परिभाषित करता है।

वास्तुशास्त्र की एक विस्तृत शास्त्रीय परम्परा एवं वर्तमान में इसके स्वरूप व लोगों की इस शास्त्र के प्रति रुचि को देखते हुए हमारे यशस्वी पूर्वकुलपति स्वर्गीय प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी ने जुलाई 2004 में पूर्व संकाय प्रमुख एवं ज्योतिष विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के सहयोग से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत विद्यापीठ ने इस विषय का पठन पाठन प्रारम्भ किया, जो सम्प्रति सफलता पूर्वक चल रहा है।

एतदर्थ सर्वप्रथम मैं संस्कृत जगत के उन्नायक परम श्रद्धेय पूर्वकुलपति स्वर्गीय प्रो. वाचस्पति उपायाय जी को प्रणाम करते हुए श्रद्धांजली अर्पित करता हूँ। जिनकी सतत् प्रेरणा से यह योजना अपने उद्देश्य में सफल रही। इस योजना को कार्य रूप में परिणत करने एवं सम्यक् दिशानिर्देशन के लिए स्वर्गीय प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के हम कृतज्ञ हैं। आज वास्तुशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन निर्बाध गति से चल रहा है यह एक मात्र इन्हीं दोनों महामनीषियों की देन है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मैं इस अवसर पर विद्यापीठ के कुलपति प्रो. भवेन्द्र झा जी के प्रति समस्त प्रकाशन समिति के सदस्यों की तरफ से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इनके ही सद्परामर्श एवं आशीर्वाद से यह कार्य सम्पन्न हो सका। इस प्रकाशन कार्य में उत्साहवर्धन करने वाले विद्यापीठ के कुशल प्रशासक यशस्वी कुलसचिव डॉ. विजय कुमार महापात्र जी तथा शोध एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी का भी सराहनीय योग दान रहा है। अतः मैं इन्हें हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए धन्यवाद प्रदान करता हूँ। इसी सन्दर्भ में प्रकाशन समिति व ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष प्रो. प्रेम कुमार शर्मा जी व अन्य विद्वान् सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जिनके सत्परामर्श से **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'षष्ठपुष्प' का प्रकाशन हो सका। मुद्रण कार्य के लिए अमर प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ। शमिति।

–प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी

आचार्य एवं अध्यक्ष, वास्तुशास्त्र विभाग

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शोध एवं प्रकाशन समिति

१.	प्रो. प्रेमकुमार शर्मा	अध्यक्ष
२.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी	संयोजक
३.	डॉ. विहारीलाल शर्मा	सदस्य
४.	डॉ. विनोदकुमार शर्मा	सदस्य
५.	डॉ. नीलम ठगेला	सदस्य
६.	डॉ. दिवाकरदत्त शर्मा	सदस्य
७.	डॉ. परमानन्द भारद्वाज	सदस्य
८.	डॉ. सुशीलकुमार शर्मा	सदस्य
९.	डॉ. फणीन्द्रकुमार चौधरी	सदस्य
१०.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विषयानुक्रमणिका

१.	वास्तुशास्त्र एवं स्थपति	**डॉ. शैलजा पाण्डेय** राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गंगानाथ झा परिसर इलाहाबाद, उ.प्र.	१
२.	वास्तुविद्या : एक विवेचन	**प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र** ज्योतिषविभाग, सं.वि.ध.वि. संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-2, उ.प्र.	६
३.	भूमि परीक्षण की विधियाँ	**डॉ. हंसधर झा** अध्यक्ष ज्योतिष विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, सदाशिव परिसर पुरी (उडीसा)	१५
४.	वास्तु सम्मत संवातन	**डॉ. विनोद कुमार शर्मा** सहायक आचार्य, ज्योतिष विभाग श्री लाल बहाहुर शास्त्री राष्ट्रिसंस्कृतविद्यापीठ नई दिल्ली - 16	२७
५.	गृहनिर्माणयायविचारः	**डॉ. शिवाकान्तमिश्रः** सहायक आचार्य, ज्योतिष विभाग ज.रा.राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)	५१
६.	वास्तुशास्त्र एवं रसोईघर : एक अनुशीलन	**डॉ. अशोक थपलियाल** सहायक आचार्य - ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर(म.प्र.)	५८
७.	मन्दिरवास्तु	**डॉ. विजयलक्ष्मी महापात्र** सहायक-आचार्य (अंशकालीन) राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, सदाशिव परिसर, पुरी (उडिसा)	६५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

८.	द्वारस्थापनविचारः	**डॉ. शुभस्मितामिश्रः** सहायक-आचार्य, ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर, जयपुर (राजस्थान)	७२
९.	चितौड़ कीर्तिस्तम्भ का वास्तुशास्त्रीय विवेचन	**डॉ. उमाशंकर** सहायक आचार्य (तदर्थ) देशबन्धु महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली - 19	८०
१०.	अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र–एक विश्लेषण	**डॉ. मीतू गौड** सहायक आचार्य (तदर्थ) कमला नहेरू महाविद्यालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7	९३
११.	उत्तराखण्डस्थ मन्दिरों के प्रकार एवं विन्यास	**डॉ. सर्वेन्द्र कुमार** सहायक आचार्य (तदर्थ) दयाल सिंह कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - 7	१०४
१२.	दिल्लीस्थ ब्रिटिशकालीन स्थापत्य : एक विवेचन	**डॉ. राजीव कुमार मिश्र** श्रीसन्त नागपाल संस्कृतमहाविद्यालय एवं शोध संस्थान, छत्तरपुर, नई दिल्ली - 74	१३६
१३.	वास योग्य भूमि	**श्रीचक्रधरकर** शोध छात्र, ज्योतिषविभाग श्री लाल बहाहुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-16	१७१
१४.	नारद संहिता में वास्तु विधान	**श्री रविन्द्र उनियाल** शोधछात्र, ज्योतिषविभाग श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नईदिल्ली-16	१७९
१५.	मन्दिर वास्तु के प्रतीक	**श्री आशीष कुमार चौधरी** अनुसन्धान सहायक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर, भोपाल (म.प्र.)	१९५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र एवं स्थपति

M.Katyayana

डॉ. शैलजा पाण्डेय

वास्तुशास्त्र भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। प्राचीन मनीषियों ने इस शास्त्र को अत्यन्त पूज्य उपास्य एवं अनुकरणीय स्वीकार किया । वेद की यज्ञवेदियों से उद्भूत इस कला को मनीषियों ने शास्त्रीय रूप दिया एंव शिल्पियों तथा स्थपतियों ने इसे साकार रूप प्रदान किया। इस शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है तथा इसका वैभव शिल्पियों एवं स्थपतियों के कौशल से पुर-निवेश, नगर-रचना, सामान्य जनों के आवास, राज-भवन, देवालय, प्रतिभा-विज्ञान, चित्रकला, शयन आसन आदि में परिलक्षित होता है। इस शास्त्र के क्षेत्र की विशदता के कारण इसमें भवन-निर्माता, तक्षक, वर्धकि, मूर्तिकार, चित्रकार आदि विविध विशेषज्ञों का योगदान होता है एवं उनका प्रधान स्थपति होता है, जो समग्र योजना बनाकर उसे अपनी नीति के अनुसार विविध विशेषज्ञों के सहयोग से पूर्ण करता है। ये स्थपति वास्तु-शास्त्र के पूर्ण विशेषज्ञ होते थे।

स्थपति

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में स्थपति के लक्षण अर्थात् उसके शील, विद्या, शास्त्राभ्यास एवं क्रिया-कौशल आदि सभी पर सम्यग् विचार किया गया है। समराङ्गण सूत्रधार के ४४वें अध्याय में स्थपति के लक्षण पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया गया है। मयमतम् में स्थपति के लक्षण इस प्रकार हैं-

स्थपतिः स्थापनार्ह स्यात् सर्वशास्त्रविशारदः।
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो धार्मिकस्तु दयापरः॥

अमात्सर्योऽनसूयश्चातन्द्रितस्त्वभिजातवान् ।
गणितज्ञः पुराणज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥

चित्रज्ञः सर्वदेशज्ञश्चान्नदश्चाप्यलुब्धकः।
अरोगी चाप्रमादी च सप्रव्यसनवर्जितः॥[1]

---

1. मयमतम, ५/१५-१६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थपति को भवन-स्थापन में योग्य एवं गृह-निर्माण से सम्बद्ध अन्य शास्त्रों का ज्ञाता भी होना चाहिये। उसे द्वेषरहित, ईर्ष्यारहित, सावधान, आभिजात्य गुणों से युक्त, गणितज्ञ, पुराणों का ज्ञाता, सत्यवक्ता एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाला होना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्थपति को चित्रकर्म (रेखांकन आदि) में निपुण, सभी देशों का अर्थात् भूगोल का ज्ञाता, अपने सहायकों को अन्न देने वाला, लोभ-रहित, रोग-रहित, आलस्य एवं भूल न करने वाला तथा सात प्रकार के व्यसनों (वाचिक, शारीरिक आघात न पहुँचाना, सम्पत्ति के लिये हिंसा न करना, शिकार, जुआ, स्त्री एवं सुरापान-अर्थशास्त्र, ८.३.२३.३२) से रहित होना चाहिये।

समराङ्गण सूत्रधार के अनुसार इसे शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा एवं शील से युक्त होना चाहिये। शास्त्रों में उसे सामुद्रिक, गणित, ज्योतिष, छन्द, सिरा, शिल्प एवं यन्त्र कर्म का ज्ञान होना चाहिये-

शास्त्रं कर्म तथा प्रज्ञा शीलं च क्रिययान्वितम्।
लक्ष्यलक्षणयुक्तार्थशास्त्रनिष्ठो नरो भवेत्॥
सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च।
सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा॥[2]

इस शास्त्र के सिद्धान्त पक्ष के साथ-साथ स्थपति के लिये इसके प्रयोग पक्ष का ज्ञान भी आवश्यक है-

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यति क्रियाकाले दृष्ट्वा भीरुरिवाहवम्॥
केवलं कर्म यो वेत्ति शास्त्रार्थं नाधिगच्छति।
सोऽचक्षुरिव नीयेत विवशोऽन्येन वर्त्मसु॥[3]

अर्थात् जो केवल शास्त्र का ज्ञाता होता है एवं कर्म में अकुशल होता है, वह स्थपति प्रयोग काल में किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है जैसे कायर युद्ध क्षेत्र में हो जाता है। दूसरी ओर, जो स्थपति केवल कर्म-पक्ष जानता है किन्तु उसे शास्त्र का ज्ञान नहीं होता, वह नेत्र हीन की भाँति विवश भाव से किसी अन्य के द्वारा मार्ग पर चलाया जाता है। स्थपति का शीलवान् होना अपरिहार्य चारित्रिक गुण कहा गया है-

ज्ञानवांश्च तथा वाग्मी कर्मस्वपि च निष्ठितः।
एवं युक्तोऽपि न श्रेयान् यदि शीलविवर्जितः॥[4]

---

2. समराङ्गणसूत्रधार, ४४/२,३
3. समराङ्गणसूत्रधार, ४/५-९०
4. वहीं, ४१/९६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् यदि स्थपति ज्ञानी, वाक्पटु एवं कर्म में निष्णात हो, तब भी यदि वह शील रहित हो तो वह श्रेयस्कर स्थपति नहीं है।

चतुर्धा शिल्पी-

वास्तु शास्त्र या स्थापत्य विद्या प्रयोग-काल में केवल एक व्यक्ति से सम्पन्न नहीं होता। चार प्रकार के शिल्प-विशेषज्ञ इस कार्य को समवेत रूप से सम्पन्न करते हैं। ये चारों स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि (बढ़ई) एवं तक्षक (छीलने, काटने एवं आकृतियाँ उकेरने वाले) होते हैं। ये सभी स्थापत्य कर्म के लिये प्रसिद्ध स्थान वाले, संकीर्ण जाति से उत्पन्न एवं अपने कार्यो के लिये अभीष्ट गुणों से युक्त होते हैं-

स्थपतिः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा।
प्रसिद्धदेशसङ्कीर्णजातिजोऽभीष्टलक्षणः।।[5]

मनुष्यालय चन्द्रिका ग्रन्थ में भी स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धकि संज्ञक शिल्पियों का उल्लेख प्राप्त होता है-

स्थपतिः सूत्रग्राही तक्षकसंज्ञश्च वर्धकिः क्रमशः।
स्वोचितकर्मणि दक्षाः ग्राह्यास्ते काखश्चतुर्धेति।।[6]

वास्तुविद्या में भी चारो स्थपति आदि का भी वर्णन किया गया है। इनके परिचय संक्षेप में इस प्रकार हैं-[7]

स्थपति

इस वास्तु-वेत्ता का परिचय ऊपर विस्तार से दिया गया है। मानसार (२/१६) में इसे स्थापन कर्म में निपुण, सर्वशास्त्र विशारद, शरीर से स्वस्थ, धार्मिक, दयावान्, ईर्ष्याहेष से रहित, तान्त्रिक एवं ज्ञानी कहा गया है।

सूत्राग्राही

सूत्राग्राही स्थपति का पुत्र या शिष्य होता है। उसे यशस्वी, हढ़ बुद्धि वाला, वास्तुशास्त्र-विशेषज्ञ-स्थपति की आज्ञानुसार कार्य करने वाला, स्थापत्य के सभी कार्यो का ज्ञाता , सूत्र एवं दण्ड के

---

5. मयमतम् 5/14
6. मनुष्यालय चन्द्रिका 1/11-13
7. वास्तुविद्या 1/12-20

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रयोग का ज्ञाता एवं मापन कार्य में निपुण होना चाहिये-

सुनामा हढबुद्धिश्च वास्तुविद्याब्धिपारगः।
स्थपतेस्तस्य शिष्यो वा सूत्रग्राही सुतोऽथवा॥

स्थपत्याज्ञानुसारी च सर्वकर्मविशारदः।
सूत्रदण्डप्रपातज्ञो मानोन्मानप्रमाणवित्॥[8]

राजवल्लभमण्डन के अनुसार सूत्रधार को शीलवान्, चतुर, दक्ष, शास्त्रज्ञ, लोभरहित, क्षमाशील ब्राह्मण होना चाहिये-

सुशीलः चतुरो दक्षः शास्त्रज्ञो लोभवर्जितः।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्रधारः स उच्यते॥

मनुष्यानलय चन्द्रिका के अनुसार-

सूत्रग्राही सुतो वा स्थपतिमतिगतिप्रेक्षकः शिष्यको वा।[9]

वास्तुविद्या में मयमतम् ग्रन्थ में वर्णित लक्षण को पुष्टि प्राप्त होती है।[10]

तक्षक

स्थपति का तीसरा सहायक तक्षक कहा गया है। यह पत्थर, काष्ठ एवं ईट आदि को काट कर मोटा पतला या स्थपति एवं सूत्रग्राही के मता नुसार आकृति प्रदान करता है।

शैलदार्विष्टकादीनां सूत्रग्राहिवशानुगः।
तक्षणात् स्थूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः॥[11]

वास्तुविद्या के अनुसार उपर्युक्त गुणों में मिपुण होता है-

तक्षणात् स्कूलसूक्ष्माणां तक्षकः स तु कीर्तितः॥[12]

---

8. मयमतम् 5/18-19
9. मनुष्यालय चन्द्रिका 1/13
10. वास्तुविद्या 1/16-18
11. मयमतम् 5/20
12. वास्तुविद्या 1/18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्धकि

स्थपति का चौथा सहायक वर्धकि होता है। वह मृत्तिका कर्म का ज्ञाता, अपने शास्त्र में गुणवान् कार्य में समर्थ, अपने क्षेत्र में सभी कार्यों को स्वतन्त्रता पूर्वक करने वाला तथा तक्षक द्वारा काटे-छाटे गये सभी टुकड़ों को युक्ति पूर्वक जोड़ने वाला होता है-

मृत्कर्मज्ञो गुणी शक्तः सर्वकर्मस्वतन्त्रकः।
तक्षितानानां तक्षकानामुपर्युपरि युक्तितः॥[13]

यह सूत्रग्राही के अनुसार कार्य करने वाला होता है- **वृद्धिकृद् वर्धकिः प्रोक्तः सूत्रग्राह्यनुगः सदा।**

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि-

१. वास्तुशास्त्र में स्थपति की स्थिति शरीर में मेरुदण्ड के समान है।

२. भवन-निर्माण एक समवेत कार्य है, अतः स्थपति के साथ सूत्रग्राही, तक्षक एवं वार्धकि शिल्पियों का सहयोग अपरिहार्य होता है।

३. स्थपति स्थापत्य का प्रधान होता है, अतः उसे वास्तुशास्त्र के समग्र विषय का ज्ञान होना चाहिये।

४. स्थपति को केवल वास्तुशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष का ही नहीं, उसे उसके प्रायोगिक पक्ष का भी ज्ञान होना चाहिये।

५. स्थपति को वास्तुशास्त्र के अतिरिक्त सामुद्रिक, गणित, ज्योतिष, छन्द, यन्त्र कर्म, पुराण, चित्र आदि विविध शास्त्रों का भी ज्ञान होना चाहिये।

६. शीलवान् होना एवं स्वस्थ होना स्थपति का चारित्रिका गुण हैं। उदारता, निरोगी होना, आलस्य एवं भूल न करना, व्यसन हीन आदि स्थपति के चारित्रिक वैशिष्ट्य हैं जिनके बिना शास्त्रज्ञ एवं कर्म निष्णात होने पर स्थपति सफल एवं यशस्वी नहीं बन सकता है।

संक्षेप में शास्त्र, कर्म, पज्ञा एवं शीलसम्पन्न स्थपति ही वास्तुशास्त्र में प्रतिष्ठित एवं सम्मानित होता है।

---

13. मयमतम् 5/21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुविद्या : एक विवेचन

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र

वास्तुशास्त्र का वास्तुविद्या नाम का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। वास्तु विद्या को लघु विवृति सहित प्रकाशनाध्यक्ष वैदिकशास्त्रनिपुण श्री रविवर्मा ने केरल महाराज की सहायता से राजकीय मुद्रणालय से मुद्रित कर प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ 1106 ई. का मलयालम भाषा तथा लिपि में उपलब्ध होता है।[1]

1940 ई॰ में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका। इस ग्रन्थ का प्रणयन मूलतः 1106 में हुआ। इस ग्रन्थ की एम.आर.राय तथा के. महादेवशास्त्री द्वारा पुनः व्यवस्थापना महत्वपूर्ण है। इसमें वास्तु विद्या के सभी पक्षों को समाहित किया गया है। स्थापत्य एवं शिल्प Architec Aure Science and Venil Texrioulogy का भी इसमें समावेश है।[2] पौरुष ग्रन्थकारों में वराह तथा बृहन्नारद पुराण के त्रिस्कन्ध ज्योतिषान्तर्गत वास्तु-स्थापत्य एवं अग्निपुराणादि में वर्णित वास्तुविद्यात्मक निवेश में सभी पक्ष समन्वित हो जाते हैं।[3]

इस वास्तु विद्यात्मक निवेश में 16 विभाग हैं। गृह निर्माण में प्रयुक्त काष्ठ चयन एक महत्वपूर्ण प्रभाग है। 13वें अध्याय में वास्तुविद्योपविद्या प्रभेद की दृष्टि से वन सम्पदारक्षण के सूत्र भी इसके महत्वपूर्ण हैं।[4]

संसार में सभी तथ्य गतिशील है। सापेक्षिक चराचरत्व द्वैतमात्र पर प्रयुक्त होता है। निश्चित काल खण्डाभिप्रायिक ध्रुव संकल्पना वास्तुशास्त्र में सर्वविध निर्माण में ध्येय, ज्ञेय तथा प्रयोज्य है। यथा[5]–

भूयाद्-ध्रुवा द्यौः पृथिवी च भूयाद् भवन्त्वमे भूमिधरा ध्रुवाश्च।
ध्रुवं जगद्विश्वमिदं ध्रुवं स्याद् राजा तथा धाम च तद् ध्रुवं स्यात्॥

---

1. वास्तुविद्या - उपोद्घात - के. महादेव शास्त्री - पृ॰ 1
2. वास्तुविद्या - वही - वही - पृ॰ 1
3. बृहत्संहिता - वराह - अ॰ 51 तः 55
4. वास्तुविद्या - अ॰ 13 सम्पादक के. महादेव शास्त्री
5. तत्रैव - अ॰ 15- वही -

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अतः निर्माण मात्र ध्रुव निश्चित संकल्पित होने से द्युलोक से पृष्ठ तक ध्रुवांक एवं ध्रुवा विधान सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ में दो भाग हैं। प्रथम-पूर्वभाग द्वितीय उत्तरभाग, इसमें **''धाम च तद् ध्रुवं स्यात्''** इस कथन को वास्तु शास्त्रीय विकास के पराकाष्ठा का सैद्धान्तिक संकेत कह सकते हैं। सृष्ट एवं रचित द्वैत मात्र विनाशी तथा अविनाशी भी है। आब्रह्म पिपीलिकान्त (चिट्टी, कीट, पतंग) सभी प्राणी आवश्यकता एवं चेतना के न्यूनाधिक संयोग से शीत, ताप, वात आदि से अपने शरीर की रक्षा के लिए जो निर्माण कर पाते हैं, उनसे ही अपना इष्ट साधन करते हैं। जैसे पक्षी, पशु, मृग, कीट, मधुकर, सरीसृप, आदि अपनी सुरक्षा के लिए गृह का निर्माण करते हैं। उनका न तो कोई लिखित शास्त्र है और नहीं कोई उपदेष्टा। मानव भी प्राचीनतमकाल में देवों के साथ कल्पवृक्षों के सान्निध्य में निवास करते थे तथा मनोवान्छित फल पाते थे। ये तथ्य आज भौतिक प्रधान युग में कल्पना मात्र हैं।[6]

त्रिपुरादि वर्णन में देवों, असुरों तथा भूपृष्ठीय चक्रवर्तियों के संकेत पुराणों में प्राप्त होते हैं। रामायण तथा महाभारत में भी वास्तु शास्त्रीय प्रयोग के अद्वितीय दृष्टान्त मिलते हैं।[7]

इस वास्तु विद्या ग्रन्थ में गृह निर्माण के साधन में भूमि निरूपण के अन्तर्गत ग्राह्य एवं त्याज्य भूमिनिरूपण तथा वास्तुशास्त्र का स्वरूप 16 अध्यायों में निरूपित है। इस ग्रन्थ के भवन परिग्रहाध्याय के अन्त में वास्तु विद्या समाप्त लिखा है। इस ग्रन्थ को अन्तिम स्वरूप देने के लिए श्री के. महादेव ने संशोधन हेतु आधार-भूत सात पाण्डु ग्रन्थों का संग्रह कर समीक्षा की।[8]

पं॰ गणपतिशास्त्री ने मुद्रणालय से सम्पादित इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में निवेदन किया है कि इस वास्तु विद्या के सभी पाण्डु ग्रन्थ संस्कृतभाषा तथा मलायलम लिपि में प्राप्त हुए।

समराङ्गण सूत्रधार में यज्ञ गृहा प्रयोजन निम्नाङ्कित रूप में प्राप्त होता है। यथा[9]–

इत्थं दुःखत्रयार्त्तास्ते व्यवायाद्यभिगुप्तये।
हिमनीहारशीताम्बुवाताद्यापच्छिदेऽणि च॥
अजातप्रतीतयोवृक्षैःकुट्टिमानिगृहमि च।
व्याद्युश्छित्वाश्मभिर्वृक्षानन्यान् दुःखार्तचेतसः॥
स्मृत्वा कल्पद्रुमाकारां स्तद्रूपाणि गृहाणि ते।
एकद्वित्रिचतुस्सप्तदशशालानि चक्रिरे॥

---

6. पौराणिक प्रमाण से कल्पवृक्षान्तर्वास से गृह निर्माण की परम्परा के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।
7. रामायण - अयोध्या काण्ड एवं बालकाण्ड तथा सुन्दर काण्ड में वास्तु स्थापत्य के विकास की पराकाष्ठा अयोध्या, जनकपुरी, लंका, अलकापुरी, तथा अमरावती के रूप में प्राप्त होती है।
8. वास्तु विद्या - प्रथम संस्करणनिवेदन - तं॰ गणपति शास्त्री
9. समराङ्गणसूत्रधार -7.35

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शष्पप्राकारपरिखेष्याच्छन्नेषु तणादिभिः।
हृष्टास्तेष्वययन् कालमाप्तेषु गृहमेधिनः॥

प्रथम युग कल्पवृक्षों का था। कल्पवृक्षकाल खत्म होने पर काष्ठ, तृण, एवं प्रस्तर निर्मित गृह तथा प्रस्तर युग के संकेत भी मिलते हैं। पौराणिक अख्यानों के अनुसार कल्पवृक्षों की कामनापूर्ति साधकक्षमता जब खत्म हो गयी तब प्रस्तर के तीव्र धार से वृक्ष छेदन कर कल्पवृक्षानुकार गृह निर्माण पूर्व स्मृति के आधार पर होने लगे, जिसे मानव तृण से आच्छादित करने लगे। ताप, शीत, हिम (बर्फ) एवं नीहार की तीव्रता, अन्तरिक्षादि उत्पातों से पर्वतीय गुफाओं तथा कल्पवृक्षों के सान्निध्य में रक्षित मानव गुफा तथा कल्पवृक्षानुरूप काष्ठ से एक मंजिल से दश मंजिल तक के ऊँचे भवन बनाने लगे। वह काल सत्ययुग का अन्त रहा होगा। अयोध्या, मिथिला, लंका आदि के उन्नतवास्तु शिल्प के प्रमाण तथा द्वापरान्त में महाभारतोक्त हस्तिनापुर, इन्द्र प्रस्थ, मथुरा आदि नगरों के वर्णन अद्वितीय हैं। महाभारत कालीन परम्परा के प्रमाण अभी भी मन्दिरों तथा प्राचीन प्रस्तर निर्मित दुर्गों में मिलते हैं। उन्हीं मूल विधानों के अनुशरण आज भी हो रहे हैं। गृह निर्माण की विभिन्न रीतियां स्थान भेद, वातावरण भेद, अतिताप, मध्यताप, सामान्यताप, समशीतोष्ण, शीत, मध्यमशीत, अतिशील, हिममयक्षेत्र तथा हिमपठार भेद अतिवृष्टि, सामान्य वृष्टि, शुष्क, मरु, वर्फवारी वाले क्षेत्र भेद से निम्न एवं ऊँचे अक्षांशों में विभिन्न रूप के गृहनिर्माण के दृष्टान्त परीक्षणीय तथा समीक्षणीय है।[10]

गृहनिर्माण प्राकृतिक आपदा रहित भूमि में उत्तम, कम नुकसान देह भूमि में मध्यम, तथा तीव्र आपदाग्रस्त भूमि में अधम होता है।

ज्योतिषीय प्रभाव तथा स्थापत्य का समन्वित रूप संहितोक्त वास्तु ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जो शास्त्रीय विद्यानों को छोड़कर मनमाने ढंग से गृह तथा नगर का निर्माण करते हैं, वे केवल, ईट पत्थर का आत्मघाती कुनवा खड़ा करते हैं।

निर्मित गृह तथा नगर किस तरह के प्राकृतिक आपदा वाले क्षेत्र में है, तथा निर्मित गृह एवं नगरादि में उनसे बचने तथा लड़ने की कितनी क्षमता है, तथा पांचभौतिक एवं त्रिगुणात्मक वह स्थान कितना निर्दुष्ट है, ये विधिवत ध्येय तथा ज्ञेय हैं। अतः वास्तु शास्त्र महत्वपूर्ण है। इसमें संहितोक्त दिवा, नाभस तथा भौम एवं मिश्र के साथ वृष्टि, कूर्म, व्यूह, राशि द्रव्यनिश्चयादि सभी तथ्यों को निरूपित कर वास्तु विद्याध्याय का प्रारम्भ होना, वराह मिहिर का अद्वितीय निष्कर्ष हैं, जिन्हें लोक हित में ठीक-2 जानकर प्रयोग करने की आवश्यकता है।[11]

---

10. भुवन तथा भुवन कोश के प्रमाण अपराजित पृच्छा - अपराजित तथा गृहारम्भ प्रयोजन एवं उपयोगिता के रूप में सभी वास्तु ग्रन्थों में मिलते हैं।
11. वास्तु के सभी ग्रन्थों में भूमि चयन, भूपरीक्षण आदि तथ्य प्राप्त होते हैं। बृ० सं०-वराह नें अ० 50 तक वास्तु एवं वातावरण का भिगोलीय सम्बन्ध निरूपित कर वास्तुविद्याध्याय अ० 51 से प्रारम्भ कर इन तथ्यों की पुष्टि की है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सनातन धर्मामवलम्बियों के लिए गृह निर्माण को यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। इसके 18 स्वतन्त्र प्रवर्तकों का होना तथा उनमें से अधिकांश का ज्योतिष प्रवर्तक होना तथा वास्तुशास्त्र संज्ञक शिल्प शास्त्र के विभिन्न पक्षों के प्रयोग, इस महत्वपूर्ण विद्या के ज्योतिष सम्बन्ध, योगज तथा स्थापत्य एवं शिल्प सम्बद्ध स्वतन्त्र रूप में महत्व की परम्परा निम्नाङ्कित रूप में मिलती है।[12]

भगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदोनग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरूद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याताः शिल्प शास्त्रोपदेशकाः।

ये स्थापत्य सम्बद्ध शिल्प के महानायक प्रमुख प्रवर्त्तक देव तथा महर्षि है। इस सन्दर्भ में ब्रह्मा, शिव, गुरू, शुक्र विश्वकर्मा मय आदि के भविष्य पुराणगत वर्णन अन्वेषणीय है। वास्तुशास्त्र को शिल्पशास्त्र भी कहते हैं। 18 प्रवर्त्तक उपलक्षणमात्र हैं। अगस्त्य, महर्षिभारद्वाज, गर्ग, पराशर, बृहद्रथ, मार्कण्डेय आदि वास्तु प्रवर्त्तक के साथ-साथ त्रिविधयान एवं नानाविधशस्त्रास्त्र के प्रवर्त्तक के रूप में भी परिगणित हैं।[13]

वेदों में काश्यप, ऋभु, अगस्त्य, त्वष्टा आदि को शिल्पादि के पूर्व प्रवर्त्तक माने गये हैं। यद्यपि ऋग्वेदादि गोपथब्राह्मण काल निर्णय में पाश्चात्य प्रयत्नमात्र केवल कल्पनाधारित हैं। इनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यदि इसे कोई सत्य मानने तो भी ई. सन् 8000 पूर्व इनके समय सिद्ध होंगे। महायुग पद्धति के अनुसार 38 लाख वर्ष पूर्व उत्पन्न वर्त्तमान मानवीय सभ्यता की समीक्षा खगोल तथा भूगर्भीय और पृष्ठीय परिवर्त्तन के आलोक में वैज्ञानिकरीति से करना जरूरी है। विभिन्नकालिक वास्तुशास्त्रीय स्वरूप भेद अनुशीलन गम्य है। देश, काल, अवस्था और व्यक्तिगत तथा सामुहिक युगीय क्षमता भेद से विभिन्नकाल खण्डों में वास्तुजन्य निर्माण भेद उपलब्ध होना अन्वेषणीय तथ्य हैं।[14]

विभिन्न देशीय वास्तु मत तथा लक्ष्य अन्तरित होने पर सभी का उद्देश्य दिग्देशकालादिभेद होने पर भी मानवीय सुख शान्ति, धर्मार्थकाम एवं मोक्ष की सहज सिद्धि एवं प्राकृतिक आपदाओं

---

12. वास्तु स्थापत्य प्रवर्तक महर्षि एवं आचार्यों की परम्परा द्रष्टव्य भविष्यपुराण तथा वास्तुविद्या उपोद्घात के. महादेवशास्त्री
13. यन्त्र सर्वस्व - भारद्वाज से समराङ्गणसूत्रधार भोजराज 9वीं शताब्दी तक तथा वसिष्ठ एवं विश्वामित्र के धनुर्वेद संहितादि इसके प्रमाण साक्ष्य हैं।
14. वातावरण भेद से वास्तु स्थापत्य भेद के भूपृष्ठीय प्रमाण तथा प्राचीन वाङ्मय में वर्णित हिमालयादि के उद्गम सरस्वती के मूहाने पर ज्वालामुखी विस्फोट आदि शतपथब्रह्मणोक्त प्रमाण प्रबल साक्ष्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से रक्षण है। सभी मत अपने-2 हिसाब से आदरणीय हैं। काश्यप, भृगु, मय मतानुसार निर्मित देवालय तथा मानवीय आवास निर्मित होने के प्रमाण मिलते हैं। विन्ध्य हिमालयान्तर्गत तथा दक्षिण भारतीय प्राचीन देवालयों के प्राचीन भवनों तथा प्रासादों के परीक्षण से उनके लक्ष्यसुगमता के ज्ञात हो सकते हैं।

केरलप्रान्त में भी काश्यप, मय, पाराशर, भास्कर, विश्वकर्मा, मार्कण्डेय के वास्तु सिद्धान्त प्राचीन देवालयों, मानवीय गृहों एवं राजप्रसादों में प्रयुक्त होने के प्रमाण मिलते हैं। के. महादेवशास्त्री के प्रमाण से ज्ञात होता है, कि इनके समय से दो वर्ष पूर्व तक गणितादिशास्त्र के साथ-2 शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, मूर्तिकला, चित्रकला के क्षेत्र में भी अत्यधिक अद्भुत कार्य हुए हैं। नूतन शिल्प एवं सृष्टि निरूपम के अनेक पण्डित समग्र भारत में विद्यमान थे। लेकिन उनकी दिव्यथाती को आगे बढ़ाने की सही व्यवस्था अंग्रेजों ने नहीं की।[15] उनकी पूर्ण दृष्टि पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार व भारतीय विद्याओं के दिव्य अंशों को पाश्चात्य विकास में प्रयोग करना रहा। स्वतन्त्रता के बाद लार्डमैकाले की शिक्षा नीति ने इस कदर जोर पकड़ा कि भारतीय ज्ञान, विज्ञान, कला, दर्शन तथा अध्यात्म की मूल भाषा संस्कृत तथा निगमागम सम्मत धाराओं से आम भारतीय कट गया।

शिल्पविद्या के चमत्कार आज भी कहीं-कहीं (जो 12वीं से 19वीं सदी के आक्रान्ताओं के विध्वंस से बच गये हैं) देवालयों, राजमन्दिरों शिलाओं तथा द्वारादि पर उत्कीर्तित हैं। वे दृढ़ता एवं सौन्दर्य दोनों दृष्टिकोण से अद्भुत हैं। हम आज भी उतने विकसित नहीं हुए, जितने निगमागम सम्मत विभिन्न विद्याभिप्रायिक वैज्ञानिक पद्धति में उपलब्ध थी। आज भी 1000 अध्यायात्मक भारद्वाज के यन्त्र सर्वस्व के अधिकांश भाग जर्मन, फ्रेंच, इंग्लैण्ड के सग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे।

केरल महाराज के संग्रहालय में भवन निर्माण विचित्रतम सुन्दरतम भवन तथा भवनों के अलंकरण के साथ संग्रहितकलाकृतियां रमणीय होने के साथ नवीन प्रासाद अनन्त विलास नामक धाम अद्भुत तथा दिव्य था, इसका वर्णन केरल के वृद्धजन करते नहीं थकते। प्राचीन काल में जन समुदाय प्रदूषण मुक्त था। श्रीवर्धनपुर आदि में निर्मित नगर का दिव्यत्व अद्भुत था। समग्र भारत के विभिन्न मन्दिर तथा उनके शिल्प एवं प्राचीन प्रवर्तन तथा नवीन क्रम की समीक्षा संघ साध्य उद्यम का विषय है। भारतीय वास्तुविद्या तथा शिल्प के अध्ययन तथा अन्वेषण से जुड़े परम्परागत तथा अत्याधुनिक अन्वेषण के समन्वय से जो 1959 से उपग्रह प्रेक्षण के बाद खोजे तथा उनके आधार पर बनाये गये हैं, उनके प्रयोग में सक्षम होकर ही निगमागम सम्मत तथ्यों की वास्तविक पक्ष की स्थापना निर्दुष्टता के साथ करने की जरूरत है।[16]

---

15. वास्तुविद्या - के. माहदेव शास्त्री - उपोद्घात
16. प्राचीनवास्तुस्थापत्य तथा शिल्प को अद्यतन करने में गणित, गोल, एवं उच्च स्तरीय संस्कृत भाषा ज्ञान के साथ स्थापत्य एवं शिल्प के अत्याधिक प्रायुक्तिकी का वर्गीकरणानुरोध से समन्वय अपेक्षित है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लिखने से अधिक कण्ठाग्र की परम्परा होने से उन दिव्य चमत्कारों को प्रकट करने वाली ग्रन्थराशि नहीं प्राप्त होती है। लेकिन जिन मूलाधारों को योगमूल से निगमागमनिष्ठ होकर जिन क्षमताओं को प्राप्त किये, उन्हें यदि हमें फिर से पाना है, तो मेधावियों को आगे बढ़कर संस्कृत तथा समस्त भारतीय लिपियों में निहित ग्रन्थ समुह की विशेष सुरक्षा करनी होगी।

केरल महाराज के वित्तीय सहायता से संचालित मुद्रयालय ने बहुत सारे ग्रन्थों का उद्धार किया। सहस्त्रों संग्रहालयों में 10 लक्षाधिक पाण्डु ग्रन्थ भारत की समस्तलिपियों में आज भी प्रकाशनाभाव से कीटभक्षित तथा वातानुकूलित वातावरण में संरक्षित नहीं होने से शीत, ताप, एवं नमीयुक्त वातावरण के कारण नष्ट होने पर अग्नि को अर्पित किय जाते रहे हैं। अनुपूर्विक कण्ठाग्रकरण सामर्थ्ययुक्तों के कारण वर्तमानोपलब्ध संस्कृत एवं देशी भाषा तथा लिपियों में उपलब्ध मात्र की सुरक्षा भारतीय धनी वर्ग तथा प्रान्तीय से राष्ट्रीय तथा समग्रपृथ्वी पर जहाँ कहीं उपलब्ध है, उनकी सुरक्षा तथा समयोपयोगी विकास की दृष्टि तथा निर्दुष्ट मानवीय सर्वाङ्गीण विकास के लिए जरूरी है।[17]

18 प्रवर्चकों के त्रिलोक सम्बद्ध वास्तु ज्योतिष सम्बद्ध तथ्य अपने शोध निबन्धों के माध्यम से वास्तु पद विन्यासादि क्रम से पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की निष्पत्ति से व्यक्त कर दिया गया है। द्रष्टव्य - वास्तु विद्या -के. महादेवशास्त्री का संस्कृत निष्ठ उपोद्घात के साथ समराङ्गण आदि के मूल से विश्वकर्म प्रकाश तथा मयमत की समीक्षा नवीन वैज्ञानिक प्रविधियों से साम्प्रतिक अध्ययन तथा अन्वेषण क्रम को यदि D.S.T. की सम्बद्धता मिल जाए, तो संस्कृत निष्ठ वैज्ञानिक अध्ययन तथा अन्वेषण को सही गति मिल सकेगी।[18]

वास्तु विद्या की विशेषता–

वास्तु विद्या की रचना केरल प्रान्त में हुई, तथा यह ग्रन्थ मानवीय वास्तु का अद्वितीय नमूना है। इसके 16 अध्याय मात्र मिलते हैं। 15 अध्याय पूर्ति में ग्रन्थ के प्रथमभाग की समाप्ति दर्शायी गयी 16 वें अध्याय में गृहविधान निवेश का वर्णन मिलता है। संभवतः आगे के अध्याय लुप्त हो गये।

इनमें क्रम से 1. साधनकथन 2. वसुधालय, 3. वेदीमान 4. दिक्परिच्छेदादि निर्माण सम्बद्ध सभी अपेक्षित विषय सूत्रशैली में मिलते हैं। वास्तु तथा सम्बद्ध अवान्तर विषय भी अनुक्रमणिका

17. वास्तु स्थापत्य, शिल्प एवं निगमागम सम्मत समस्त पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के साथ प्रकाशन अपेक्षित है। इधर इन्दिरागान्धीराष्ट्रीयकला केन्द्र ने जो उद्यम प्रारम्भ किया है, वह भी एकाङ्गी प्रयास है।
18. त्रिस्कन्ध ज्योतिष में गणित सिद्धान्त, संहिता, संहितोक्तवास्तु, मौसम एवं वातावरण, प्राकृतिक आपदाओं का पूर्व निर्धारण, भूकम्प, आदि विषयों को नवीन विज्ञान एवं तकनीकि विभाग से सम्बद्ध किये बिना संस्कृत निष्ठ वैज्ञानिक विकास को गतिशील करना कठिन है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

में विस्तार से प्रकाशित किये गये हैं।

अधिष्ठान लक्षण, अतिक्रान्त गहन गणित गम्य, लुपा प्रमाण करण, एवं सरल निरूपम, सुविशद् कपाट (Door) द्वार विन्यास, आदि सभी लघुसाध्य विधान इस ग्रन्थ को महत्वपूर्ण बनाते हैं। गृह में प्रयुक्त विविधशिल्प विधान कुट्टिमादि की दृढ़ता के लिए विविधि लेप आदि का निवेश संभवतः ग्रन्थविस्तार भय तथा व्यवहार में पूर्ण प्रचलित होने से संभवतः छोड़ दिया गया है। बराह के बृहत्संहिता में वज्रलेपविद्यान के चार मूल प्रभेद प्राप्त होते हैं।[19]

वास्तु का पुरुष रूप में निवेश प्राचीन वास्तु की संकल्पना इसे जीवन्तता से जोड़ती है, पर क्यों तथा कैसे को फिर से व्यवस्थापित करना निहायत जरूरी है।[20]

ब्रह्माण्ड का व्यक्तिकरण पिण्ड (वास्तु पिण्ड) में दिखना तथा परमपरया उसके प्रयोग तथा अनुपालन के दृष्टान्त सभी वास्तु ग्रन्थ में प्रयुक्त होना, रहस्यमय है। सनातन पद्धति के गृह में वास्तु पुरूष की सजीव संकल्पना तथा दैवी सम्बन्ध का निरूपण आज भी अन्वेषयीणीय तथा समीक्षणीय है। प्राचीनों ने इसका **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डेऽपि** का निरूपण कर वास्तु मात्र को त्रिगोलीय सम्बन्ध से जोड़ दिया है। वे संभवतः उन रहस्यों से परिचित थे, इसके संकेत आगमोक्त वास्तु तथा निगमोक्त विधानों से तथा वराह के संकेत के आलोक में ये प्राचीन निवेश संभव लगता है। इस वास्तु विद्या का कौन लेखक हैं, यह ग्रन्थान्तर्गत प्रयुक्तविधानों से ज्ञात नहीं होता। श्री नील कण्ठ निर्मित मनुष्यालय चन्द्रिका में इस ग्रन्थ की चर्चा मिलती है। इस मनुष्यालय चन्द्रिका का निर्माण केरल में होना तथा इसमें वास्तु विद्या के सिद्धान्तों का प्रयोग मूल ग्रन्थकर्ता को लब्धप्रतिष्ठित बनाता है। श्री के. महादेवशास्त्री के मत से नाम अज्ञात होने पर भी यह वास्तुविद्या हमें दर्शाता है, कि कर्ता वास्तुशिल्प गणित, ज्योतिष आदि में पारांगत कोई द्विजाग्रगण्य थे।

श्री नीलकण्ठ का समय कोलम्बो वर्ष प्रमाण से 8वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। ईसवी सन के अनुसार 15वी शताब्दी का पूर्वार्थ माना जाता है। तन्त्र समुच्चयकार से नवीन तथा सम कालिक श्री नीलकण्ठ का काल बहुतों के मत से यह सिद्धप्राय है। भाषागाम्भीर्य, वास्तु सम्बद्ध सभी विषयों के व्यापक प्रयोग, एवं गाम्भीर्य से तथा सूत्रात्मक रूप में सभी शास्त्रों में इनके प्रखर पाण्डित्य का नमूना है। ये 7वीं 8वीं शताब्दी से पूर्व काल के हो सकते हैं। सूत्रशैली का प्रयोग इन्हें B.C. पूर्व ले जाता है। शिल्पमर्मज्ञपरम्परा के महानतम विभूति थे इसमें कोई विवाद नहीं है। पंच महाभूत सम्बद्ध नवीन निवेश के नव आयाम यदि शास्त्र समर्थित हों, तो सर्वथा ग्राह्य अन्यथा निर्मित भवनादि दिग्विहीन, ब्रह्मस्थानभेदक, अशुद्धकपाट, मण्डल, प्रांगण द्वारादि प्रमाण सर्वथा वर्जित है।[21]

---

19. द्रष्टव्य बृ. सं. वज्रलेपाध्याय – वराह
20. वास्तु पद विन्यास अन्वेषणीय तथ्य है।
21. वास्तु विद्या – उपोद्घात पृष्ठ 166

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दारुस्वीकरणं पश्चान्निधि गेहस्य लक्षणे।
वक्ष्ये नैवात्र वक्ष्यामि ग्रन्थविस्तरतो भयात्॥

इससे दारू निधि गृह लक्ष्यात्मक स्वतन्त्र रचना के संकेत भी मिलते हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम सम्पादन के. महादेव शास्त्री के गुरु टी. गमपति शास्त्री ने किया। विद्या व्यसनी शास्त्री जी ने इस गहन सम्पादन को सव्याख्यान पूर्ण किया। इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। पाण्डुग्रन्थ मूल शोधन से ज्ञात होता है, कि उपलब्ध पाण्डुग्रन्थ वास्तु विद्या 11वीं शताब्दी का सिद्ध रहा होगा है।

महाराज भोजकालीन समराङ्गम सूत्रधार का सम्पादन भी इस मुद्रयालय से प्रकाशित हुआ था। पण्डित प्रवर टी. गणपति शास्त्री तथा इनके शिष्य पण्डित प्रवर के. महादेव शास्त्री की परम्परा में संस्कृत निष्ठ वैज्ञानिक साहित्यों के प्रकाशन का जो महत्वपूर्ण क्रम चला, यदि वह संगठित प्रयास अभी तक रहता तो निः सन्देह अब तक हम प्राचीन शिल्प के कई तथ्यों को प्रयोग उद्घाटित करने में सफल होते। सौभाग्य से राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली ने मुख्य रूप से मुख्य धारा बनने हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत वास्तु शास्त्र में निहीत विषयों का उद्घाटन कर एक अद्वितीय कार्य प्रारम्भ किया। यह इस काल खण्ड का शुभ संकेत है।

भुवनकोश, केतकरीय पञ्चाङ्ग साधन पद्धति से दृक्तुल्य सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग विशेषज्ञ तथा वास्तुविद्यादि में विशेषोद्यम करने वाले प्राचीन वास्तु विज्ञानियों में अन्यतम त्रिस्कन्ध ज्योतिष मर्मज्ञ भारतीय वास्तुशास्त्र मर्मश प्रो. त्रिपाठी वास्तु विद्या विमर्श के माध्यम से वास्तुशास्त्र को पूर्ण प्रयोगात्मक विज्ञान का रूप देने में लगे हैं, इससे इस वास्तुविद्या जैसे वास्तु और शिल्प के क्षेत्र में प्राचीन मैसूर, आदि कई प्राचीन राज प्रोषित संग्रहालयों के संग्रह समीक्षणीय तथा अन्वेषणीय बनाने होंगे। भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के शिक्षा एवं वैज्ञानिक प्रयोग सम्बद्ध प्रभागों को ध्यान देना होगा उच्चतम संस्कृत, मन्त्र कोष तथा शिल्पविधान अन्वेषित करने हेतु सुखद एवं शान्तिप्रद शुभ वास्तु की आवश्यकता होगी। भूमि परिक्षण गृहारम्भ, गृह प्रवेश, गृहमानचित्र, गृहपिण्ड शोधन, शिलान्यास, संकल्पित मानचित्र के आधार पर गृह, प्रसाद, ग्राम, नगर, दुर्ग, कूप, कापी, तडाग, सेतु आदि के निर्माण, शिला एवं द्यातु योजन की पद्धति तथा उन्हें मनोवान्छित स्वरूप प्रदान करना, गृहअलंकरण, प्रस्तर, काष्ठ, एवं धातु शिल्प के प्रमाण के साथ उनके अवशेष का भी यत्र तत्र समग्र भारत में प्राप्त होना प्राचीनों के अद्भुत वास्तुशास्त्रीय प्रमाण एवं दृष्टान्त हैं। जहाँ तक शक्ति एवं ऊर्जा के प्रयोग से विभिन्न यन्त्रों के संचालन सामर्थ्य का प्रश्न है, इस दृष्टि से भी सर्वविज्ञान, सोमाग्नि, सौराग्नि, भौमाग्नि एवं विभिन्न शक्ति स्रोतों के प्राचीन विधान एवं संकेतों पर व्यायक संघीयान्वेषण अपेक्षित है। विकसित देश इन तथ्यों की ओर अग्रसर हैं। भारद्वाज का यन्त्र सर्वस्वं की परम्परा तन्त्रयुगान्त तक सक्रिय रहने के प्रमाण एवं संकेत प्राचीन संस्कृत निष्ठ

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परम्परा में प्राप्त हैं।

अतः महान हुत्मात्माओं के अवदानों की समीक्षा बिना राष्ट्रीय संघीय उद्यम के संभव नहीं हैं। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के स्थापना का उद्देश्य ये मानवीय सर्वाङ्गीय विकास के अन्तर्गत मानवीय शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मिक विकास की निष्पत्ति से ज्ञान, विज्ञान, कला, दर्शन एवं अध्यात्मिक विकास की निर्दुष्ट संकल्पना का मूलाधार निगम एवं आगम जन्य द्वैतद्वैत समष्टि गत बोध निष्काम कर्मयोग से महाविद्यात्मक क्रम में मानवीय विकास का युगीयक्रम संघीयोधन के बिना सर्वाभिप्राथिक महाशोध की संकल्पना पूर्ण करना भी जरूरी है। पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्त, निष्कामकर्मयोग, तप, त्याग और बलिदान की परम्परा भारतीय संस्कृति की संस्कृत निष्ठ परम्परा है। चेतना प्रधान जीवन क्रम तथा सन्तुलित विकास की प्रक्रिया पिण्ड तथा ब्रह्ममाण्ड की निष्पत्ति पर आधारित है, भारतीय संस्कृतिक क्रम त्रिगुण एवं पञ्चभूतों की नानाविध योगज वियोगज निष्पत्तिओं का परिणाम स्वरूप हैं।

इस वास्तु विद्या ग्रन्थ में के. महादेव शास्त्री की टिप्पणी आदि महत्वपूर्ण होने पर भी संस्कृत भाषा की व्यापकता के अभाव में यह प्रयास निरर्थक सिद्ध हो रहा है। केरलीय वास्तुविद्या का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अन्यवास्तु ग्रन्थों के समान ही वास्तुपुरुष से प्रारम्भ होता है। प्रथमादि अध्यायों में प्रतिपाद्य विषय साधन कथन से प्रारम्भ कर लोष्ठनिवेशान्त समस्त विषय जिस प्रकार पहले महत्वपूर्ण थे, वे आज भी महत्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ में विश्वकर्मा के मूल प्रमाण को आधार बनाकर रचना की गयी। **यथा प्रणम्य विश्वकर्माणं शिल्पिनां परमेश्वरम्। वास्तुविद्या प्रवक्ष्यामि यथा शक्तिः समासतः।।**[22]

मान प्रमाणादि समस्त तथ्य परमाणु से प्रारम्भ कर संकेत में निरूपित शिल्पी लक्षण यथार्थक्रम में प्रवर्तन किये हैं।[23] भूमि के गोवीथ्यादि लक्षण प्रभाव एवं भूमि परीक्षण विधान द्वितीयाध्याय में प्राप्त होना इस तथ्य का द्योतक है, कि भूमिचयन तथा परीक्षणादि समस्त कार्यों के सम्पूर्णता के बाद ही गृहारम्भ एवं पूर्णनिर्मित अलंकृत गृह में प्रवेश शास्त्रीय रीति से करना शुभप्रद है। ययमतम्, विश्वकर्मप्रकाश, अपराजितापृच्छा, शिल्परत्न, समराङ्गण सूत्रधार, वास्तुमण्डन, बृहत्संहिता, वास्तुविद्या, आदि अनेक प्राचीन वास्तु एवं शिल्प के ग्रन्थ आज भी प्राप्त होते हैं।आधुनिक नगर निर्माण, एवं गृह निर्माण में शास्त्रीय नियमों, पांच भौतिक व्यवस्थापन आदि विषयों की उपेक्षा से होने वाले दुष्प्रभाव से यदि हमें बचना है, तो भारतीय वास्तु शास्त्र के संहितोक्त स्वरूप पर फिर से व्यायक अध्ययन एवं अन्वेषण क्रम को विधिवत् प्रारम्भ करना होगा।

---

22. वास्तूविद्या, 1/2
23. तत्रैव, 3/11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूमि परीक्षण की विधियाँ

डॉ. हंसधर झा

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय प्राचीन ज्ञानसम्पदा विश्व में अतुलनीय एवं अनुपम है। इस ज्ञानसम्पदा का अपने आप में एक अलग ही वैशिष्ट्य है जिसके कारण समग्र वैश्विक जन हमें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। यहाँ के प्राचीन ज्ञानगङ्गाप्रवाह में कौन सा ऐसा देश है जो स्नान नहीं चाहता है? भारत का वेद, उपनिषत्, पुराण आदि प्राचीन ज्ञान-विज्ञाननिधि से कौन नहीं कुछ लेना चाहता है? अर्थाद् भारतीय ज्ञानविज्ञान की लालसा से ही भारत की संकीर्ण वीथियों में भी संसार के कोने-कोने से आगत विदेशी ज्ञानपिपासु सज्जन यत्र-तत्र घूमते नजर आते हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि हमारा प्राचीन भारतीय ज्ञानगौरव दुर्लभ एवं विलक्षण है।

यहाँ उदाहरण के रूप में हम वास्तुशास्त्र को देख सकते हैं। वास्तुशास्त्र का समस्त ज्ञान दिव्यदर्शी भारतीय ऋषियों का तपःफल ही है। भारतीय वास्तुशास्त्र का स्पष्ट निर्देश है कि सुखमयजीवन कामना से भूमिचयन से लेकर गृहप्रवेश पर्यन्त सभी वास्तु सम्बन्धी कार्य वास्तुशास्त्र के अनुसार वास्तुविशेषज्ञ के निर्देशन में सम्पादित करने चाहिये। जैसा कि कहा भी है–

आदौ भूमिपरीक्षणं शुभदिने पश्चाच्च वास्त्वर्चनं।
भूमेः शोधनकं ततोऽपि विधिवत् पाषाणतोयान्तकम्।

पश्चाद् वेश्मसुरालयादिरचनार्थं पादसंस्थापनं।
कार्यं लग्नशशाङ्कशाकुनबलैः श्रेष्ठे दिने धीमता।।[1]

वास्तुरत्नाकर में भी इसी प्रकार कहते हैं–

ग्रामादेरनुकूलत्वं दिशो भूतग्रहस्य च।
गृहधिष्ण्यादिकं शुद्धं वीक्ष्यायव्ययमंशकान्।।
सुगेहं रचयेद्धीमान् वास्तुशास्त्रानुसारतः।।[2]

इस तरह के अखिल प्रयोजनीय भवन निर्माणादि कार्य कल्याण की कामना से सर्वदा सर्वत्र नहीं किये जा सकते। यहाँ ग्रामचयन, भूमिचयन, विहितकाल ज्ञान, देवार्चन इत्यादि समग्र कार्य

---

1. वास्तुराजवल्लभः 11,14
2. वास्तुरत्नाकरः, 1.11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शास्त्र के अनुसार किये जायँ ऐसा वास्तुशास्त्र का आदेश है। इसमें ग्रामचयनादि सभी विषय इस लघुकाय शोधपत्र में नहीं लिखे जा सकते, किन्तु केवल "**भूमिपरीक्षण**" के विषय में बुध जनतोषाय कुछ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ।

वास्तुचयनक्रम में सर्वप्रथम भूमिपरीक्षण करना चाहिये ऐसा शास्त्र का आदेश है। यथा मत्स्यपुराण कहता है[3]– **पूर्वं भूमिं परीक्षेत पश्चाद् वास्तुं प्रकल्पयेत्॥**

भारतीय मनीषियों के द्वारा भूमिपरीक्षण के अनेक प्रकार कहे गये हैं। यथा– 1. गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ आदि के आधार पर भूमिपरीक्षण, 2. आकृति के आधार पर भूमिपरीक्षण, 3. द्विजातिवर्ण के आधार पर भूमिपरीक्षण, उर्वरकशक्ति के आधार पर भूमिपरीक्षण, 5. शल्याशल्यविचाराद्वारा भूमिपरीक्षण, खननविधि द्वारा भूमिपरीक्षणम्, 7. श्वेतादिवर्ण के आधार पर भूमिपरीक्षण, 8. विविध शकुन के आधार पर भूमिपरीक्षण। इस तरह वास्तुशास्त्र में भूमिपरीक्षण के अनेकों प्रकार कहे गये हैं, जिन सभी का यहाँ विवेचन सम्भव नहीं है। स्थाली पुलाक न्याय से कुछ प्रकार संक्षेप में यहाँ विवेचित किये जा रहे हैं।

1. गजकूर्मपृष्ठादि लक्षण से भूमिपरीक्षण–

गजपृष्ठादि भेद से भूमि चार प्रकार की कही गई है–गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, दैत्यपृष्ठ तथा नागपृष्ठ। लक्षण एवं फल वास्तुरत्नावली में इस प्रकार उल्लिखित है।[4] यथा–

गजपृष्ठ भूमि लक्षण–

दक्षिणे पश्चिमे चैव नैर्ऋतौ वायुकोणके।
एभिरुच्चा भवेद् भूमिः गजपृष्ठाभिधीयते॥

फल–

गजपृष्ठे भवेद् वासः स लक्ष्मीधनपूरितः।
आयुर्वृद्धिकरो नित्यं जायते नात्र संशयः॥

कूर्मपृष्ठ भूमि लक्षण–

मध्ये तूच्चं भवेद्यत्र नीचं चैव चतुर्दिशम्।
कूर्मपृष्ठा भवेद् भूमिस्तत्र वासः शुभप्रदः॥

फल–

कूर्मपृष्ठे भवेद् वासो नित्योत्साहसुखप्रदः।

3. मत्स्यपुरणम्, अ. 255 श्लो. 11 (पूर्वार्ध)
4. वास्तुरत्नावली, भूपरिग्रहाध्यायः, पृ. 17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

धनधान्य भवेत्तस्य निश्चितं विपुलं सदा॥
पूर्वोत्तरे लवं लक्ष्मीरीशाने च शुभप्रदम्॥

दैत्यपृष्ठ भूमि लक्षण–

पूर्वाग्निशम्भुकोणेषु भूमौ यद्युन्नतिर्भवेत्।
पश्चिमे च यदा नीचं दैत्यपृष्ठाभिधीयते॥

फल–

दैत्यपृष्ठ भवेद् वासो नक्ष्मीर्नायाति मन्दिरे।
धनपुत्रपशूनां च हानिरेव न संशयः॥ इति॥

नागपृष्ठ भूमि लक्षण–

पूर्वपश्चिमयोर्दैर्घ्यं दक्षिणोत्तर उच्चता।
नागपृष्ठं विजानीयात् कर्तुरुच्चाटनं भवेत्॥

फल–

नागपृष्ठे सदा वासो मृत्युरेव न संशयः।
पत्नीहानिः पुत्रहानिः शत्रुवृद्धिः पदे पदे॥

इस प्रकार इन चारों प्रकार के भूमि लक्षण से स्पष्ट है कि गजपृष्ठभूमि तथा कूर्मपृष्ठभूमि वासयोग्य भूमि है, किन्तु दैत्यपृष्ठभूमि तथा नागपृष्ठभूमि वास के लिये उपयुक्त नहीं है। यही विषय प्रकारान्तर से वास्तुशास्त्र में अष्टदिक्प्लवविचार के रूप में भी निर्दिष्ट है। यथा[5]–

श्रियं दाहं तथा मृत्यु धनहानिं सुतक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च।
विदधात्यचिरेणैव पूर्वादिप्लवता मही॥

वस्तुतः प्राच्य आचार्यों का गजपृष्ठादि लक्षण विषयक चिन्तन अथवा प्लवविषयक चिन्तन व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक है क्योकि पूर्व, उत्तर, एवं ईशान कोण में ढलुआ भूमि में वास करने से जीवन सुख-समृद्धि एवं शान्तिमय होता है जो अनेकशः प्रत्यक्ष अनुभव भी किया जाता है।

2. आकृति द्वारा भूमि परीक्षण–

आयताकार, वर्गाकार आदि भेद से भी भूमि परीक्षण करना चाहिये ऐसा वास्तुशास्त्र का निर्देश है क्योंकि वास्तुशास्त्र में आयत, वर्गाकार आदि विविध आकृतियों के अनुसार भूमि के

5. वास्तुरत्नावली, पृ. 14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अनेक तरह के फल बतलाये गये हैं। यथा–

आयतेः सिद्धयः सर्वाश्चतुरश्रे धनागमः।
वृत्ते तु बुद्धिवृद्धिः स्याद्भद्रं भद्रासने भवेत्॥
चक्रे दारिद्रयमित्याहुर्विषमे शोकलक्षणम्।
राजभीतिस्त्रिकोणे तु शकटे तु धनक्षयः॥
दण्डे पशुक्षयं प्राहुः सूर्पे वासे गवां क्षयः।
कूर्मे तु बन्धनं पीडा धनुःक्षेत्रे भग्ने महत्॥
कुम्भाकारे कुष्ठरोगो भवत्येव न संशयः।
पवने नश्यति नेत्रं च मुरजे बन्धुविनाशनम्॥[6]

3. द्विजादिवर्ण द्वारा भूमिपरीक्षण–

जिस तरह समाज में चार वर्ण होते हैं उसी तरह भूमि के भी चार वर्ण कहे गये हैं। यहाँ भूमि के ब्रह्मणादि वर्णों का निर्णय शुक्ल रक्त, आदि रंग के आधार पर, कुशोपेतादि भूमि के आधार पर, मधुर, कटु आदि रसभेद के आधार पर, तथा घृत आदि गन्धभेद से, इन चार विधाओं से किया गया है।

शुक्ल, रक्त आदि भेद से भूमि का वर्ण निर्णय किया गया है– यहाँ वास्तुप्रदीप का वचन द्रष्टव्य है–

शुक्लमृत्स्ना च या भूमिर्ब्राह्मणी सा प्रकीर्तिता।
क्षत्रिया रक्तमृत्स्ना च हरिद् वैश्या प्रकीर्तिता॥
कृष्ण भूमिर्भवेच्छूद्रा चतुर्धा परिकीर्तिता॥[7]

इसका फल इस प्रकार कहा गया है–

श्वेता शस्ता द्विजेन्द्राणां रक्ता भूमिर्महीभृताम्।
विशां पीता च वैश्यानां कृष्णा शूद्राय शस्यते॥[8]

यहाँ आशय स्पष्ट है कि, ब्राह्मणवर्ण के लिये ब्राह्मणवर्ण की भूमि प्रशस्त है। इसी तरह क्षत्रियवर्ण के लिये क्षत्रियवर्ण की भूमि, वैश्यवर्ण के लिये वैश्यवर्ण की भूमि तथा शूद्रवर्ण के लिये शूद्रवर्ण की भूमि प्रशस्त है।

---

6. वास्तुसारसंग्रहः, 3.14–17
7. वास्तुरत्नावली, पृ. 15
8. वास्तुसारसंग्रहः 34

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुशोपेतादि भेद से भूमि वर्णनिर्णय, यथा–

ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया शरसंकला।
कुशकाशाऽऽकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला।।[9]

मधुर, कटुक रसभेद से भूमि का वर्णनिर्णय तथा उनके फल आचार्य नारद के अनुसार दिये गये हैं, यथा–

मधुरः कटुकस्तिक्तः कषायश्च रसाः क्रमात्।
विप्रक्षत्रियवैश्यानां शूद्रस्य च शुभप्रदः।।[10]

घृतादिगन्ध भेद से भूमि का वर्णनिर्णय तथा उनके फल। यथा–

घृतासृगन्धमद्यानां गन्धाश्च क्रमशः शुभाः।
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रजातीनां वास्तुभूमिषु।।[11]

यहाँ ध्यातव्य है कि द्विजातिवर्णों के लिये समानवर्ण की भूमि प्रशस्त होती है। यहाँ उपर्युक्त सभी लक्षणों का सामूहिक विवेचन करते हुये आचार्य गर्ग कहते हैं–

मधुरा दर्भसंयुक्त घृतगन्धा च या मही।
उत्तरप्रवणा ज्ञेया ब्राह्मणानां च सा शुभा।।

रक्तगन्धा कषाया च शरवीरेण संयुता।
रक्ता प्रक्प्रवणा ज्ञेया क्षत्रियाणां च सा मही।।

दक्षिणप्रवणा भूमिर्याऽम्ला दूर्वाभिरन्विता।
अन्नगन्धा च वैश्यानां पीतवर्णा प्रशस्यते।।

पश्चिमप्रवणा कृष्णा विकुण्ठा काशसंयुता।
मद्यगन्धा मही धन्या शूद्राणां कटुका तथा।।[12]

4. उर्वरकशक्ति के अनुसार भूमिपरीक्षण–

भारतीय प्राच्यचिन्तकों का कहना है कि वास्तुभूमि का शुभाशुभत्व उसकी उर्वरकशक्ति से भी जाना जा सकता है। अर्थात् जो भूमि प्रशस्त औषधि, द्रुम, लता आदि से युक्त होती है वह जीवित भूमि होती है। जीवित भूमि वास के लिये उपयुक्त होती है। यथा–

9. वास्तुसारसंग्रहः, 34
10. वास्तुरत्नावली, पृ. 13
11. वास्तुरत्नावली, पृ. 14
12. वास्तुरत्नाकरः, 1.44-47, (बृहत्संहिता, पृ. 590)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति शस्यं हर्षात् प्रवर्धते।
सा भूमिर्जीविता ज्ञेया मृता वाच्यान्यथा बुधैः॥[13]

यहाँ वराहमिहिर भी इसी तरह कहते हैं। यथा–

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु॥[14]

वस्तुतः प्रशस्त औषधि, द्रुम, लता, आदि शुभलक्षणक्षित भूमि के दर्शनमात्र से मन स्वाभाविक रूप से प्रसन्न हो जाता है। अतः जिस भूमि के दर्शनमात्र से नैसर्गिक आनन्दानुभूमि होवे वह भूमि वास के योग्य होती है, ऐसा हमारे भारतीय ऋषियों का आशय है। वास्तुशास्त्र में कहा भी गया है–

मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरितिगर्गादिसम्मतम्॥[15]

इस तरह त्याज्य भूमि का लक्षण बतलाते हुए वास्तुप्रदीप में लिखते हैं–

स्फुटिता च सशल्या च वल्मीकाऽऽरोहिणी तथा।
दूरतः परिवर्ज्येयं कर्तुरायुर्धनापहा॥

स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी।
सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुवर्धिनी॥[16]

5. शल्याशल्य द्वारा भूमि परीक्षण–

वास्तु भूमि परीक्षण क्रम में शल्याशल्यविचार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्लव आकृति तथा उर्वरकशक्ति की दृष्टि से उत्कृष्ट रहने पर भी शल्ययुक्त भूमि धन-जन को नाश करने वाली होती है। अतः वासभूमि में शल्याशल्य का विचार आवश्यक होता है। शल्ययुक्त भूमि में शल्योद्धार करने पर भूमि निर्दुष्ट हो जाती है। यही कारण है कि भारतीय वास्तुशास्त्र में प्राच्य आचार्यों ने शल्योद्धारविचार प्राथमिकता से किया है।

प्राच्यों की वस्तुतः भूमि में शल्यज्ञान की विधि एक विलक्षण है क्योंकि प्रष्टा के मुख से उच्चारित शब्द के माध्यम से शल्यज्ञान की विधि निर्दिष्ट है। वस्तुतः शल्यज्ञान की यह अनोखी विधि निश्चय ही एक विलक्षण है। जैसा ज्योतिर्निबन्ध में कहा गया है कि–

13. वास्तुरत्नाकर, 1, 83
14. बृहत्संहिता, 52, 86
15. वास्तुसारसंग्रह, पृ. 18
16. वास्तुरत्नावली, पृ. 16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्मृत्वेष्टदेवतां प्रश्नवचनस्यामक्षरम्।
गृहीत्वा तु ततः शल्याशल्यं सम्यग् विचार्यते॥

अ क च ट त प य श हपयाः पूर्वादिमध्यान्ताः।
शल्यकरा इह नान्ये शल्यगृहे निवसतान्नाशः॥[17]

प्रश्नकर्ता (भूमिपति) के मुख से यदि अ क च ट त प य श इन वर्गाक्षरों में से कोई एक अक्षर जो प्रश्न का आद्यअक्षर हो, उसके वर्गाक्षर के दिशानुरूप भूमि की निर्दिष्ट दिशा में शल्य है ऐसा समझना चाहिए। यहाँ आशय यह है कि, अभीष्ट वासभूमि को अधोनिर्दिष्ट चक्र के अनुसार दक्षिणोत्तर दो दो रेखाओं से समान रूप से नौ भागों में विभक्त कर वर्गों के आद्यक्षर अ क च ट त प य श इन आठ अक्षरों के अनुसार क्रम से पूर्व आदि आठों दिशाओं में शल्य कहना चाहिये। यथा शल्यचक्र द्रष्टव्य है–

पूर्व

	श	अ	क	
उत्तर	य	ह	च	दक्षिण
	प	त	ट	

पश्चिम

अर्थात् अ प्रश्नाद्यक्षर होने पर पूर्व भाग में शल्य होता है। क प्रश्नाद्यक्षर होने पर अग्निकोण में शल्य होता है। च प्रश्नाद्यक्षर हो होने पर दक्षिण भाग में शल्य होता है। ट प्रश्नाद्यक्षर होने पर नैर्ऋत्यकोण में शल्य होता है। त प्रश्नाद्यक्षर होने पर पश्चिम भाग में शल्य होता है। प प्रश्नाद्यक्षर होने पर वायुकोण में शल्य होता है। य प्रश्नाद्यक्षर होने पर उत्तर भाग में शल्य होता है। श प्रश्नाद्यक्षर होने पर ईशानकोण में शल्य होता है। तथा ह प्रश्नाद्यक्षर होने पर मध्य भाग में शल्य होता है।

इस तरह भूमि में शल्य है या नहीं है इसका परिज्ञान तो उपर्युक्त वचन से तो हो जाता है किन्तु वह शल्य किसका है, कितने नीचे भूमि में है, तथा उसका फल क्या होगा, इन सभी वस्तुओं का परिज्ञान वहीं पर विस्तारपूर्वक इस प्रकार लिखते हैं–

पृच्छायां यदि अः प्राच्यां नरशल्यं तदा भवेत्।
सार्द्धहस्तप्रमाणेन तच्च मानुष्यमृत्युकृत्॥

17. वास्तुरत्नावली, पृ. 21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आग्नेय्यां यदि कः प्रश्ने खरशल्यं करद्वये।
राजदण्डो भवेत्तत्र भयन्नैव निवर्तते॥

याम्यायां दिशि चः प्रश्ने कुर्य्यादाकटिसंस्थितम्।
नरशल्यङ्गृहेशस्य मरणं चिररोगतः॥

नैर्ऋत्यां य दि टः प्रश्ने सार्द्धहस्तासदधस्तले।
शुनोऽस्थि जायते तच्च बालनं जनयेन्मृतिम्॥

तः प्रश्ने पश्चिमायान्तु शिशोः शल्यं प्रजायते।
सार्द्धहस्तामिते तत्र स्वामिनं नेच्छति ध्रुवम्॥

वायव्यां यदि पः प्रश्ने तुषाङ्गारांश्चतुष्करे।
कुर्वन्ति मित्रनाशं च दुःस्वप्नदर्शनन्तथा॥

उदीच्यां यदि यः प्रश्ने तदा शल्यं कटेरधः।
तदरं निर्द्धनत्वाय कुबेरसदृशस्य हि॥

ऐशान्यां यदि शः प्रश्ने गोशल्यं सार्द्धहस्ततः।
हपया मध्यमे कोष्ठे वक्षोमात्रे भवेदधः॥
नृकपालं कचा भस्म लोहं तत्कुलनाशनम्॥[18]

इस प्रकार उपर्युक्त विधि से अथवा अन्य जिस किसी भी विधि से हो भूमि को शल्यरहित करके वास्तु के लिये भूमि चयन करना चाहिये।

6. खाताविधि द्वारा भूमिपरीक्षण–

शल्योद्धार के द्वारा भूमि को शुद्ध करके तदनन्तर खाताविधि के द्वारा भूमि का परीक्षण करना चाहिये। खाताविधि के द्वारा भूमिपरीक्षण क्रम में शास्त्रकारों ने कई प्रकार से भूमि परीक्षण की विधियों को बतलाया है। यथा **(1) खात से जलभरकर, (2) खात में मिट्टी भरकर, (3) खात में दीप प्रयोग तथा (4) खात में पुष्प प्रयोग के द्वारा।**

(1) खात में जलभर कर भूमिपरीक्षण–

परीक्षणीय भूमि में एक हस्त परिमित खात खननकर सायं के समय उस खात को जलपूरित कर देवे। उसके बाद प्रातःकाल उस खात में जल की स्थिति को देखकर शुभाशुभ फल का विचार करे। उस खात में जल के विद्यमान रहने पर धनादि की वृद्धि होती है, खात के पङ्काक्रान्त होने पर मध्यम फल तथा खात में दरार (फटी भूमि) उपलब्ध होने पर नाश होता है।

18. वास्तुरत्नावली, पृ. 22 एवं वास्तुसारसंग्रहः, पृ. 40

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हस्तमात्रं खनेत्खातं निशादौ जलपूरितम्।
प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिस्समः पङ्के व्रणे क्षयः॥[19]

इस सन्दर्भ में प्रायः नारायण भट्ट इसी प्रकार कहते हैं–

श्वभ्रं हस्तमितं खनेदिह जलं पूर्णं निशास्ये न्यसेत्।
प्रातर्दृष्टजलं स्थलं सदजलं मध्यं त्वसत्फाटितम्॥[20]

(2) खात में मिट्टी भरकर भूमिपरीक्षण–

या यस्य राशिता भूमेर्भवेत्तु गृहकर्मणि।
तस्यां श्वभ्रं खनेन्मध्ये हस्तमात्रं समन्ततः॥

तच्छ्वभ्रं पूरयेत्तेन पांशुना सुविचक्षणः।
वर्द्धमाने च वृद्धिः स्याद्धीयमाने विगर्हिता॥
साम्ये साम्यं विनिर्दिष्टमथवान्यद् विचारणम्।[21]

इस सन्दर्भ में मत्स्य पुराण में भी ऐसा ही कहा गया है–

रत्निमात्रमधो गर्ते परीक्ष्यं खातपूरणे।
अधिके श्रियमाप्नोति न्यूने हानिं समे समम्॥[22]

इसी तरह वास्तुराजवल्लभ में भी कहा गया है–

खातं भूमि परीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा।
हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवर्द्धने॥[23]

(3) खात में दीपप्रयोग द्वारा भूमिपरीक्षण–

आमे वा मृन्मये पात्रे दीपवर्तिचतुष्टयम्।
यस्यां दिशि प्रज्ज्वलितं चिरं तस्यैव सा शुभा॥[24]

---

19. वास्तुरत्नावली, 27
20. तत्रैव
21. गर्गाचार्य का कथन, उद्धृत–वास्तुरत्नावली, पृ.. 28
22. मत्स्यपुराणम्, अ. 250, श्लो. 16 उत्त.-17 पूर्वा.
23. वास्तुरत्नावली, पृ. 29
24. गर्गाचार्य का कथन, उद्धृत–वास्तुरत्नावली, पृ. 28

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मत्स्य पुराण में भी ऐसा ही कहा गया है–

अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वानुलिप्ते च सर्वशः।
घृतमामशरावस्थं कृत्वा वर्तिचतुष्टयम्॥

ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थं तत्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।
दीप्तौ पूर्वादि गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः॥
शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च॥[25]

(4) खात में पुष्पप्रयोग द्वारा भूमिपरीक्षण–

तस्मिन् वा धारयेच्छ्वभ्रे चित्रं माल्यमनुक्रमात्।
यच्चिरान्म्लायते माल्यं तद्वर्णं तत्र चावसेत्॥[26]

इसी तरह बृहत्संहिता में भी कहा गया है–

श्वभ्रोषितं न कुसुमं यस्य प्रम्लायतेऽनुवर्णसमम्॥
तत्तस्य भवति शुभदं यस्य च यस्मिन् मनो रमते॥[27]

यहाँ आशय यह है कि, ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण वर्णों से चिह्नित एकजातीय पुष्प को रात्रि में खातजल में रख देवे। दूसरे दिन जिस वर्ण का पुष्प नहीं सूखता हो, वह उस वर्ण के लिये शुभदायक होता है। अथवा जिस वर्ण का जिस भूभाग में मन प्रसन्न हो जाय वह भूमि उसके लिये शुभ कहना चाहिये। अब प्रसंगवश वास्तुभूमि में खात कहाँ खने, इसे रामाचार्य इस प्रकार लिखते हैं–

देवालये गेहविधौ जलाशये राहोर्मुखं शम्भुदिशो विलोमतः।
मीनार्कसिंहार्कमृगार्कतस्त्रिभे खाते मुखात् पृष्ठविदिक्छुभा भवेत्॥[28]

देवालयारम्भ में मीन, मेष एवं वृष राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख ईशानकोण मे होता है। मिथुन, कर्क एवं सिंह राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख वायव्य कोण में, कन्या, तुला एवं वृश्चिक राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख नैर्ऋत्य कोण में तथा धनु, मकर एवं कुम्भ राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख आग्नेय कोण में होता है।

गृहारम्भ में सिंह, कन्या एवं तुला राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख ईशान कोण में, वृश्चिक, धनु एवं मकर राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख वायव्यकोण में, कुम्भ, मीन एवं

25. मत्स्यपुराणम्, अ. 258 श्लो. 13 उत्त.-16पूर्वा.
26. गर्गाचार्य का कथन, उद्धृत–बृहत्संहिता अ. 52, श्लो. 93 भट्टोत्पलविवृतौ।
27. बृहत्संहिता अ 52. श्लो. 93
28. मुहूर्त्तचिन्तामणि, 12.19

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मेष राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख नैर्ऋत्यकोण में तथा वृष, मिथुन एवं कर्क राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख आग्नेयकोण में होता है।

इस प्रकार जलाशयारम्भ में मकर, कुम्भ एवं मीन राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख ईशान में, मेष, वृष एवं मिथुन राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख वायव्य में, कर्क, सिंह एवं कन्या राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख नैर्ऋत्य में तथा तुला, वृश्चिक एवं धनु राशि में सूर्य के रहने पर राहु का मुख आग्नेय में होता है। शिलान्यास प्रसङ्ग में वराहमिहिर का वचन द्रष्टव्य है। यथा–

दक्षिणपूर्व कोणे कृत्वा पूजां शिला न्यसेत्प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्याः॥[29]

आग्नेय दिशा में गन्ध, धूप, वस्त्र, आदि उपहारों से पूजा करके सर्वप्रथम शिला की स्थापना करनी चाहिये। उसके बाद दक्षिण दिशा में उसके बाद नैर्ऋत्य में उसके बाद पश्चिम में उसके बाद वायव्य में उसके बाद उत्तर में, उसके बाद ईशान में, उसके बाद पूर्व में शिलान्यास करना चाहिये। इस प्रसंग में शार्ङ्धर भी इसी प्रकार कहते हैं। यथा–

प्रासादेषु च हर्म्येषु गृहेष्वन्येषु सर्वदा।
आग्नेय्यां प्रथमं स्तम्भं स्थापयेत्तद्विधानतः॥[30]

इससे स्पष्ट है कि शिलान्यास सर्वदा आग्नेय दिशा में ही करना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि "देवालये...." के द्वारा प्रतिपादित रामाचार्य का वचन खातप्रसङ्ग भूमिशोधन परक है न कि शिलान्यास परक है।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने खात करके अनेकों प्रकार से तो भूमिशोधन बतलाया है, इस सन्दर्भ में एक और भी विषय ध्यातव्य है जो भूमिपरीक्षण में महत्त्व रखता है। वह यह है कि खात खनने के समय पाषाण आदि का अवलोकन करना तथा विविध पदार्थों के मिलने पर उसके अलग-अलग फल कहे गये हैं। यहाँ उपलब्ध पदार्थों के आधार पर भी उस भूमि का परीक्षण होता है। जैसा वास्तुरत्नप्रदीप आचार्य में कहते हैं–

खाते शिलां वा लभते हिरण्ये तथेष्टिकां चापि समृद्धिरत्र।
द्रव्यं च रम्याणि सुखानि धत्ते ताम्रादिधातुर्यदि तत्र वृद्धिः॥

पिपीलिकाः षोडशपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्ता।
तुषास्थिवीर्याणि तथैव भस्मान्यमण्डानि सर्पा मरणप्रदाः स्युः॥

---

29. बृहत्संहिता, 52. 110
30. वास्तुरत्नावली, पृ. 76

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वराटिका दुःखकलिप्रदात्री कार्पास एवाति ददाति रोगम्।
काष्ठं प्रदग्धं यदि रोगभीतिर्भवेत्कलिः खर्परदर्शनेन॥
लौहेन कर्तुर्मरणं निगद्यं विचार्य वास्तु प्रदिशन्ति धीराः॥[31]

खात खनने के समय यदि पाषाणस्वर्णईंट आदि की प्राप्ति हो तो वासकर्ता के धन-धान्य एवं पुण्य आदि की वृद्धि होती है। यदि द्रव्य, राजमुद्रा मिले तो मनोनुकूल सुख का सूचक होता है। यदि खात में ताम्र आदि धातु मिले तो धन, पुत्र आदि की वृद्धि होती है। अगर खात में पिपीलिका, मण्डूक आदि होते हैं तो वहाँ वासकर्ता को नहीं वसना चाहिये। यदि खात में भूसी, हड्डी, चमड़ा, सर्प आदि मिले तो कर्ता का निधन होता है, तथा वहाँ कपर्दिका का दर्शन हो तो दारिद्रय होता है। इसी तरह कापास, दग्धकाष्ठ, अङ्गार का दर्शन हो तो रोगवृद्धि, खप्पर का दर्शन होने से कलह तथा लौहदर्शन से गृहस्वामी का मरण होता है।

अतः स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों के द्वारा प्रतिपादित वास्तुशास्त्र, उनके सुदीर्घ कालिक चिन्तन, मनन एवं अनुसन्धान का प्रतिफल है, जो निश्चय ही मानव के लिये प्रसादरूप है। इस प्रसादरूप वास्तुशास्त्र के अनुपालन से जीवन निश्चय ही प्रसादमय हो जाता है।

---

31. वास्तुरत्नावली, पृ. 31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तु सम्मत संवातन

डॉ. विनोद कुमार शर्मा

ऋषियों ने योग-साधना और तपस्या के बल पर **"यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"** तथा **"अणोरणीयान् महतो महीयान्"** जैसे सिद्धान्तों को आत्मसाक्षात्कार कर व्यष्टि और समष्टि के चिन्तनोपरान्त जीव और ब्रह्माण्ड के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पाँच तत्त्वों से निर्मित है। इन पाँच महाभूतों को उनकी तन्मात्राओं के द्वारा ही जाना जा सकता है। बिना तन्मात्राओं के पञ्चमहाभूतों को जानना सम्भव नहीं है। वे पाँच तत्त्व हैं–

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दस्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः।।[1]

इस सिद्धान्त के अनुसार अनन्त ब्रह्माण्ड में स्थित प्रत्येक चर-अचर, जड़-चेतन सभी इन्हीं पंचमहाभूतों से निर्मित हैं। अतः–**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा।।**[2] इसी बात को स्पष्ट करते हुए चरक संहिता में कहा भी गया है– **"सर्वद्रव्यं पाञ्चभौतिकम्"**[3] चिकित्साशास्त्र के अनुसार भी हमारा शरीर पञ्चमहाभूतों से बना है। यथा–**"पंचमहाभूत शरीरिसमवायः पुरुषः स्मृतः"।**[4] शरीर की स्वस्थ एवं आतुर अवस्थायें पञ्चभौतिक तत्त्वों पर ही आधारित होती है। वास्तुशास्त्र का मूल उद्देश्य पाञ्चमहाभूतों में संतुलन एवं सामंजस्य स्थापित करना है।

इन पाँच तत्त्वों में वायु तत्त्व सर्वाधिक उपयोगी है। समष्टि एवं व्यष्टि रूप में जीवन यापन की दृष्टि से वायु के कई भेद हैं– प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान। ये वायु में शरीर का संचालन करती हैं। यथोक्तम्–

प्राणोपानौ समानश्च व्यानश्चोदान एव च।
स्थानस्था मरुताः पंच यापयन्तिशरीरिणाम्।।[5]

---

1. चरक संहिता शारीरस्थान 1/26.
2. रामचरित मानस किष्किन्धा काण्ड 10/2
3. चरक संहिता सूत्रस्थान 26/26.
4. आयुर्वेदिक एक्यूपंचर, अ. 2 पृ. 7 डा. जे.पी. अग्रवाल
5. पदार्थ दर्शन, अ. 4 पृ. 118

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आयुर्वेदशास्त्र ने वायु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि शरीर के दोष, सप्त धातुएँ तथा मल क्रिया भी वायु पर आधारित है। यथोक्तम्–

पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवोमलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥[1]

शरीर में प्राण रूपी पञ्च वायु की स्थिति के सम्बन्ध में कहा गया है–

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥[2]

मानव मात्र के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक संतुलन के लिए भवन निर्माण के नियमों के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र सम्मत समुचित संवातन व्यवस्था का वैज्ञानिक विचार किया गया है। इस प्रसंग में भवन में खुली जगह, ब्रह्म-स्थान, आंगन, बरामदे, खिड़की-झरोखे, गवाक्ष, रोशनदान, द्वार, छत की ऊँचाई तथा गृह के आस-पास में अनेक प्रकार के पेड़-पौधे, वनस्पतियों आदि के नियमों को यह शास्त्र प्रतिपादित करता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि पाँच भौतिक तत्वों से बना शरीर, पाँच भौतिक वास्तु में रहते हुए अपनी नित्य नैमितिक क्रिया का सम्पादन करता है। यथोक्तम्–

मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ।
रविः संलीयते वायौ वायुर्नभसि लीयते।
पंचतत्त्वात् भवेद् सृष्टिः तत्त्वे तत्त्वं विलीयते॥

उपर्युक्त वास्तु सिद्धान्तों के आधार पर आज भीड़-भाड़ युक्त नगरों, गाँवों की तंग गलियों एवं घनी बस्तियों में मानव मात्र की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं को उन्नत एवं स्फूर्त करने हेतु पंचभौतिक तत्वों के साथ सामंजस्य स्थापित करने, गुरूत्व बल, चुम्बकीय बल विशेषकर सौर ऊर्जा जैसे प्राकृतिक बलों का उपयोग करने में **'द्वार'** संवातन के संसाधनों में सबसे सस्ता, सुन्दर एवं बड़ा प्राकृतिक साधन है क्योंकि आज की घनी बस्तियों में पर्याप्त एवं खुले स्थान के अभाव में संवातन हेतु, बरामदे, आंगन तथा ब्रह्म-स्थान आदि की व्यवस्था करना नामुमकिन है। अतः आज के सन्दर्भ में द्वार ही सूर्य की किरणों द्वारा सौर ऊर्जा के रूप में पराबैंगनी (Ultravoilet) किरणों, ऑक्सीजन आदि शुद्ध ताजी वायु एवं विटामिन डी आदि की प्राप्ति के उपयोग का सबसे बड़ा साधन है। पराबैंगनी किरणें शीतल होती हैं और इनमें सभी प्रकार के विषाणुओं को नष्ट करने की रासायनिक क्षमता होती है। विटामिन डी उचित शारीरिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान समिति ने सभी आयु वर्गों एवं अवस्थाओं के लिए विटामिन डी की

1. पदार्थ दर्शन, अ. 4 पृ. 110
2. पदार्थ दर्शन. अ. 4 पृ. 117

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

200 I.U. मात्रा प्रस्तावित की है। बच्चों, गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली स्त्रियों को इस विटामिन की अतिरिक्त आवश्यकता होती है। विटामिन डी एक सफेद रवेदार पदार्थ है जो वसा तथा विलेयों में घुलनशील है यह विटामिन रिकेटरोधी (Antiricket) विटामिन के नाम से भी जाना जाता है। विटामिन डी अपने पूर्वगामी रूप में भी मिलता है जो त्वचा में पाया जाता है यह पूर्वगामी 'Dehydrocholeserol' है जो सूर्य की अल्ट्रावायलट (Ultravoilet) किरणों द्वारा विटामिन डी में बदल जाता है। विटामिन डी की कमी होने पर बच्चों में रिकेट्स रोग, मांस-पेशियों में ढीलापन, अस्थिमृदुता, टेटनी आदि रोग होते हैं तथा शारीरिक वृद्धि एवं विकास भी उचित रूप में नहीं हो पाता है। विटामिन डी की अधिकता होने पर शरीर में कई विषैले प्रभाव दिखाई देते हैं जैसे–दिल मिचलाना, वमन होना, थकावट, सिर दर्द, कब्ज, ऊंघना आदि। यदि इसकी अधिकता बढ़ती जाय तो व्यक्ति को रक्तचाप की अधिकता हो जाती है, गुर्दे कार्य करना बन्द कर देते हैं, बड़ी रक्तवाहिकाओं में कैल्शियम जम जाता है तथा कई बार चेहरे को लकवा मार जाता है।[1]

अतः वैदिक काल से विशेषकर अथर्ववेद के उपवेद के रूप में स्थापत्य-वेद से लेकर आज तक प्रायशः सभी वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में इतने उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण संवातन के प्रमुख संसाधन के रूप में द्वारों के (प्रासाद, मण्डप, मन्दिर, यज्ञमण्डप, जैनमन्दिर द्वार आदि) विविध स्वरूपों की संरचना के बारे में अनेक शास्त्रीय नियम प्रतिपादित हैं। यदि हम वास्तुशास्त्रीय नियमों के अन्तर्गत द्वार व्यवस्था करते हैं तो जीवन में मानसिक एवं शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं स्फूर्त्त रहेंगे। परन्तु सम्बन्धित लेख में मेरा प्रतिपाद्य विषय वास्तु सम्मत द्वार आदि संसाधनों के द्वारा घर में संवातन की समुचित व्यवस्था करना है। अतः वास्तु सम्मत द्वार संरचना से पूर्व संवातन, बाहरी तथा भीतरी संवातन, संवातन प्रवेश मार्ग, पारागामी संवातन, तथा संवातन सिद्धान्तों आदि को आधुनिक दृष्टि से जान लेना आवश्यक है।

संवातन क्या है? संवाचन उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा किसी स्थान की वायु निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। घर के वायुमण्डल में उपस्थित गर्मी, नमी आदि को समाप्त करना अथवा उसे अनुकूल रखना ही संवातन है।[2]

संवातन के भेद[3]:–

संवातन मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। 1. प्राकृतिक (Natural) 2. यांत्रिक (Mechanical)।

प्राकृतिक संवातन– सामान्यतः प्राकृतिक संवातन की सुविधा सब निवास स्थलों में रखी जाती है परन्तु बड़े स्थानों में यथा सिनेमाघरों, चिकित्सालयों, सभा-भवनों आदि में प्राकृतिक

1. आधुनिक गृह विज्ञान, अ. 12 पृ. 72-73 श्रीमती सरिमा सिरोही
2. स्वस्थवृत्तम्, अ. 6, पृ. 106
3. स्वस्थवृत्तम् अ. 6, पृ. 106, 108

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

संवातन में असुविधा होती है, क्योंकि प्राकृतिक संवातन के अन्तर्गत वायु की गति, वायु के तापमान, वायु की आर्द्रता आदि पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। अतः यांत्रिक विधियाँ काम में लायी जाती हैं।

यान्त्रिक संवातन– यह संवातन चार प्रकार का होता है। 1. निर्वातक संवातन (Exhaust Ventilation) 2. प्लीनम संवातन (Plennum Ventilation) 3. संतुलित संवातन (Balanced) 4. वातानुकूलन (Air Coinditioning)।

बाहरी तथा भीतरी संवातन[1] :–

एक आदर्श संवातन व्यवसथा के अन्तर्गत बाहरी एवं भीतरी संवातन दोनों में एकरूपता होनी चाहिए। यदि भीतरी संवातन व्यवस्था आदर्श हो किन्तु बाहरी संवातन व्यवस्था दोषपूर्ण हो इसी प्रकार यदि बाहरी संवातन व्यवस्था सर्वथा उपयुक्त हो तथा भीतरी संवातन व्यवसथा में कोई दोष हो तो सर्वथा समुचित संवातन व्यवस्था भी प्रभावहीन हो जाती है। बाहरी संवातन व्यवस्था के अन्तर्गत नगर, कस्बा अथवा गाँव का सुनियोजित रूप से नियोजन तथा सफाई आदि की व्यवस्था आती है तथा भीतरी संवातन का सम्बन्ध किसी भी घर, स्कूल, विश्वविद्यालय, चिकित्सालय, सिनेमा आदि के समुचित संवातन से है।

संवातन का सिद्धान्त[2] :–

कमरे की वायु जब मनुष्य की श्वसन क्रिया द्वारा गर्म होती है तो वह संनयन प्रक्रिया से गर्म होकर फैलती है तथा हल्की होकर ऊपर की ओर उठती है जिससे स्थान रिक्त हो जाता है। इसे भरने के लिए बाहर से शीतल तथा ताजी हवा आती है। इस प्रक्रिया के पूर्ण होने के लिए कमरे में खिड़कियों, दरवाजों, रोशनदानों, झरोखों, चिमनियों आदि की उचित व्यवस्था नितांत आवश्यक है। संवातन का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि कमरे के वायुचक्र के पूरा होने के लिए अर्थात् वायु के आवागमन के लिए प्रयुक्त खिड़कियों, दरवाजों और रोशनदानों आदि का उचित स्थानों पर पर्याप्त संख्या में निर्धारण वास्तुशास्त्र के नियमों एवं सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिए।

संतोषजनक एवं श्रेष्ठ भीतरी संवातन के लिए आवश्यक[3] :–

आवास-गृहों के निर्माण के समय संवातन की व्यवस्था का सुचारु रूप से ध्यान रखना चाहिए। गृह का निर्माण नियोजित बस्तियों में इस प्रकार करना चाहिए जिससे घर के प्रत्येक भाग में वायु स्वतन्त्र रूप से संचरण कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि समीप के घरों की दीवारें आपस में न मिली हों तथा मकानों की ऊँचाई अधिक न हो। घर के अन्दर शुद्ध और ताजी हवा

1. गृहव्यवस्था एवं गृहकला, भा. 4, अ. 1, पृ. 8, डा. जी.पी.शौरी
2. गृहव्यवस्था एवं गृहकला, भा. 4, अ. 1, पृ. 11, डा. जी.पी.शौरी
3. गृहव्यवस्था एवं गृहकला, भा. 4, अ. 1, पृ. 5, डा. जी.पी.शौरी

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

बाहर से प्रवेश करती हो जिससे घर के प्रत्येक कमरे के अन्दर हवा का तापमान समुचित रहे। घर से दूषित गैसों, कीटाणुओं तथा धूल-कणों को यथाविधि हटाया जाये। कमरे की लम्बाई, चौड़ाई ज्यादा परन्तु समानुपातीय हो, तथा कमरे में रहने वाले सदस्यों की संख्या सीमित तथा आकार के अनुरूप हो। कमरे में ठोस वस्तुओं मेज-कुर्सी आदि की संख्या बहुत अधिक न हो, अधिक नमी तथा सीलन आदि न हो एवं वायु में स्थिर ऊष्मा की मात्रा अधिक न हो। कमरे में ईंधन और बिजली से प्रज्जवलित होने वाले यंत्रों एवं प्रकाश बत्तियों आदि की उचित एवं सीमित व्यवस्था हो, जिससे संवातन की उचित एवं श्रेष्ठ व्यवस्था की जा सके।

वायु प्रवेश मार्ग[2] :–

वैज्ञानिक दृष्टि से वायु हमारे जीवन के अस्तित्व के लिए परमावश्यक है। घर में वायु प्रवेश के लिए प्रयुक्त दरवाजे एवं खिड़कियों आदि की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए तथा उनकी स्थिति आमने-सामने हो ताकि पारगामी संवातन की सुन्दर व्यवस्था आवश्यक रूप से हो सके। आधुनिक गृह-व्यवस्था एवं गृह-कला के प्रसिद्ध चिन्तकों के अनुसार कमरे की सभी खिड़कियों एवं दरवाजों का क्षेत्रफल कमरे के क्षेत्रफल का कम से कम 1/5 भाग होना चाहिए। खिड़कियाँ कमरे के फर्श से लगभग एक मीटर की ऊँचाई पर व्यवस्थित करनी चहिए, जिससे जमीन या पलंग पर लेटे तथा बैठे हुए व्यक्ति का बाहर से आने वाली गर्म एवं ठण्डी हवाओं से बचाव हो सके। प्रायशः दरवाजों का निर्माण अधिकतर व्यक्तियों एवं वस्तुओं के आवागमन की सुविधा के लिए होता है, संवातन के लिए कम किन्तु इनका प्रयोग संवातन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

वायु प्रवेश और निर्गमन के साधन[2] :–

कमरे में वायु के प्रवेश-निर्गमन के रूप में खिड़कियाँ, दरवाजे, रोशनदान, झरोखे, चिमनी आदि प्रकृति से सीधे सम्बन्ध रखने वाले सस्ते एवं सुन्दर साधन हैं। परन्तु आज के घनी बस्तियों में बहुत बड़े-बड़े निर्मित बहुमंजिले मकानों में इन संसाधनों को स्थान एवं खुली दिशा के अभाव में बनाना सर्वथा असम्भव तो नहीं परन्तु कठिन तो है। इन संवातनों के निर्माण हेतु यदि घर की कोई खुली दिशा या पर्याप्त स्थान मिल भी जाये, तो हो सकता है कि वह दिशा एवं स्थान वास्तुशास्त्र के नियमों एवं सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध हो, परिणामस्वरूप शारीरिक (वात, पित्त एवं कफ) त्रिविधि दोषों तथा मानसिक (सत्व, रज एवं तम) त्रिविध गुणों के सम्यक् रूप से संतुलन के स्थान पर असंतुलन होने के कारण व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति बड़ी ही दुःखदायी, दयनीय एवं विचारणीय हो जायेगी। परन्तु आज के सन्दर्भ में वायु आवागमन के प्राकृतिक संसाधनों के निर्माण हेतु वास्तुशास्त्र सम्मत समुचित स्थान एवं दिशा के अभाव में

1. गृहव्यवस्था एवं गृहकला, भा. 4, अ. 1, पृ. 11
2. तत्रैव, भा. 4, अ. 1, पृ. 3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्वातक पंखा (Exhaust Fan), छत एवं दीवारों के सामान्य पंखे तथा वातानुकूलन (Air Conditioning) यांत्रिक संसाधनों द्वारा कृत्रिम संवातन की व्यवस्था हेतु निर्वात पद्धति (Vacuum System), प्लीनम पद्धति (Plennum System), मिली-जुली आदि विभिन्न पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। आज आधुनिक कृत्रिम यांत्रिक-संसाधनों की संरचना तथा उनके उपयोग एवं प्रयोग से बहुत ज्यादा भीड़-भाड़ युक्त घनी आबादी क्षेत्रों, शहरों की तंग एवं संकरी गलियों तथा घनी बस्तियों की वायु में दूषित तत्व भी सम्मिलित हो जाते हैं जो जीवन के लिए हानिकारक होते हैं।

हवा में उपस्थित हानिकारक तत्व[1]: –

(1) दहन प्रक्रिया तथा निःश्वास क्रिया द्वारा विसर्जित **कॉर्बनडाई-ऑक्साइड** गैस हवा में मिलकर इसे दूषित बनाती है। आज की सघन औद्योगिक बस्तियों में आवास की कमी के कारण लोगों को छोटी-छोटी तंग कोठरियों में रहने तथा खुले स्थानों एवं वृक्षों आदि के अभाव के कारण पर्याप्त ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं होती, विसर्जित कार्बनडाई-ऑक्साइड अवशोषित न होने पर मनुष्यों के स्वास्थ्य पर बहुत ही ज्यादा बुरा प्रभाव डालती है।

(2) स्थान भेद से वायु में **धूल-कणों** की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। हरे-भरे वृक्षों से परिपूर्ण मैदानों, घने पक्के नगरों, सुनियोजित पार्कों एवं मनोरंजन स्थानों की वायु में रेगिस्तान की वायु की अपेक्षा बहुत कम धूल-कण विद्यमान होते हैं। धूल-कण श्वास द्वारा आँख, नाक, कान और गले को संक्रमित कर अनेक प्रकार की बीमारियों को जन्म देते हैं।

(3) **कार्बन मोनोऑक्साइड** तथा **सल्फर डाईऑक्साइड** का धुआँ-रासायनिक औद्योगिक स्थानों पर विशेष रूप से यह धुआँ पाया जाता है। इससे विशेष प्रकार की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ उठ खड़ी होती है जिनका विशिष्ट निदान भी विशेष प्रकार का ही होता है।

(4) वायु में सदैव एक सीमित मात्रा में **जलवाष्प-कण** उपस्थित रहते हैं जो हानिकारक नहीं होते किन्तु इन वाष्प-कणों की अधिकता वायु में नमी को बढ़ा देती है, जिससे पसीना सूखना, शारीरिक तापमान को कम करने में उपस्थित बाधाओं आदि से अनेक शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(5) औद्योगिक एवं घनी बस्तियों की वायु में धुएँ के **कार्बन-धूल-कण** अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं जो श्वास-क्रिया के साथ फेफड़ों में चले जाते हैं और स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा प्रभाव डालते हैं। शीत प्रधान देशों में अधिक कोहरा पड़ने के कारण जब ये कार्बन-धूल-कण उससे मिल जाते हैं तो स्मॉग (Smog) उत्पन्न करते हैं परिणामस्वरूप स्वास्थ्य पर भयंकर दुष्प्रभाव पड़ता है।

---

1. गृहव्यवस्था एवं गृहकला, भा. 4, अ. 1, पृ. 3

CC-0.In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(6) वायुमण्डल करोड़ों जीवों का शरण-स्थल है, जैसे–**बैक्टीरिया** तथा **विषाणु** इत्यादि। इनमें से बहुत से जीवाणु निरापद अत्यंत ही हानिकारक होते हैं, जो टाइफाइड, राजयक्ष्मा, हैजा, निमोनिया, डेंगू तथा फ्लू इत्यादि भयंकर रोगों को जन्म देते हैं।

विकृत वायु–

कुपित होकर जब वायु तीव्र वेग से आंधी-तूफान के रूप में चलती है तो वह अपने झंझावात से कुछ भी अशुभ घटना घटित करने में सक्षम होती है। यहाँ तक कि यह वायु ऋतुओं के स्वभाव में परिवर्तन, भूमि-कम्पन, चारों युगों का अन्त करने वाले महाप्रलयकारी बादल, सूर्य, अग्नि आदि को उत्पन्न करने तथा भवनों आदि को तहस-नहस करने या उड़ाकर ले जाने में भी समर्थ होती है।

पारगामी संवातन[1]

परागामी संवातन (Cross Ventilation) अत्यन्त प्रभावकारी एवं स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होता है। ताजी व शुद्ध वायु के प्रवेश के लिए तथा गंदी वायु के निकास के लिए प्रयुक्त दरवाजे व खिड़कियाँ आदि को परस्पपर आमने-सामने की दीवार में स्थित होना चाहिए, तभी संवातन अच्छा होगा। पारगामी संवातन का अर्थ है– कमरे के समस्त क्षेत्र का कम से कम समय में वायु का पारगमन।

संवातन सम्बन्धी नयी विचारधारा[2] **:–**

पहले हवा में उपस्थित हानिकारक पदार्थों की विशेषकर कार्बन-डाइऑक्साइड की समस्या को संवातन की प्रमुख समस्या समझा जाता था किन्तु अब नये ज्ञान की उपलब्धि के कारण बदलते दृष्टिकोण में संघटक तत्वों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि वायु के तापमान, नमी, गति आदि भौतिक गुणों का समझा जाता है। हवा को इसके भौतिक गुण ही मुख्यतः स्वास्थ्य बनाते हैं।

अतः उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम निष्पक्ष एवं निःसन्देह रूप से कह सकते हैं कि द्वार केवल व्यक्तियों एवं वस्तुओं के आवागमन का साधन ही नहीं, अपितु भवन में रहने वाले व्यक्तियों के अच्छे स्वास्थ्य एवं सफलता का दरवाजा भी है। अतः इतने महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी संवातन के संसाधन की व्यवस्था किस दिशा के किस भाग में, कितने प्रमाण में, किस लकड़ी से निर्मित कर, किस शुभ मुहूर्त में करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भारतीय वास्तुशास्त्र में विविध विधियों का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपादित विधियों में से कुछ विधियों का उल्लेख इस लेख में उद्धृत है।

---

1. गृहव्यवस्था एवं गृहकला, भा. 4, अ. 1, पृ. 10
2. तत्रैव, भा. 4, अ. 1, पृ. 4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिशा ज्ञान की विधियाँ :–

1. ब्राह्मण (कर्क, वृश्चिक, मीन) संज्ञक राशियों के व्यक्तियों के लिए पूर्व दिशा में, क्षत्रिय (मेष, सिंह, धनु) संज्ञक राशि वाले जातकों के लिए उत्तर दिशा में, वैश्य (वृष, कन्या, मकर) संज्ञक राशि वाले लोगों के लिए दक्षिण दिशा में तथा शूद्र राशि (मिथुन, तुला, कुम्भ) वाले जातकों के लिए पश्चिम दिशा में द्वार स्थापन करना शुभ एवं प्रशस्त माना गया है। यथा–

पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे मतम्॥[1]

इसी बात को आचार्य राम दैवज्ञ ने निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है–

द्वारं द्विज–वैश्य–शूद्र–नृपराशीनां हितं पूर्वतः॥[2]

2. कर्क, मकर, सिंह तथा कुम्भ राशि के सूर्य में पूर्व व पश्चिम दिशा में तथा मेष, तुला, वृष, वृश्चिक राशिगत सूर्य में दक्षिण व उत्तर दिशा में द्वार प्रशस्त माना गया है इसके अतिरिक्त मिथुन, धनु व मीन राशि के सूर्य में गृहारम्भ व द्वार स्थापन करना निषिद्ध माना गया है। ऐसा करने पर दुर्बुद्धि–रोग–शोक की प्राप्ति व धन नाश होता है। अतः मिथुन, धनु व मीन राशि के सूर्य में गृहारम्भ और द्वार निर्माण नहीं करना चाहिए।[3]

3. सिंह राशि के सूर्य में पश्चिम, वृष राशिस्थ सूर्य में उत्तर, कुम्भ राशिस्थ सूर्य में पूर्व तथा वृश्चिक राशि के सूर्य में दक्षिण द्वार, मकर के सूर्य में पश्चिम, तुला में उत्तर, कर्क में पूर्व, मेष में दक्षिण द्वार शुभ है। इस प्रकार गृह-द्वार स्थापन करना शुभ और सुख-वर्द्धक होता है।[4]

4. पूर्व उत्तर और दक्षिण, पूर्व पश्चिम और उत्तर तथा दक्षिण पश्चिम और उत्तर इस प्रकार तीन प्रकार के त्रिद्वार प्रशस्त बताए गए हैं। यदि प्रासाद में दो द्वार बनाने हों तो पूर्व और पश्चिम दिशा में बनाना प्रशस्त है परन्तु उत्तर और दक्षिण दिशा में नहीं बनाने चाहिए, क्योंकि यहाँ द्वार बनाने से दोष होता है। यदि एक ही द्वार बनाना हो तो पूर्व दिशा में ही बनाएँ और चार द्वार बनाने हों तो चारों दिशाओं में बनाना प्रशस्त है।[5]

5. ध्वजादि आय के अनुसार भी द्वार संरचना की प्रशस्त दिशा का ज्ञान किया गया है। भूखण्ड की लम्बाई को चौड़ाई से गुणाकर आठ का भाग देने पर एकादि शेष होने पर ध्वज, धूम,

---

1. वृहद्वास्तु माला, गृहद्वारनिर्णय, श्लोक 149
2. वा.सा.सं. 16/1-2
3. उद्धृ. वा.सा.सं. 16/1-2
4. तत्रैव, 16/3-5
5. उद्धृ. प्रासादमण्डनम्, पृ. 152.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सिंह, श्वान, गौ, खर, गज एवं काक आय होती है[1] परन्तु इसमें भी निम्न आयों के अनुसार निर्धारित दिशा में द्वार बनाना शुभ होता है। यथा–

आय नाम	प्रशस्त द्वार दिशा
ध्वज	चारों दिशाएँ
सिंह	पूर्व, उत्तर, दक्षिण
गज	पूर्व, दक्षिण
वृष	पूर्व

6. जिस दिशा में राहु का मुख हो उस दिशा में गृह का द्वार रखने से सर्वविध कल्याण होता है।[2]

7. ब्राह्मणादि वर्णों एवं ध्वजादि आय के आधार पर भी प्रशस्त द्वार दिशा का ज्ञान करने का वास्तुशास्त्र में विधान है।[3] यथा–

आयनाम	वर्ण	प्रशस्तद्वार दिशा
ध्वज	ब्राह्मण	पश्चिम
सिंह	क्षत्रिय	उत्तर
वृष	वैश्य	पूर्व
गज	शूद्र	दक्षिण

8. प्रासाद का यदि एक द्वार रखना हो तो पूर्व दिशा में ही रखना चाहिए। यदि दो द्वार बनाने हों तो पूर्व-पश्चिम में बनवाएँ, तीन द्वार रखने हों तो द्वार के बीच में मुख्य द्वार बनायें परन्तु दक्षिणाभिमुख मुख्य द्वार नहीं रखना चाहिए। अर्थात् ऐसा द्वार नहीं बनायें जिसमें प्रवेश करते समय व्यक्ति का मुख उत्तर दिशा में रहे। यथोक्तम्–

एकद्वारं भवेत् पूर्वं द्विद्वारं पूर्वपश्चिमे।
त्रिद्वारं मध्यजं द्वारं दक्षिणास्यं विवर्जयेत्।।[4]

9. पूर्णिमा से कृष्ण पक्ष की अष्टमी तक यदि गृहारम्भ हो तो मकान का मुख द्वार पूर्व में नहीं बनाना चाहिए। कृष्ण पक्ष की नवमी से चतुर्दशी पर्यन्त उत्तर दिशा में, अमावस्या से शुक्ल

1. मुहूर्त्तचिन्तामणि, 12/52
2. वास्तुरत्नाकर–7/12–13
3. वृहद्वास्तुमाला, पृ. 12, श्लोक 51
4. प्रासादमण्डन 5/9

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पक्ष की अष्टमी पर्यन्त पश्चिम में तथा शुक्ल पक्ष की नवमी से शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी पर्यन्त दक्षिण द्वार नहीं बनाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कृष्ण पक्ष नवमी से शुक्ल पक्ष चतुर्दशी पर्यन्त पूर्व में द्वार बनायें, अमावस्या से शुक्ल पक्ष की अष्टमी पर्यन्त दक्षिण दिशा में द्वार बनाएँ और पूर्णिमा से शुक्लपक्ष की अष्टमी पर्यन्त उत्तर दिशा में द्वार बनाना चाहिए।[1]

10. सप्तशलाकाचक्र द्वारा द्वार संरचना हेतु दिशा का ज्ञान करने की व्यवस्था भी वास्तुशास्त्र आचार्यों ने दी है। इस चक्र में कृतिका से आश्लेषा तक सात नक्षत्र पूर्व दिशा में, मघा से विशाखा तक सात नक्षत्र दक्षिण दिशा में, अनुराधा से श्रवण तक सात नक्षत्र पश्चिम में, धनिष्ठा से भरणी तक सात नक्षत्र उत्तर दिशा में लिखे जाते हैं ग्राम–नगर, आदि में अपने–अपने नक्षत्र दिशाओं में घर बनाना श्रेष्ठ है। सम्मुखस्थ और पृष्ठस्थ नक्षत्रों में द्वार बनाना अशुभ तथा बाम और दक्षिण नक्षत्रों में शुभ होता है। यथा–

कृत्तिकायास्तु पूर्वादौ सप्तसप्तोदिताः क्रमात्।
यद्दिश्यं यस्य नक्षत्रं तत्र तस्य गृहं शुभम्।।[2]

सप्तशलाका चक्र

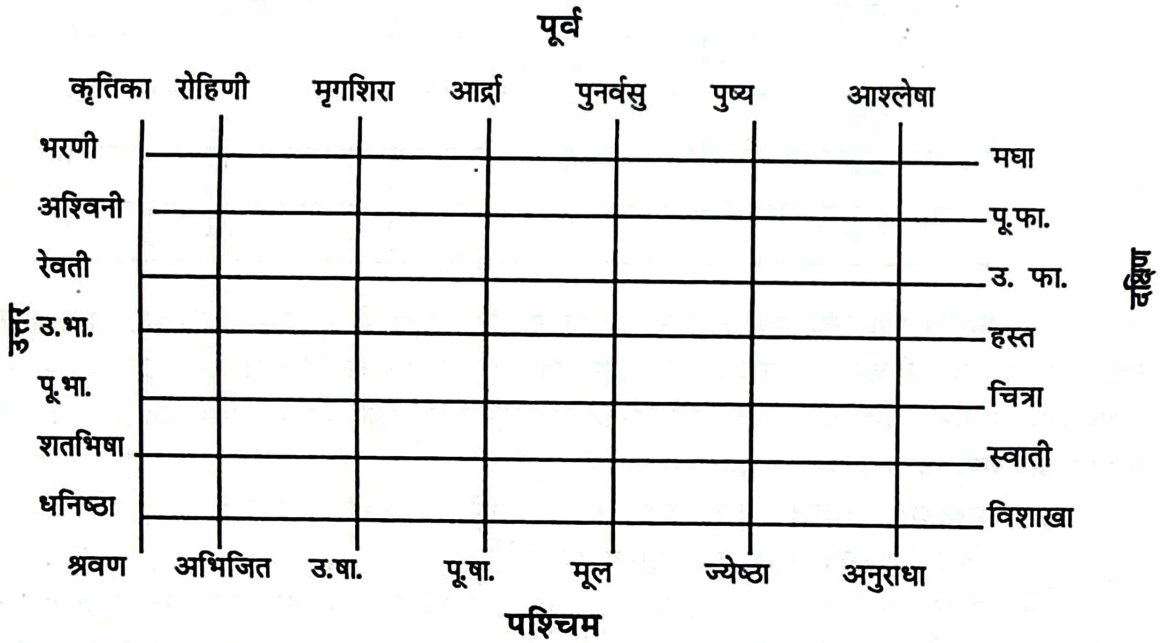

11. वास्तुशास्त्र मर्मज्ञों ने द्वारचक्र द्वारा भी प्रशस्त द्वार दिशा ज्ञान की विधि बतलाई है। द्वारचक्र में सूर्य नक्षत्र से आरम्भ कर चार नक्षत्र द्वार के ऊपर दो नक्षत्र कोणों में, दो नक्षत्र द्वार

1. वास्तुरत्नाकर, 8/15-16
2. वास्तुसारसंग्रह, 16/8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की शाखाओं में, तीन नक्षत्र द्वार के अधोभाग में तथा चार नक्षत्र मध्यभाग में स्थापित किये जाते हैं। ऊर्ध्वनक्षत्रों में द्वार निर्माण से राज्य, कोण नक्षत्रों में उद्वासन, शाखा नक्षत्रों में लक्ष्मी प्राप्ति, ध्वज नक्षत्रों में मृत्यु और मध्य नक्षत्रों में द्वार निर्माण करने से सुख की प्राप्ति होती है।[1]

प्रशस्त द्वार दिशा में शुभ स्थान निर्धारण की विधियाँ :–

1. गृहकर्ता के हाथ से लम्बाई-चौड़ाई के योग में नौ का भाग देकर लब्धि तुल्य नौ खण्ड बनाएँ। यदि पूर्व दिशा में द्वार बनाना अभीष्ट हो तो बाँई ओर के दो खण्ड छोड़कर तीसरे या चौथे खण्ड में द्वार बनाना प्रशस्त है। दक्षिणाभिमुख द्वार बनाना हो तो चौथे-पाँचवें खण्ड में, उत्तर दिशा के चौथे या पाँचवें खण्ड में द्वार बनाना शुभ होता है। सभी दिशाओं के चौथे खण्ड में द्वार-स्थापन शुभ है। द्वार की ऊँचाई दो खण्डों के बराबर होनी चाहिए।[2]

2. गृहवास्तु में एकाशीति पद वास्तु से द्वार स्थान का विचार करने का विधान भी है। चौसठ पद वास्तु से धार्मिक वास्तु के द्वार कर निर्णय करना चाहिए। परन्तु गृहद्वार के लिए बाहरी

पूर्व

	दिति/शिखी	पर्जन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	आकाश/अनिल	
	अदिति							पूषा	
	भुजग							वितथ	
	सोम							गृहक्षत	
उ.	भल्लाट							यम	द.
	मुख्य							गन्धर्व	
	नाग							भृंगराज	
	रोग/पापयक्ष्मा	शोष	असुर	वरुण	पुष्प दन्त	सुग्रीव	दौवारिक	पितृ/मृग	

पश्चिम

32 देवताओं के भाग का ही प्रयोजन करते हैं। यह चौसठ पद वास्तु के अनुसार ही होता है।

उपरोक्त प्रकोष्ठ में जिन देवताओं के पद स्थान में द्वार बनाना चाहिए उन देवताओं के नामों को बड़े एवं मोटे अक्षरों में लिखा गया है। अर्थात् द्वार दिशा निर्धारण के आधार पर जिस

1. विश्वकर्माप्रकाश 7/29-32
2. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 92, श्लो. 152.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिशा में द्वार बनाना प्रशस्त हो उस दिशा की दीवार को बराबर आठ या नौ भागों में बाँट लें। पूर्व दिशा में जयन्त और इन्द्र देवताओं के स्थान पर, दक्षिण दिशा में वितथ और गृहक्षत के स्थान पर, पश्चिम दिशा में पुष्पदन्त और वरुण के स्थान पर तथा उत्तर में सोम और भल्लाट के स्थान पर द्वार बनाना प्रशस्त है। यथोक्तम्--

अष्टांशे च नवांशके च वितथे तोये जयेन्द्रे हितं।
द्वारं सौम्यगृहक्षते च कुसुमे भल्लाटके शस्यते।।[1]

ऊपर लिखे– 3. द्वार निर्धारण दिशा की दीवार के नौ भाग कर दक्षिण के पाँच भाग तथा उत्तर के तीन भाग छोड़ार शेष भाग में अर्थात् दायीं ओर से छठे भाग में तथा बाँयीं ओर से चौथे भाग में द्वार स्थापन करना चाहिए। यथोक्तम्–

नवभागं गृहं कृत्वा पञ्चभागं तु दक्षिणे। त्रिभागमुत्तरे कार्यं शेषं द्वारं प्रकीर्तितम्।।[2]

यहाँ दक्षिण से दाहिना तथा उत्तर से बाम भाग समझना चाहिए। दाहिने तथा बाम भाग का विचार के सम्बन्ध में कहा गया है– घर से बाहर निकलते समय गृह का जो भाग दाहिने है वह दक्षिण तथा जो भाग बाएँ हाथ में पड़ता है वह उत्तर होता है। यथोक्तम्–

मन्दिरान्निःसृतो यदि भूयाद् भागे यो दक्षिणे।
स भागो दक्षिणः प्रोक्तो वामे भूयात् स वामकः।।[3]

4. पूर्वादि दिशाओं के बामक्रम से एकाशीति पद वास्तु में नव-नव भागों में पूर्व दिशा के तृतीय-चतुर्थ, दक्षिण के चतुर्थ, पचिम और उत्तर के तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भागों में मुख्य द्वार स्थापन करना चाहिए क्योंकि ऐसे स्थान में स्थित द्वार धन-धान्य व संतति वृद्धिकारक होता है। मध्यभाग में द्वार लगाने से कुल का नाश होता है। यथोक्तम्

मध्ये द्वारं न कर्तव्यं मनुजानां कथंचन।
मध्ये द्वारे कृते तत्र कुलनाशः प्रजायते।।[4]

न मध्ये सद्मनो द्वारं कुर्यात्।[5]

गृहकुक्षौ कृतं द्वारं सर्वरोगभयंकरम्[6]

---

1. वास्तुराज वल्लभ पृ. 231, श्लो. 26
2. वृहद्वास्तुमाला, पृ. 15, श्लो. 162
3. वास्तुसारसंग्रह, 16/50
4. वास्तुराज वल्लभ, 4/59
5. वास्तुमण्डन 4/69
6. वास्तुमण्डन 39/59

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परन्तु देवता, ब्राह्मण एवं राजाओं के घर के मध्यम में द्वार स्थापन निन्दनीय नहीं है अन्य वर्ण वालों के लिए मध्य में द्वार अशुभ तथा मध्य के पार्श्व में द्वार बनाना शुभ होता है।[1] इसी प्रकार देवगृह, विहार (आश्रम, मठादि) पूजागृह, यज्ञमण्डप या देवमण्डप-प्रतोली वा यज्ञशाला के मध्य में भी द्वार शुभ होता है। यथा–

देवगारे विहारे च पूजायां मण्डपेषु च।
प्रतोल्यायां मखे चैव मध्ये द्वारं प्रशस्यते।।[2]

5. द्वार दिशा निर्णय में मकान की दीवार की लम्बाई के आठ भाग करके बीच के दो भागों में द्वार बनाना चाहिए ऐसा द्वार धन तथा पुत्र देने वाला होता है।[3]

6. घर की लम्बाई के नौ भाग करके पूर्व दिशा में घर की बाँई ओर से तीसरे भाग में, दक्षिण दिशा में छठे भाग में, पश्चिम दिशा में पाँचवें भाग में और उत्तर दिशा के पाँचवें भाग में द्वार बनाना चाहिए, तथा चतुर्थ भाग में सभी दिशाओं में द्वार बनाना शुभ होता है।[4]

दिशाओं के आधार पर द्वार संज्ञा एवं फल[5]**–**पूर्व दिशा का द्वार **विजयद्वार**कहलाता है जो सर्वत्र विजय देने वाला, सुखदायक एवं शुभफलदायक होता है। दक्षिण में स्थित द्वार **यमद्वार** कहलाता है, जो आलस्यप्रद तथा विशेष प्रयत्न करने पर सिद्धि देने वाला है। पश्चिम में स्थित द्वार मकर संराम कहलाता है। आलस्य प्रद एवं विशेष प्रयत्न करने पर सिद्धि देने वाला होता है। उत्तर में स्थित द्वार **कुबेरद्वार** कहलाता है, जो सुख-समृद्धि देने वाला तथा शुभ फल देने वाला होता है।[1]

द्वार के अनुसार गृह नाम– एक द्वार वाले भवन की **वेश्म** संज्ञा, पूर्व-पश्चिम में स्थित दो द्वारों वाले भवन की **निलय** संज्ञा तथा तीन द्वारों वाले भवन की **करण** संज्ञा तथा चार द्वारों वाले भवन की **चातुर** संज्ञा है। यथोक्तम्–

एकद्वारं भवेद्वेश्म निलयं पूर्व पश्चिमे।
त्रिद्वारं करणं प्रोक्तं चतुर्भिश्चातुरं विदुः।।[6]

यदि भवन में केवल एक द्वार पूर्व दिशा में हो तो उस भवन की संज्ञा **गृह** है। यथा–

चतुर्हस्तादितः क्षेत्रं शिरश्छाद्यं समोदये।
पूर्वे चैकद्वारयुतं गृहसज्ञं तदुच्यते।।[7]

---

1. मयमतम् 16/50
2. वास्तुसारसंग्रह 16/52
3. शुक्रनीति
4. मुहूर्त्तमार्तण्ड
5. भवन भास्कर पृ. 56-57
6. वास्तुमण्डनम् 8/10
7. अपराजितपृच्छा 10/12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर संज्ञा एवं फल[1]–

उत्संग द्वार– यदि बाहरी और भीतरी द्वार एक ही दिशा में हों अर्थात् घर का द्वार बाहरी प्रवेश द्वार के सम्मुख हो तो उसे उत्संग द्वार कहते हैं। उत्संग द्वार से सौभाग्य की वृद्धि संतान की वृद्धि, विजय तथा धन-धान्य की प्राप्ति होती है।

सव्य (हीन-बाहु) द्वार– यदि बाहरी द्वार से प्रवेश करने के बाद भीतरी द्वार दाएँ तरफ पड़े तो उसे सव्य द्वार कहते हैं। सव्य द्वार से सुख, धन-धान्य तथा पुत्र-पौत्र की वृद्धि होती है।

अपसव्य (पूर्ण-बाहु) द्वार– यदि बाहरी द्वार से प्रवेश करने के बाद भीतरी द्वार बाँई तरफ पड़े तो उसे अपसव्य द्वार कहते हैं। अपसव्य द्वार से धन और बन्धु-बांधवों की कमी, स्त्री की दासता तथा अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। अर्थात् वास्तुशास्त्र की दृष्टि से अपसव्य(वामवर्त) सदा विनाश कारक और सव्य (दक्षिणावर्त) सदा कल्याण कारक होता है। यथोक्तम्–**विनाशहेतुः कथितोऽपसव्यः सव्यः प्रशस्तो भवनेऽखिलेऽसौ।।[2] "सव्यावर्तः प्रशस्यते', 'अपसव्यो विनाशाय"।[3]**

पृष्ठभंग (प्रत्यक्षाय) द्वार– यदि भीतरी द्वार बाहरी द्वार से विपरीत दिशा में हो अर्थात् घर के ीपेछ से प्रवेश हो तो उसे पृष्ठभंग द्वार कहते हैं। इसका अपसव्य द्वार के सदृश अशुभ फल होता है।

द्वार प्रमाण सम्बन्धित विचार :–

द्वार की चौड़ाई से दुगुनी द्वार की ऊँचाई होनी चाहिए। समायत (जिस द्वार के आमने-सामने, परस्पपर के भुज व चारों कोण तुल्य हों वह द्वार समायत होता है।) द्वार शुभ होता है तथा विषमायत द्वार अशुभ होता है, अतः ऐसा द्वार नहीं बनाना चाहिए। दक्षिण व पश्चिम के कपाट शुभ एवं सुखदायी होते हैं। केवल दक्षिण व पश्चिम दोनों दिशाओं में द्वार हों तो गृह का नाम मनोरम होता है। यथोक्तम्–

विस्तारादद्विगुणोत्सेधं द्वारं न विषमायतम्।
पश्चिमे दक्षिणे वापि कपाटं च सुखप्रदम्।।[4]

ज्येष्ठ प्रतोली (प्रवेश द्वार) 15 हाथ ऊँची, मध्यम प्रतोली 13 हाथ ऊँची एवं कनिष्ठ प्रतोली 11 हाथ ऊँची हो तो इनकी चौड़ाई क्रमशः 8, 7 और 6 हाथ होनी चाहिए। यथोक्तम्–

---

1. भवनभास्कर पृष्ठ 54-55
2. वास्तुराज. 1/31
3. मत्स्यपुराण 256/3-4
4. वास्तुसौख्यम्9/330

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ज्येष्ठा प्रतोली तिथिहस्तसंख्या प्रोक्तोदये विश्वकरा च मध्या।
कनिष्ठिका रुद्रकरा क्रमेण व्यासेऽष्ट सप्तैव च रागसंख्या॥[1]

द्वार की ऊँचाई ज्येष्ठ, मध्यम व कनिष्ठ मान से तीन प्रकार की प्राप्त होती है। सौ हाथ व्यास के गृह के विस्तार के तुल्य हस्तांगुल में सत्तर अंगुल का योग करने पर ज्येष्ठ द्वार, साठ अंगुल जोड़ने पर मध्यम तथा पचास अंगुल जोड़ने पर कनिष्ठ द्वार की ऊँचाई का प्रमाण प्राप्त होता है। यथा–

सप्ततिः षष्टिपंचाशद् व्यासहस्तामितांगुलैः।
संयोज्य कार्यं गेहेषु त्रिविधे द्वारमुच्छ्रये॥[2]

ज्येष्ठ(उत्तम) द्वार का विस्तार द्वार की ऊँचाई के आधे भाग में उसका 16 भाग जोड़ने पर प्राप्त होता है। मध्यम द्वार का विस्तार द्वार की ऊँचाई के 3 भागों में से 2 भागों के समान होता है। तथा कनिष्ठ द्वार का प्रमाण ऊँचाई का आधा होता है।[3]

मय के मतानुसार द्वार की चौड़ाई तीन बित्ता एवं लम्बाई सात बित्ता होनी चाहिए। चौड़ाई एवं लम्बाई में क्रमशः छः एवं बारह अंगुल बढ़ाते हुए चौड़ाई को पन्द्रह बित्ता तथा लम्बाई को इक्कीस बित्ता तक ले जा सकते हैं। इस प्रकार विस्तार एवं ऊँचाई के भेद से द्वार प्रमाण के पच्चीस भेद बनते हैं।[4]

मत्स्य पुराण के अनुसार द्वार की ऊँचाई 10 तरह की उत्तम मानी गई है। प्रथम 150 अंगुल के बराबर द्वार की ऊँचाई हो, इसके अन्य चार भेद हैं जो 150 में से 10-10 अंगुल कम कर 140, 130, 120, 110 अंगुल के बनाने चाहिए। इसी तरह 180, 190, 116, 109 व 80 अंगुल के द्वार बनाने का भी प्रावधान है।[5]

चौखट का प्रमाण :–

वास्तुशास्त्र के प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में द्वार का एक निश्चित माप बताया गया है। वृहत्संहिता के अनुसार राजा एवं राजपुरुषों के भवन के द्वार के बारे में कहा गया है कि गृह के विस्तार के एकादश भाग से युत विस्तार में **सत्तर मिलाकर** जो मान आये उसके तुलय अंगुलात्मक मान में द्वार की ऊँचाई और उसके आधे के तुल्य द्वार की चौड़ाई होती है। यथोक्तम्–

---

1. राजवल्लभमण्डनम् 5/14
2. वास्तुमण्डनम् 4/46
3. तत्रैव 5/13
4. मयमतम् 30/2-3
5. उद्ध. राजवल्लभमण्डनम् 5/29.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एकादशभागयुतः ससप्ततिर्नृपबलेशयोर्व्यासः।
उच्छ्रायोऽङ्गुलतुल्यो द्वारस्यार्धेन विष्कम्भः॥[1]

द्वारा की दोनों शाखाओं की मोटाई उतने अंगुल रखनी चाहिए जितने अंगुल द्वार की ऊँचाई हो। चौखट के ऊपर (मेदिनी) व नीचे (देहली) की लकड़ी इन शाखाओं से डेढ़ गुनी मोटी रखनी चाहिए। जैसे– द्वार की ऊँचाई यदि चार हाथ हो तो ऊपर की दोनों शाखाओं को अंगुलात्मक मान में इससे डेढ़ गुना अर्थात् 6 अंगुल रखना चाहिए।[2]

गृहद्वार का निर्माण सदैव उचित एवं निश्चित मान के अनुसार करना चाहिए। यदि द्वार का मान उचित निर्धारित मान से कम हो तो दुःख और अधिक हो तो राजभय होता है।[3]

द्वार-शाखा विचार :–

द्वार की कुल मिलाकर पाँच शाखा में होनी चाहिए वर्तमान में केवल चार शाखाएँ ही रखी जाती हैं। वास्तुशास्त्र के अनुसार द्वार के ऊपर रोशनदान रखा जाता है जो द्वार का ही हिस्सा माना जाता है। इन पाँच शाखाओं के नाम इस प्रकार बताये गये हैं 1. देवी 2. नन्दिनी 3. सुन्दरी 4. प्रियानना 5. भद्रा।[4]

द्वार की शाखाएँ निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट हैं–

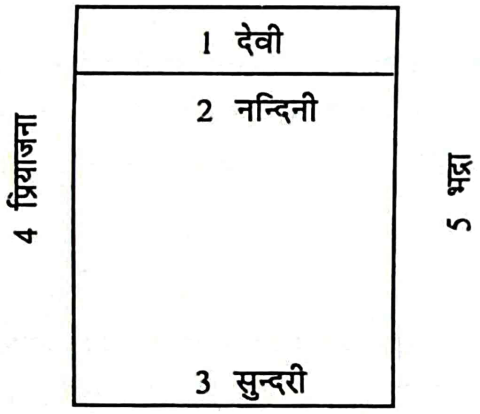

द्वार को अच्छी लकड़ी का बनाना चाहिए। दो पल्लुओं का द्वार शुभ होता है परन्तु द्वार के दोनों पल्ले गृह के अन्दर की ओर खुलने चाहिए। द्वार की दोनों दाएँ-बाएँ वाली शाखाएँ एक

1. बृहद्संहिता 53/24
2. तत्रैव 53/26
3. विश्वकर्माप्रकाश 7/94
4. वास्तुसारसंग्रह 16/26

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

माप की होनी चाहिए तथा द्वार के पल्ले भी समान चौड़ाई व मोटाई के रखने चाहिए। शास्त्रा के अनुसार पल्लों में किसी प्रकार का जोड़ नहीं होना चाहिए। यदि पल्लों में एक भी जोड़ है तो गृह-मालिक को कष्ट एवं दुःख की प्राप्ति होती है। चौखट के ऊपर की देवी व नन्दिनी शाखाएँ झुकी हुई नहीं होनी चाहिए।

कपाट(किवाड़) विचार :–

गृह में कपाट का अधिकतम भाग दक्षिण में रखना चाहिए तथा किवाड़ों के बाम भाग में अर्गला लगानी चाहिए। कपाट दो होने चाहिए तथा उनको द्वार शाखा के आधे-आधे प्रमाण के तुल्य बनाना चाहिए। यथोक्तम्–

कपाटः दक्षिणे भागे गृहे वामे शुभार्गलाः।
कपाटयुग्मं पिण्डे न शाखा पिण्डार्द्धसम्मितम्।।[1]

मनुष्यालयचन्द्रिका के अनुसार भी गृह के द्वार में दो किवाड़ लगाने प्रशस्त हैं। इन दोनों में से बाँयी ओर रहने वाला पल्ला माता स्वरूप होता है। इसे सूत्रपट्ट के साथ रखने का विधान है। दाँयी ओर का पल्ला पुत्रीवत् होता है। सारे किवाड़ों को इसी प्रकार बनाना सर्वोत्तम है। यथोक्तम्–

माता वामगता कपाटफलका सा सूत्रपट्ट्याश्रया।
पुत्री दक्षिणगामिनीति सकलद्वारेषु सम्प्रेक्ष्यताम्।।[2]

जिस भवन में बहुत अलिन्द और द्वार हों उस भवन के लिए द्वार के कोई नियम नहीं हैं। जिस दिशा में भी चाहें उसी दिशा में द्वार बना सकते हैं। मुख्य भवन के अतिरिक्त अन्य भवनों में भी द्वार बनाने सम्बन्धी कोई नियम नहीं है. जहाँ चाहें वहाँ द्वार बनाया जा सकता है। यथोक्तम्–

बहुद्वारेष्वलिन्देषु न द्वारनियमः स्मृतः।
तथोपसदने जीर्णे द्वारे सन्धारणेऽपि च।।[3]

द्वार संरचना हेतु ग्राह्य लकड़ी :–

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में मजबूत एवं सुन्दर द्वार की संरचना हेतु ग्राह्य लकड़ी से सम्बन्धित विविध मत प्राप्त होते हैं। यथा– शाक, शाल, महुआ, खदिर, सर्ज, चीड़, अर्जुन, कटहल, श्रीपर्णा, शीशम, हरिद्रा, चन्दन, देवदार, पद्माक्षक, तिन्दुकी तथा लाल काष्ठ से सम्बन्धित सुन्दर एवं शुभ वृक्षों की लकड़ी से द्वार बनाना शुभ फलदायक होता है। अतः इनमें से किसी एक वृक्ष की लकड़ी

1. वास्तुमण्डनम् 4/64.
2. मनुष्यालयचन्द्रिका 7/17
3. वास्तुसर्वस्व 128

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से द्वार बनाना उचित है।[1] इसके अतिरिक्त नव निर्मित घर में किसी पुराने घर के दरवाजे को स्थापित नहीं करना चाहिए तथा विविध प्रकार की लकड़ी या पुरानी लकड़ी से भी दरवाजे का निर्माण करना प्रशस्त नहीं माना गया है।

प्रशस्त द्वार संरचना हेतु शुभ मुहूर्त्त विचार :–

मुख्य द्वार की चौखट पंचमी, सप्तमी, अष्टमी और नवमी को लगानी चाहिए। प्रतिपदा को लगाने से दुःख की प्राप्ति, द्वितीया को लगाने से धन, पशु व पुत्र का विनाश, तृतीया को लगाने से रोग, चतुर्थी को लगाने से विघ्न एवं विनाश, पंचमी को लगाने से धन लाभ, षष्ठी को लगाने से कुलनाश, सप्तमी, अष्टमी और नवमी को लगाने से शुभफल की प्राप्ति, दशमी को लगाने से धन--नाश और पूर्णिमा व अमावश्या को लगाने से वैर उत्पन्न होता है।[2]

रेवती, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अश्विनी, चित्रा, स्वाती और पुनर्वसु इन नौ नक्षत्रों में रविवार, सोमवार, बुधवार, गुरुवार और शुक्रवार को नन्दा, जया तथा पूर्णा तिथियों में द्वार लगाना प्रशस्त है। यथोक्तम्–

भवेत्पूष्णमैत्रे च पुष्ये च शाक्रे करे द्स्त्रचित्रानिलौचादितौ च।
गुरुश्चन्द्रशुक्रार्कसौम्ये च वारे तिथौ नन्दपूर्णाजयाद्वारशाखा।।[3]

अश्विनी, तीनों उत्तरा, स्वाती, रोहिणी रेवती इन नक्षत्रों में चौखट लगाना शुभ है।[4]

वास्तुशास्त्र के आचार्यों द्वारा उपयुक्त मुहूर्त्त में प्रशस्त द्वार लगाने के लिए द्वारचक्रशुद्धि का विवेचन किया है। यथा–गृहद्वारस्थापन दिवस के सूर्य नक्षत्र से चन्द्र नक्षत्र तक गिनकर निम्न चक्रानुसार फल जानना चाहिए।[5]

स्थान	शिर	कोण	शाखा	देहली	मध्य
नक्षत्र	1-4	5-12	13-20	21-23	24-27
फल	लक्ष्मी प्राप्ति	उद्वास	सौख्य	मृत्यु	सुख

1. वास्तुराज वल्लभ 5/17
2. पञ्चमी धनदा चैव मुतिनन्दवसौ शुभम्।
   प्रतिपत्सु न कर्तव्यं कृते दुःखमवाप्नुयात्।।
   द्वितीयायां द्रव्यह्यानिः पशुपुत्रविनाशनम्।
   तृतीया रोगदा ज्ञेया चतुर्थी भङ्गकारिणी।।
   कुलक्षयं तथा षष्ठी दशमी धननाशिनी।
   विरोधकृमापूर्ण न स्याछाखावरोपणम्।। बृ.वा.मा., पृ. 98 श्लो. 169-171
3. बृ.वा.मा., पृ. 99, श्लो. 172
4. बृ.वा.मा., पृ. 98, श्लो. 168.
5. मु. चि. 12/24

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् सूर्य नक्षत्र से प्रथम चार नक्षत्र द्वार के ऊपरी शिरे पर, अग्रिम आठ नक्षत्र कोण में, अग्रिम आठ नक्षत्र शाखाओं में, अग्रिम तीन नक्षत्र देहली में तथा अन्तिम चार नक्षत्र मध्यभाग में स्थित होते हैं। इनका फल क्रमशः लक्ष्मी प्राप्ति, उद्वास, सौख्य, मृत्यु एवं सुख के रूप में मिलता है।

वास्तुशास्त्र में प्रशस्त द्वार लगाने हेतु देहली चक्र की व्यवस्था की गई है। यथा– जिस दिन द्वार स्थापन करना हो उस दिन के मगल स्थित नक्षत्र से चन्द्र नक्षत्र तक गिनकर निम्नचक्रानुसार[1] फल जानना चाहिए।

स्थान	मूल	गर्भ	मध्य	पुच्छ	पृष्ठ[2]
नक्षत्र 28	1-3	4-8	9-12	13-20	21-28
फल	स्वामी मरण	सुख	धन पुत्रादिसुख	हानि	भाग्यवृद्धि

वास्तुशास्त्र के अनुसार उत्तरात्रय, (उ.फा., उ.षा., उ.भा.) रोहिणी नक्षत्रों, शुभवारों (चन्द्र, बुध, गुरु, शुक्र) तथा शुभ तिथियों में द्वार स्थापन शुभ होता है। मृगशीर्ष और चित्रा मृदुसंज्ञक नक्षत्रों में द्वार स्थापन करने से कुल और सम्पत्ति की वृद्धि होती है तथा चर (स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण धनिष्ठा, शतिभिषा) नक्षत्रों या स्थिर (उ.फा., उ.षा., उ.भा., रोहिणी) नक्षत्रों में बुधवार, या शुक्रवार को द्विस्वभाव लग्नों में कपाट की स्थापना करना शुभ होती है।[2]

द्वारा दोष निर्णय :–

द्वार के ऊपर द्वार, द्वार के सम्मुख द्वार बनाने से सुख-शान्ति नहीं मिलती है। अतः द्वार के ऊपर द्वार तथा द्वार के सामने द्वार नहीं बनाना चाहिए। यथोक्तम्–

द्वारस्योपरि द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम्।
न कर्त्तव्यं पदं यस्माद्गृहं न सुखावहम्।।[3]

द्वार के सम्मुख बाहर का द्वार नहीं करना चाहिए। बाहर के मुख्य दरवाजे के सम्मुख किसी का भी द्वार नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त घर के कोणों में भी द्वार नहीं बनाना चाहिए। यदि घर के द्वार के ऊपर द्वार रखना हो तो ऊपर वाले द्वार को नीचे वाले की अपेक्षा छोटा बनाना चाहिए। नीचे के द्वार से ऊपर का द्वार संकरा होने के साथ ही ऊँचाई में भी ज्यादा नहीं होना चाहिए

1. ज्यो. नि. पृ. 165
2. बृ.वा.मा., पृ. 99, श्लो. 173-174
3. वास्तुसौख्यम् 9/373.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा छोटे-बड़े सभी द्वारों के शीर्ष भाग को समसूत्र में रखा जाना आवश्यक है। नियम से अधिक प्रमाण वाले द्वार यदि उपयोग में लिए जायें तो परिजनों को व्यधियाँ घेर लेती हैं। प्रमाण से हीन द्वार धन-नाश करते हैं। वास्तु-देवता के विग्रहस्वरूप गृह-आदि के खण्डित होने से गृह स्वामी कभी सुखी नहीं रहता है।[1]

भवन के चौड़ाई के कोण में और भूखण्ड के चौड़ाई के कोण में भी द्वार नहीं बनाना चाहिए क्योंकि ऐसा द्वार दुःख, शोक और पीड़ादायक होता है। यथा–

विस्तार कोणं द्वारं यद्दुःखशोकभयप्रदम्।[2]

यदि द्वार घर के भीतर झुका हो तो गृहस्वामी की मृत्यु होती है। यदि द्वार घर के बाहर की ओर झुका हो तो गृहस्वामी का विदेशवास होता है। यदि द्वार ऊपर के भाग में आगे झुका हो तो वह संतान नाशक होता है। किवाड़ में छिद्र होने से क्षय होता है। द्वार के टेढ़े होने पर कुल को पीड़ा, बाहर निकल जाने पर पराभव, फूला हुआ होने पर दरिद्रता और मध्य भाग में कृश होने पर रोग होता है। द्वार के फूले होने पर क्षुधा का भय तथा टेढ़े होने पर कुलनाश होता है। टूटा हुआ द्वार पीड़ा करने वाला, झुका हुआ द्वार क्षय करने वाला, बाहर झुका हुआ द्वार प्रवास कारक और दिग् भ्रान्त द्वार डाकुओं से भय देने वाला होता है। निम्न द्वार से गृहस्वामी स्त्रीजित् होता है। उन्नत द्वार से दुर्जन की स्थिति होती है। सम्मुख द्वार से सुत पीड़ा होती है। पृष्ठाभिमुख द्वार से स्त्रियों की चपलता होती है। बामवर्त द्वार से धननाश होता है। अग्रतर द्वार से प्रभुता का नाश होता है।[3]

बृहत्संहित के अनुसार द्वार दोष :–

जिस गृह के द्वार का किवाड़ बिना खोले ही खुल जाय उसमें रहने वाले को उन्माद, अपने आप बन्द हो जाय तो कुलनाश, परिमाण से अधिक द्वार का परिमाण हो तो राजभय, प्रमाण से अल्प हो तो चोरभय और दुःख होता है। यदि एक घर के द्वार पर दूसरे खण्ड का द्वार पड़े तो शुभ नहीं होता। जिस द्वार की मोटाई कम हो वह शुभ नहीं होता। मृदंग की आकृति वाला अति विपुल द्वार क्षुधा का भय करता है तथा कुबड़ा द्वार कुल का नाश करता है। यदि ऊपरी काष्ठ आदि के भार से दबा हुआ द्वार हो तो गृहस्वामी को पीड़ा करता है, भीतर को झुका हुआ द्वार हो तो गृहस्वामी की मृत्यु करता है। बाहर को झुका हुआ द्वार गृहस्वामी विदेशवासी बनाता है। दिग्भ्रान्त द्वार हो तो गृहस्वामी को चोरों से पीड़ित होता है।[4]

---

1. राजवल्लभमण्डनम् 5/24-25
2. वास्तुसर्वस्व, पृ. 128
3. समरांगणसूत्र 38/67-68
4. बृहद्संहिता 53/79-81

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्वार वेध :–

यदि गृहद्वार का मार्ग से वेध हो तो गृहस्वामी की मृत्यु, वृक्ष से वेध हो तो बालकों में दोष, कीचड़ से वेध हो तो शोक, नाली से वेध हो तो व्यर्थ का खर्च, कुएँ से वेध हो तो मृगी आदि मानसिक रोगों की उत्पत्ति, देवता की प्रतिमा से वेध हो तो गृहस्वामी का नाश, स्तम्भ से वेध हो तो स्त्रियों में दोष और ब्रह्मस्थान या ब्राह्मण गृह से वेध हो तो कुल का नाश होता है।[1]

वेध दोष परिहार :–

यदि द्वार की ऊँचाई से (मतान्तर से भवन की ऊँचाई से) दोगुनी दूरी पर किसी भी प्रकार का मार्ग, पेड़, कोण, कुआँ, खम्भा, कोल्हू, मशीन, यन्त्रादि द्वारा द्वार-वेध हो तो किसी प्रकार का दोष नहीं होता है। यथोक्तम्–

मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद्द्विगुणितमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय।।[2]

यदि द्वार और वेध वस्तु के मध्य राजमार्ग हो तो भी वेध नहीं होता है। यथा– **"राजमार्ग परता वेधो न कोणद्वये"**। इसी प्रकार विविध एवं विभिन्न प्रकार की वेध वस्तुएँ घर के पीछे या वाम या दक्षिण पर्श्वों में हों तो भी वेध दोष नहीं होता है। यथा–

पृष्ठतः पार्श्ववापि न वेधं चिन्तयेतद् बुधः।
प्रासादे वा गृहे वापि वेधमग्रे विनिर्दिशेत्।।[3]

प्रासाद (राजमहल) और मण्डप (देवमन्दिर) के द्वार में मार्ग वेध का दोष नहीं होता है। यथा–

प्रासादमण्डपद्वारे मार्गवेधो न विद्यते।[4]

प्रधान द्वार की विशेषता :–

प्रधान द्वार के रूप, सौन्दर्य, समृद्ध-रचना के समान गृह के अन्य द्वारों का रूप, सौन्दर्यादि समृद्ध-रचना नहीं करनी चाहिए। प्रधान द्वार को मांगलिक कलश, श्रीफल, लता, नन्दीगण, प्रहरी, सिंह, हंस, अश्वादि वाहन, कन्या आदि मांगलिक चिन्हों से सुशोभित करना चाहिए। यथोक्तम्–

---

1. बृहद्संहिता 53/77-78
2. वास्तुसौख्यम् 9/359.
3. वास्तुसौख्यम् 9/369.
4. शुक्रनीति 1/234

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मूलद्वारं नान्यैर्द्वारैरभिसन्दधीत रूपद्धर्या।
घट-फल-पत्र-प्रमथादिभिश्च तन्मंगलैश्चिनुयात्।।[1]

गवाक्ष विचार :–

प्रत्येक भवन में संवातन की समुचित व्यवसथा तथा पारगामी संवातन हेतु खिड़कियाँ आदि आवश्यक रूप से होनी चाहिए तथा उनकी संरचना एवं स्थापना आदि भी वास्तुशास्त्रीय नियमों एवं सिद्धान्तां के अन्तर्गत करनी चाहिए। सामान्यतया द्वार निर्माण के नियमों एवं ऊर्जा स्थानों के अन्तर्गत ही संवातन के खिड़की आदि प्राकृति संसाधनों के निर्माण की व्यवस्था की जानी चाहिए। अतः भवन के पूर्व एवं उत्तर भाग में इनको भी अधिकतम संख्या में बनाना चाहिए परन्तु अशुभ ऊर्जा स्थानों को छोड़कर इन्हें पश्चिम एवं दक्षिण आदि दिशाओं की दीवारों तथा अन्य शुभ ऊर्जा के स्थानों पर सुविधानुसार बनाया जा सकता है। इन संवातन के संसाधनों का मूल उद्देश्य भी पाँच भौतिक तत्वों से बने शरीर को स्वस्थ एवं स्फूर्त रखने हेतु पंच महाभूतों से सम्यक् एवं समानुपातीय रूप से समन्वय स्थापित करना है। इसके अतिरिक्त प्राणी को सौर ऊर्जा, चुम्बकीय ऊर्जा तथा गुरुत्व बल के साथ-साथ शुद्ध वायु, सम्मत कीटाणु नाशक पराबैंगनी किरणें, विटामिन डी, पाँच प्रकार की प्राण आदि वायु तथा प्राकृतिक प्रकाश को संचारित भी करना है। मुख्य द्वार के अलावा अन्य सभी द्वारों एवं खिड़कियां के ऊपर के किनारों को सदैव एक सीध में, समान ऊँचाई पर एक सरल रेखा में रखा जाना चाहिए। मुख्य द्वार के साथ यह नियम नहीं लागू होता है। जो खिड़की दीवार में बनाई जाती है उसे अवलोकनक कहा जाता है तथा छोटी खिड़की या झरोखे को लोकनक कहा जाता है। जो झरोखा या खिड़की लम्बाई से अधिक हो उसे सिंह, जो चौड़ाई से अधिक हो उसे हंस कहते हैं। जिसकी लम्बाई-चौड़ाई बराबर हो उसे मतिद तथा जिसमें भद्र हो उसे बुद्धयर्णव कहते हैं। यथोक्तम्–

सिंहो दैर्घ्यविवृद्धितो हि पृथुले हंसो गवाक्षो भवेत्।
तुल्याऽसौ मतिदोऽपि भद्रसहितो ज्ञेयस्तु बुद्ध्यर्णवः।।[2]

कुछ विद्वानों के अनुसार गवाक्षों की चौड़ाई डेढ़ हाथ से लेकर 6-6 अंगुल बढ़ाते हुए पाँच हाथ तक रखी जात सकती है। यथा–

प्रथमात्तु सार्धकरं षट्षण्मात्रवृद्धिः।
तत्पंचबाहुमवधि त्रिविशालमेके।।[3]

सभी प्रकार के भवनों में गवाक्ष आदि संवातन के संसाधनों को सर्वथा उपयुक्त दिशा एवं स्थान पर बनाना चाहिए। अतः अधिकांश ग्रन्थकारों के कथनानुसार उत्तर और पूर्व दिशा में अधिक

---

1. वास्तुसौख्यम् 9/367
2. वास्तुसर्वस्वम् अध्याय 22, पृ. 131
3. वास्तुसर्वस्वम् अध्याय 22, पृ. 132

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से अधिक गवाक्षों को स्थापित करना चाहिए। यदि इनकी पश्चिम और दक्षिण दिशा में स्थापना करनी भी पड़े तो इन्हें छोटे आकार में निर्मित करना चाहिए परन्तु आचार्य टोडरमल के अनुसार गृह में गवाक्ष आदि को पश्चिम और दक्षिण दिशा में भी निर्मित किया जा सकता है। यथा– **"पश्चिमे दक्षिणे चैव गवाक्षो मन्दिरस्य च"**।[1] गवाक्ष, जालिका आदि द्वार के सन्दर्भ में प्रतिपादित है कि उनको शिला के द्वार से आधी ऊँचाई के समान बनाना चाहिए। द्वार के तीन भाग कर आधे अंश से उनको समानतः बनाने का प्रावधान भी है। यथोक्तम्–

गवाक्षजालयोर्द्वारं शिलाद्वारार्द्धमुन्नतम्।
द्वारे त्रिभक्तेऽध्यंशं वा सर्वेषां सुसमं शिरः॥[2]

उपसंहार :– इस लेख में विवेच्य वास्तुशास्त्रीय विषय से स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड और इसकी प्रत्येक जड़-चेतन वस्तु पाँच महाभूतों से निर्मित है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि पंच भौतिक भूमि पिण्ड पर, पाँच भूतात्मक प्राणी को शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्फूर्त्त एवं स्वस्थ रहते हुए, सुरक्षित एवं सुविधापूर्वक जीवन-यापन हेतु पाँचभूतों से निर्मित भवन में, पाँच भूतात्मक तत्त्वों से समानुपातीय सामंजस्य स्थापित करना अपरिहार्य रूप से आवश्यक है। इस कार्य को भली-भाँति एवं व्यवस्थित रूप से सम्पन्न करने में केवल वास्तुशास्त्रीय नियमों व सिद्धान्तों के अन्तर्गत संवातन संसाधनों के विधान की सुन्दर व्यवस्था ही समर्थ एवं सर्वाधिकोपयोगी है। प्रस्तुत शोध में बाह्य तथा भीतरी संवातन अर्थात् वायु तत्त्व की समुचित व्यवस्था हेतु द्वार निर्माण की विविध विधियों का प्रतिपादन किया गया है परन्तु द्वार एवं गवाक्ष संरचना हेतु सर्वथा उचित दिशा, स्थान, प्रमाण तथा लकड़ी आदि का चयन करने हेतु प्रतिपादित विविध विधियों में से सर्वथा उपयुक्त किसी एक विधि का चयन करना सामान्यतया श्रम साध्य है। अतः विविध विधियों का निष्पक्ष भाव से चिन्तन करने पर निष्कर्ष एवं सारांश इस प्रकार कहा जा सकता है। यथा–

(i) संवातन व्यवस्था हेतु विशेषकर गृह के प्रमुख द्वार की संरचना पूर्व या उत्तर दिशा में करनी चाहिए।

(ii) यदि गृह में केवल एक द्वार बनाना ही सम्भव या अभीष्ट हो तो उसे पूर्व दिशा में बनाना चाहिए।

(iii) पूर्व या उत्तर की दिश के नौ भाग कर दाएँ से छठे तथा बाएँ से चौथे भाग में द्वार स्थापन करना चाहिए। यहाँ पर दाएँ और बाएँ का निर्णय– घर से बाहर निकलते समय गृह का जो भाग दाहिने है वह दक्षिण तथा जो भाग बाएँ पड़ता है वह उत्तर होता है।

(iv) द्वार प्रशस्त दिशा की दीवार के आठ भाग करके बीच के दो भागों में द्वार की स्थापना करना भी शास्त्र सम्मत एवं उचित है।

---

1. वास्तुसौख्यम् 7/281
2. वास्तुमण्डनम् 4/59

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(v) द्वार के सभी अंगों की चौड़ाई एवं मोटाई आदि उचित प्रमाण में रखनी चाहिए। क्योंकि नियम से अधिक एवं न्यून प्रमाण वाले द्वार शुभ नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में द्वार की चौड़ाई से दो गुनी द्वार की ऊँचाई प्रशस्त मानी गई है।

(vi) द्वार के सामने द्वार या द्वार के ऊपर द्वार बनाने का यह शास्त्र निषेध करता है। किन्तु द्वार के ऊपर यदि द्वार बनाना अवश्यम्भावी हो तो ऊपर का द्वार नीचे के द्वार की अपेक्षा छोटा एवं संकरा बनाना चाहिए।

(vii) द्वार का किसी भी प्रकार के वेधजन्य (मार्ग, पेड़, कुआँ, खम्भा, मशीन, द्वार आदि) पदार्थ से वेध नहीं होना चाहिए किन्तु यदि सभी प्रकार के वेधजन्य पदार्थ किसी प्रसिद्ध राजमार्ग के पार या घर की ऊँचाई से दोगुनी दूरी पर स्थित हों तो वेध दोष हीं होता है। इसी प्रकार वेधजन्य मार्ग आदि भवन के पीछे या बगल में हो तो दोष नहीं होता है।

(viii) द्वार के सभी अंगों की स्थापना वास्तुशास्त्र प्रदत्त शुभ (मास, तिथि, वार, नक्षत्र एवं लग्नादि) मुहूर्त्त में करनी चाहिए।

इस प्रकार वास्तुशास्त्र के सभी ग्रन्थों में संवातन के प्रमुख साधन द्वार के बारे में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। गृहद्वार की उपयोगिता एवं महत्ता को देखते हुए कि द्वार विन्यास एक महत्त्वपूर्ण एवं उच्च तकनीकी कार्य है। अतः उसको सदा कुशल कारीगर द्वारा मजबूत एवं सुन्दर, एक ही प्रकार के नूतन काष्ठ से किसी भी प्रकार के जोड़ एवं छेद के निर्मित करवाना चाहिए, ताकि कुपित वायुजन्य प्रकोप, भूकम्प आदि प्राकृतिक आपदायें या चोरी की संभावना आदि अशुभ फलों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के दोष की सम्भावना न रहे। गृहद्वार व कपाट के महत्त्वपूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि हमें भूलकर भी बिना द्वार के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त बिना देवताओं को नैवेद्य तथा ब्राह्मण भोजन कराये हुए घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा घर विपत्तियों का घर होता है। यथोक्तम्–

अकपाटमनाच्छन्नमदत्तबलिभोजनम्। गृहं न प्रविशेदेवं विपदामाकरं हि तत्॥[1]

1. नारदपुराण, पूर्व. 55/619.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहनिर्माणयायविचारः

डॉ. शिवाकान्तमिश्रः

सुखेन जीवनयापयितुं गृहस्थः गृहनिर्माणं करोति। गृहनिर्माणस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयन् चाणक्यः कथयति- **"परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति"**। गृहं स्त्रीपुत्रादीनां सौख्यदायकं, धर्मार्थकामप्रदायकं, प्रणीनां सुखदायकं, प्राकृतिकापदाभिर्रक्षकश्च भवति।[१]

गृहनिर्माणस्य कश्चित् नियमो भवति यस्य पालनमावश्यकं भवति। समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थे उक्तं यत् गृहनिर्माणं सर्वदा कर्महस्तप्रमाणेन अथवा स्वामिहस्तप्रमाणेन तथा देवतानां प्रसादनिर्माणं केवलं कर्महस्तप्रमाणेन समीचीनं भवति।[२] इथमेव वास्तुरत्नाकरेऽपि किञ्चित् विशेषेण प्रतिपादितम्।[३]

1. आयाद्यानयनविधिः-

अनन्तरमायव्ययर्क्षांशकचन्द्रताराबलानि शास्त्रदृष्ट्या सम्यक्विचार्य गृहपतिः गृहनिर्माणं करोति अनेन गृहपतेः परिवारस्यायुर्धनारोग्ययशोऽभिवृद्धिर्भवति। नूतनगृहनिर्माणे आयविचारः प्रमुखो भवति परं खण्डितस्फुटितजीर्णविशीर्णवास्तुसु आयविचारः न क्रियते।[४]

---

१. स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्म्मार्थकामप्रदं
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्म्मादयः।।

२. गृहेषु कर्महस्तेन मानं स्वामिकरेण वा।
देवतानां तु धिष्ण्येषु कर्महस्तेन केवलम्।। समराङ्गणसूत्रधार, अ.-26, श्लोकः16

३. स्वामिहस्तप्रमाणेन ज्येष्ठपत्नीकरेण वा।
गर्भमात्रं भवेद् गेहं नृणां प्रोक्तं पुरातनैः।।
अन्यत्र च-
स्वामिहस्तप्रमाणेन ज्येष्ठपत्नीकरेण वा।
ज्येष्ठपुत्रकरेणाऽपि कर्मकारणरेण च।। वास्तुरत्नाकरः

४. खण्डितं स्फुटितं जीर्णं विशीर्णं स्फुटस्फोटितम्।
त्यक्त्वा च वास्तुदेवाद्यमायास्तेषु विवर्जिताः।। अ. पृ., अ. 64, श्लो. 41

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आयविचारणार्थं स्वामिहस्तप्रमाणेन गृहपिण्डं साधनं करणीयं तदनत्तरं तं पिण्डं नवस्थानेषु स्थाप्य क्रमशः 9,9,6,8,3,8,8,4,8 संख्याभिः संगुण्य प्राप्तगुणनफलेषु क्रमशः 8,7,9,12, 8,27,15,27,120 संख्याभिः विभाजिते सति प्राप्तशेषाः क्रमेण आय-वार-अंश-द्रव्य-ऋण-नक्षत्र-तिथि-योग-आयुश्च भवन्ति।[५] समराङ्गसूत्रधारग्रन्थे आयानयनविधिः भवति - क्षेत्रस्य दैर्घ्यं क्षेत्रस्य विस्तृतिः = क्षेत्रफलम्, क्षेत्रफलम् / 8 = शेषं ध्वजादि आयो भवति।[६] एवमेवायानयनविधि अपराजितपृच्छायां, वास्तुमञ्जरी तथा बृहद्वास्तुमालायामपि प्राप्यते।[७]

2. आयस्य प्रकाराः नामानि च-

ध्वजधूम्रसिंहश्वानवृषखरगजध्वाङ्क्षायनामानि भवन्ति विषयेऽस्मिन् चर्चा प्रत्येकं वास्तुग्रन्थे समानरूपेण प्राप्यते।[८]

3. युगादिक्रमेण ग्राह्यायाः-

ध्वजायः सतयुगे, सिंहायः त्रेतायुगे, वृषायः द्वापरयुगे, गजायः कलियुगे मान्यः वर्त्तते।[९]

---

५. पिण्डे नवाङ्काङ्गगजाग्निनागनागाब्धिनागैर्गुणिते क्रमेण।
विभाजिते नागनगाङ्कसूर्यनागर्क्षतिथ्यर्क्षखभानुभिश्च।।
आयो वारोंशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः।
आयुश्चाथ गृहेशर्क्षगृहभैक्यं मृतिप्रदम्।। मुहूर्त्तचिन्तामणिः, अ.12, श्लो. 11,12

६. दैर्घ्यं हन्यात् पृथुत्वेन हरेद् भागं ततोऽष्टभिः।
यच्छेषमायं तं विद्याच्छास्त्रदृष्टं ध्वजादिकम्।। समराङ्गणसूत्रधारः, अ.26, श्लो.17

७. दैर्घ्यं हन्यात्पृथुत्वेन हरेद्भागं ततोऽष्टभिः।
शेषमायं चैव विद्याच्छास्त्रदृष्टं ध्वजादिकम्।। अपराजितपृच्छा, अ.64, श्लो. 8

८. ध्वजो धूमोऽथ सिंहश्च श्वा वृषः खरकुञ्जरौ।
ध्वाङ्क्षश्चेति त उद्दिष्टाः प्राच्याद्यासु प्रदक्षिणम्।। स. सू., अ. 26, श्लो. 18
ध्वजोधूम्रोहरिश्वागौः खरेभौ वायसोऽष्टमः।
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः।। बृहद्वास्तुमाला, श्लो. पृ. 51
ध्वजो धूमोऽथ सिंहः श्वा सौरभेयः खरो गजः।
उष्ट्रश्चेति क्रमेणैतदायाष्टकमुदाहृतम्।। वास्तुरत्नाकरः, श्लो. 22, पृ. 45
ध्वजो धूमश्च सिंहश्च श्वानो वृषखरौ गजः।
ध्वाङ्क्षश्चैति समुद्दिष्टाः प्राच्यादिषु प्रदक्षिणाः।। अपराजितपृच्छा, अ. 64, श्लो. 9

९. ध्वजः प्रायः कृतयुगे त्रेतायां सिंह एव च।
द्वापरे वृषबाहुल्यं गज एव कलौ युगे।। अपराजितपृच्छा. अ. 64, श्लो. 12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

4. आयानां स्वरूपाणि तेषां फलानि च-

ध्वाङ्क्षायः काकसदृशः, धूमायः विडालसदृशः, सिंहायः मनुष्यसदृशः तथान्यायानां स्वरूपं नामवत् वर्त्तते। सर्वेषामायानां पादौ पक्षिसदृशः, गला सिंहसदृशः, करौ मनुष्यसदृशः। पूर्वादिदिक्षु सर्वे आयाः बलिनः तथा तस्यां दिशि तेषां मुखं भवति। ध्वजायः कीर्तिप्रदः, धूम्रायः शोकप्रदः, सिंहायः जयप्रदः, श्वानायः वैरप्रदः, वृषायः धनप्रदः, खरायः दारिद्र्यप्रदः, गजायः सुखप्रदः तथा ध्वाङ्क्षायः रोगप्रदश्च भवति।[१०]

वृषेप्सुना ब्राह्मणेन सिंहायः नोपयुज्यते यतोहि सिंहायमानेन निर्मितभवने क्रूरता तथा अनपत्यदोषो भवति। ध्वजायमानेन निर्मितभवने सर्वविधसिद्धिः, शान्तिः, आरोग्यञ्च भवति। वृषायमानेन निर्मितभवने पशूनां वृद्धिः, गजायमानेन निर्मितभवने सम्पतिः, विविधसुखैश्वर्यं तथा शेषायमानेन निर्मितभवनं शोकदुःखदायकः भवन्ति।[११]

---

१०. ध्वाङ्क्षः शिल्पितपस्विनां हितकरस्तेषां मुखं नामवद्
ध्वाङ्क्षः काकमुखो विडालवदनो धूमो ध्वजो मानुषः।
सर्वे पक्षिपदा हरेरिव गला हस्ता नरस्येव तत्
प्राच्याः सृष्टिगताः क्रमेण पतयो ह्यष्टौ च ते तन्मुखाः।। वास्तुवल्लभ, अ. 3, श्लो.6

पुनः -

ध्वजः पुरुषरूपश्च सिंहः सिंहस्वरूपकः।
वृषो वृषभरूपाढ्यो गजो हस्तिस्वरूपकः।।
धूमो मार्जाररूपश्च श्वानः श्वानाधिरूपकः।
खरो गर्दभरूपाढ्यो ध्वांक्षः काकस्वरूपकः।।
सर्वे च वृषभारूढाः पुरुषाकारमुदराः।
तद्रूपकाश्च हस्ताभ्यां पादाभ्यां विगहानुनाः।
ग्रीवया सिंहरूपाश्च प्रबलाश्च महोत्कटाः।। अपराजितपृच्छा., अ. 64, श्लो. 31-34
मखैः स्वनामसदृशा नराकारकरोदराः।
हस्ताभ्यां तद्रूपाढ्याः पादाभ्यां विहगाकृतिः।।
सर्वेषां सिंहवद्ग्रीवा प्रबलाश्च महोत्कटाः। दीपार्णवः, अ.1, श्लो. 35-36
कीर्तिः शोको जयो वैरं धनं निर्धनतासुखम्।
रोगश्चेति गृहारम्भे ध्वजादीनां फलं क्रमात्।। ज्योतिर्निबन्ध
ध्वजेऽर्थलाभः सन्तापो धूमे भोगो मृगाधिपे।
कलिः शुनि धनं धान्यं वृषे स्त्रीदूषणं खरे।।
गजे भद्राणि दृश्यन्ते ध्वांक्षे तु मरणं ध्रुवम्। समराङ्गणसूत्र, अ. 26, श्लो. 21-22

११. सिंहायः सर्वथा त्याज्यो ब्राह्मणेन वृषेप्सुना।
सिंहाये चण्डता गेहे स्वल्पापत्यश्च जायते।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ध्वजाये पर्याप्तधनलाभः, धूम्राये भ्रमः, सिंहाये विशेषलक्ष्मी, श्वानाये कलहः, वृषाये धनलाभः, खराये स्त्रीनाशः, गजाये पुत्रलाभः, वायसाये सर्वत्र शून्यता च भवति। वस्तुतः सर्वे आयाः श्रेष्ठाः भवन्ति तथापि ध्वजगजसिंहवृषायांनां विशेषमहत्त्वं वर्त्तते। ध्वजायं सर्वत्र देयम्। वृषायं सर्वत्र न देयम्। वृषसिंहगजायानां पुटकर्पटकोट्येषु दातव्यम्। गजायं वापीकूपतडागेषु दातव्यम्। अग्नितः जीविकोपार्जनकर्तृणां म्लेच्छादीनां कृते च धूम्रायः श्रेष्ठो भवति। वेश्यानां कृते खरायः तथा कुटी-प्रासाद-ग्राम-गृहादीनां निर्माण वृष-सिंह-गजायाः श्रेष्ठाः भवन्ति। यथोक्तं[१२]–

गजशालायाः निर्माणे गजध्वजायौ, अश्वशालायाः निर्माणे ध्वजखरवृषायाः, उष्ट्रशालायाः निर्माणे गजवृषध्वजायाः सामान्यशुशालायाः निर्माणे वृषध्वजायौ, शयनगृहस्य निर्माणे वृषायः, पीठस्य

ध्वजाये पूर्णसिद्धिः स्याद् वृषायः पशुवृद्धिदः।
गजाये सम्पदां सिद्धिः शेषायाः शोकदुःखदाः।। विश्वकर्मप्रकाशे अध्यायः 102
उत्तरोत्तरमाख्याताश्चतुर्वर्णफलप्रदाः ।
ध्वजे चैवार्थलाभः स्याद् धूमे सन्ताप एव च।।
सिंहे च विपुला भोगाः कलिः श्वाने सदा भवेत्।
धनधान्यं वृषे चेव स्त्रीदूषणं च रासभे।।
गजे भद्राणि पश्यन्ति ध्वांक्षे च मरणं ध्रुवम्। अपराजितपृच्छा, अ. 64, श्लो. 14-15

१२. ध्वजे बहुधनं प्रोक्ता धूम्रे चैव भ्रमो भवेत्।
सिंहे च विरलालक्ष्मीः श्वाने च कलहो भवेत्।।
धनं धान्यं वृषे चैव खरेषु स्त्रीविनाशनम्।
गजाख्ये पुत्रलाभश्च ध्वांक्षे सर्वत्रशून्यता।।
स्वस्वस्थाने ध्वजः श्रेष्ठो गजः सिंहस्तथावृषः।
ध्वजः सर्वगतो देयो वृषं नान्यत्र दापयेत्।।
वृषसिंहगजाश्चैव पुटकर्पटकोटयोः।
द्विपः पुनः प्रयोक्तव्योः वापी-कूप-सूरःसु च।।
मृगेन्द्रमासनेदद्वद्याच्छयनेषु पुनर्गजः।
वृषं भोजनपात्रेषु छत्रादिषु पुनर्ध्वजम्।।
अग्निवेश्मसु सर्वेषु गृहे वह्न्युपजीविनाम्।
धूमं नियोजयेत् केच्छिवानं म्लेच्छादि जातिषु।।
खरो वेश्यागृहे शस्तो ध्वांक्षः शेषकुटीषु च।
वृषसिंहगजाश्चापि प्रासादपुरवेश्मुसु।। बृहद् वास्तुमाला, श्लो. 12-18, पृ. 53-54
गजाये वा ध्वजाये वा गजानां सदनं शुभम्।
अश्वालयं ध्वजाये च खराये वृषभेऽपि वा।।
उष्ट्राणां मन्दिरं कार्यं गजाये च वृषे ध्वजे।
पशु-सद्म-वृषाये च ध्वजाये वा शुभप्रदम्।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्माणे सिंहायः, छत्रवस्त्राणां कृते गृहनिर्माणे वृषध्वजायौ, पादुकार्थं गृहनिर्माणे सिंहध्वजायौ तथा अन्येषां वस्तूनां स्थापनार्थं गृहनिर्माणे ध्वजायः शुभो भवति[१३]–

पाकशाला, अग्निशाला तथा अग्नितः जीविकोपार्जनकर्तृणां च कृते धूम्रायः, यवनान्त्यजानां कृते श्वानायः, वेश्यानां गृहनिर्माणे खराय, पक्षिपतीनां गृहनिर्माणे ध्वांक्षायः, प्रासाद-पुर-मन्दिरनिर्माणे च वृषसिंहगजायाः, वस्त्रगृह-धर्मशाला-कुम्भस्तम्भ-ध्वजारोहणार्थं च गृहनिर्माणे ध्वजायः, मृत्तिका तथा तृणस्य गृहनिर्माणे वृषगजायौ, यन्त्र-शस्त्र-रथानां स्थापनार्थं गृहनिमार्णे सिंहायः, भाण्डागारनिर्माणार्थं गजायः, धान्यस्थापनार्थं तथा जलाशयार्थं गृहनिर्माणे वृषायः, अश्वगजोः निमित्तं गृहनिर्माणे वृषायः श्रेष्ठः भवति।[१४]

शय्यासु वृषभः शस्तः पीठे सिंहः शुभप्रदः।
अन्यत्र छत्रवस्त्राणां वृषाये वा ध्वजेऽपि वा।।
पादुकोपानहौ कार्यौ सिंहाख्येऽप्यथवा ध्वजे।
उक्तानामप्यनुक्तानां मन्दिराणां ध्वजः शुभः।। वृ. वसिष्ठमतं, श्लो. 19-22, पृ. 54

१३. महानसेऽग्निशालायां गृहे वाग्न्युपजीविनाम्।
धूमं दद्यात्तथाश्वानं यवनान्त्यजोगृहे।।
खरो वेश्यागृहे योज्यो ध्वांक्षः पक्षिपतेर्गृहे।
वृषं सिंहं गजं दद्यात्प्रासादे पुरमन्दिरे।।
वस्त्रेषु धर्मशालानां कुम्भस्तम्भे ध्वजे ध्वजः।
गोगजोभूगृहे देयः साधारणतृणौकसि।।
मन्त्रे शस्त्रे रथे सिंहो भाण्डागारे शुभो गजः।
धान्याम्बुस्थानगोश्वेभशालायां वृषभः शुभः।। वृ. वा., श्लो. 23-26, पृ.55

१४. प्रदद्यादासने सिंहमातपत्रेषु तु ध्वजम्।
चिह्नेष्वपि सर्वेषु चामरव्यजनादिषुः।
सिंहं गजं वा शस्त्रेषु रथेषु कवचेषु च।।
सार्यश्वगजपर्याणेष्विभं वृषभमेव च।
अर्थधारणपात्रेषु शयनेषु मतङ्गजम्।।
याने च वाहने चैव मतिमान् योजयेद् गजम्।
प्रासादप्रतिमालिङ्गपीठमण्डपवेदिषु ।।
कुण्डेशु च ध्वजं दद्याद् देवोपकरणेषु च।
आयो गृहवदुद्वाहवेदीमण्डपयोर्भवेत्।।
महानसे वृषं दद्याज्जलाधारे जलाशये।
स्थाल्यां भोजनपात्रे च कोष्ठागारेऽन्नधारणे।।
एतद् गृहे तथा दद्याद् गृहोपकरणेषु च।
वृषभं गजशालायां प्रदद्याद् गजमेव वा।।
वृषं तुरगशालासु गोशालागोकुलेषु च।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अपराजितपृच्छायामपि एवमेव वर्णनं मिलति।[१५]

5. ब्राह्मणादिजातिवशात् ग्राह्यायाः-

ब्राह्मणानां कृते ध्वजायः, क्षत्राणां कृते ध्वज-गज-वृष-मृगायाः, वैश्यानां कृते ध्वज-सिंह-गजायाः तथा शूद्राणां कृते ध्वजमृगायौ च शुभदायकाः भवन्ति। सर्वेषां वर्णानां कृते वृषायः तथा हीनजातीनां

गजाश्ववृषशालासु सिंहं यत्नेन वर्जयेत्।।
अधमानां खरध्वांक्षधूमश्वानः शुभावहाः।
धूमोऽग्निजीविनांशस्तो ध्वांक्षः सन्न्यासीनां हितः।।
स्वगणानां श्वपाकानां स्ववेश्यानां खरःशुभः।
नटनर्तकवेश्मेषु पण्यस्त्रीणां खरः शुभः।।
कुलालरजकादीनां तथा गर्दभजीविनाम्। समराङ्गणसूत्र, अ. 26, श्लो. 25-34

१५. प्रासादप्रतिमालिङ्गे जगतीपीठमण्डपे।
वेदीकुण्डशुचिष्वेवं पताकाछत्रचामरे।।
वापीकूपतडागानां कुण्डानां च जलाशये।।
ध्वजोच्छ्यस्य संस्थाने ध्वजं तत्र निवेशयेत्।
आसने देवपीठेषु वस्त्रालङ्कारयोजने।।
केयूरमुकुटाद्ये च वेशयेच्च ध्वजं शुभम्।
अग्निकर्मसु सर्वेषु होमशालामहानसे।।
धूमोऽग्निकुण्डसंस्थाने होमकर्मगृहेऽपि वा।
आयुधानां समस्तानां नृपाणां भवनेषु च।।
नृपासने सिंहद्वारे सिंहं तत्र निवेशयेत्।
श्वानश्च म्लेच्छजातौ च गेहे श्वानोपजीविनाम्।।
तथा चाऽशुद्धसंस्थाने प्रशस्तः श्वानको मतः।
वणिक्कर्मसु सर्वेषु भोज्यपात्रेषु मण्डपे।।
वृषस्तुरङ्गशालायां गोशालायां च गोकुले।
ततविततादिस्वरे वादित्रे विविधे तथा।।
कुलालरजकादीनां खरो गर्दभ्झजीविनाम्।
गजश्च गजशालायां यानझम्पानयो रथे।।
शय्यायां शिविकायां च गजमुद्रा चतुष्कतः।
अन्तःपुरे गृहे प्रोक्तः पिण्डांवास्यादिकोद्भवः।।
अन्योपस्करकादौ च मदनागारके गजः।
तथाऽरहट्टयन्त्रेषु जिनशालादिकेषु च।।
ध्वांक्षः कल्याणकृच्चैवं शिल्पकर्मोपजीविनाम्।
स्वके स्वके वै स्थाने च सर्वे कल्याणकारकाः।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कृते समसंख्यकायाः शुभफलदायकाः भवन्ति।[१६]

6. राशिवशात् ग्राह्यायाः-

येषां जनानां ब्राह्मणराशयःभवन्ति ते यदि ध्वजायप्रमाणेन भवनस्य निर्माणं कुर्वन्ति तर्हि सुखसमृद्धिं प्राप्नुवन्ति अर्थात् कर्कवृश्चिकमीनानां ध्वजायः शुभो भवति। क्षत्रियराशियुक्तानां वृषायः अर्थात् येषां जनानां मेषसिंहधनुराशयः भवन्ति तेषां कृते वृषायः शुभो भवति। वैश्यराशियुक्तानां गजायः अर्थात् येषां जनानां तुलामिथुनकुम्भराशयः भवन्ति तेषां कृते गजायः शुभो भवतिं शूद्रराशियुक्तानां सिंहायः अर्थात् येषां जनानां वृषकन्यामकरराशयः भवन्ति तेषां कृते सिंहायः शुभो भवति।[१७]

वस्तुतः वास्तुशास्त्रे वास्तुकर्मसु एते अष्टऽऽयाः महागणेश्वर अष्टदिक्कक्षेत्रपालश्चोच्यते। एतेषाम् अष्टायानां पूजाकरणेन एते आयाः स्व पदे स्थितः सन् निर्विघ्नतया कार्याणां सम्पादने सहाय्यं कुर्वन्ति। एतेषां साध्यक्षेत्रं त्रिपुटं तथा भागः नवांशको भवति। अष्टायानां मध्ये कुलदेवतायाः वासो भवति। सर्वे आयाः गृहस्य सम्मुखे शुभाः तथा पृष्ठे मध्यमाः भवन्ति। ग्रामस्य वहिर्भागे स्थितदेवमन्दिराणां ग्रामाभिमुखद्वाराणि शुभानि भवन्ति। देवप्रतिमायाः आयः दिशापालो भवति।[१८]

अतएव जीवने सुखसमृद्धिप्राप्यर्थं सम्यक्तया आयं विचार्य्य गृहनिर्माण कर्त्तव्यमनेन सर्वत्र विजयः, दिने दिने यशवृद्धिश्च भवति। दीपार्णवग्रन्थेऽवि एवमेव वर्णनमस्ति। अतः निर्माणकार्ये आयविचार आवश्यकरूपेण करणीयः।[१९]

मित्रस्नेह्यानुगाश्चैव ते सर्वे हितकामदाः। अपराजितपृच्छा, अ. 64, श्लो. 16-27

१६. अग्रजानां ध्वजायाः स्याद् ध्वजकुञ्जरगोमृगाः।
क्षत्रस्य ध्वजसिंहेभा वैश्यस्य शुभदाः स्मृताः।।
ध्वजो मृगादिः शूद्राणां सर्वेषां वृषभः शुभः।
हीनजातेः समा देयाः सूक्ष्मकृत्येऽङ्गुलात्मकः।। वास्तुरत्नाकर, श्लो. 27-28, पृ. 46
कल्याणं कुरुते सिंहो ब्राह्मणस्य विशेषतः।
क्षत्रियस्य गजः शस्तो वृषभःशस्यते विशः।।
शूद्रस्य ध्वज एवैकः शस्यतेऽर्थप्रदः सदा। समराङ्गणसूत्र, अ. 26, श्लो. 24
कल्याणं कुरुते सिंहो नृपाणां च विशेषतः।
ध्वजः प्रशस्यते विप्रे वृषो वैश्य उदाहृतः।। अपराजितपृच्छा, अ. 64, श्लो. 13

१७. कर्कवृश्चिकमीनानां ध्वजायः शुभदो मतः।
वृषभायः शुभः प्रोक्तो मेषसिंहधनुर्भृताम्।।
तुलामिथुनकुम्भानां गजायो वाञ्छितप्रदः।
वृषकन्यामृगाणां च सिंहायः शुभदो भवेत्।। वास्तुरत्नाकर., श्लो. 29-30, पृ. 47

१८. अपराजितपृच्छा, अ. 64, श्लो. 35-38

१९. दीपार्णवः, अ.1. श्लो. 36-37

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र एवं रसोईघर : एक अनुशीलन

डॉ. अशोक थपलियाल

हमारी आवास व्यवस्था में रसोईघर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय परिवेश में प्राय: घर की महिलाओं का अधिकतर समय रसोईघर में ही व्यतीत होता है। ग्रामीण इलाकों में महिलाएं प्राय: धुएं भरे घुटनयुक्त रसोईघर में चौका चूल्हा का काम करती रहती हैं। ग्रामीण इलाकों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों में भोजननिर्माण का कार्य अधिक सुविधाजनक एवं कम कष्टकर होता है, फिर भी नगरीय क्षेत्र की महिलाएं भी अधिकांशत: शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से पीड़ित दिखाई देती हैं। यद्यपि इसका महत्त्वपूर्ण कारण हमारी व्यस्तता से भरी हुई जीवनशैली है, फिर भी कई बार समुचित जीवनशैली होने पर भी परिवार के सदस्य (मुख्यत: महिलाएं) प्रसन्न एवं सुखशान्ति का अनुभव नहीं कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण वास्तुशास्त्र की दृष्टि से समुचित नियमों का पालन न करना भी है। प्राय: देखा गया है कि गृह निर्माण में रसोईघर की उपेक्षा कर उसे सुकुचित तथा अनपयुक्त स्थान पर बना दिया जाता है। जबकि समुचित दिशा एवं ठीक प्रकार से जल, वायु, प्रकाशादि की व्यवस्था न होने पर रसोईघर आपके तथा आपके परिवार के लिए अस्वास्थ्यकर एवं मानसिक क्लेशकारक बन जाता है। रसोईघर के निर्माण एवं साज-सज्जा में वास्तुशास्त्र के नियम आपके लिए लाभदायक हो सकते हैं। इसी विषय पर विचार प्रस्तुत हैं।

दिशा एवं वास्तुपद के अनुसार रसोईघर– वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने वास्तुक्षेत्र का आग्नेय कोण रसाईघर के निर्माण हेतु सबसे अधिक उपयुक्त माना है।[1] वास्तुमण्डल के अनुसार इस पद का स्वामी अनिल अर्थात् वायुदेव हैं। इससे सटे हुए पद के स्वामी पूर्व की ओर अन्तरिक्ष तथा दक्षिण की ओर पूषा हैं।[2] जो रिक्तस्थान एवं पुष्टता के प्रतीक हैं। वास्तुराजबल्लभ के अनुसार पूर्व व आग्नेय के मध्य जिस वास्तुपद का देवता भृष होता है वहाँ धान्यभण्डार का निर्माण शुभ होता है।[3] अत: वास्तुक्षेत्र में पूर्व व दक्षिण के मध्य अर्थात् आग्नेयदिशा में रसोईघर बनाने पर कार्य करने हेतु रिक्तस्थान की प्राप्ति, भण्डारण की सुविधा तथा भोजन में पौष्टिकता, विषाणुहीनता आदि बने रहते हैं। रसोईघर में कार्यरत सदस्य का मुख पूर्व या उत्तर की ओर रहने पर उसे स्फूर्ति,

1. मुहूर्त्तचिन्तामणि 12/21
2. द्रष्टव्य वास्तुप्रबोधिनी अध्याय 3, वास्तुपदविन्यास
3. वास्तुराजबल्लभ 5/42-46

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

क्रियाशीलता, उद्यमिता आदि की प्राप्ति होती रहती है, क्योंकि ये दिशाएं सकारात्मक ऊर्जाओं के स्थान हैं। जबकि दक्षिण दिशा मुख्यतः नकारात्मक ऊर्जा का स्थान है। अतः इस ओर मुख करके कार्य करने पर स्वास्थ्य के लिए कष्ट, उत्साहहीनता इत्यादि अनुभव में आते हैं। रसोईघर के लिए वास्तुक्षेत्र के आग्नेय कोण की अनुपलब्धता होने पर वैकल्पिक दिशा के रूप में पूर्व, वायव्य अथवा पूर्व व आग्नेय के मध्य का स्थान भी चुना जा सकता है।[4] कुछ विद्वानों का मत है कि आग्नेय कोण में रसोईघर बनाने की स्थिति न होने पर इसे पूर्व दिशा में ही बनाना चाहिए किन्तु अन्य कोणों में नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि ईशान में रसोईघर होने से अपव्यय एवं व्ययाधिकता रहती है, जबकि वायव्य या नैर्ऋत्य में रसोईघर होने पर हानि, परेशानी और अग्निदुर्घना का भय रहता है।[5] ध्यातव्य है कि किसी भी परिस्थिति में रसोईघर को पूजाघर, शयनकक्ष, स्नानगृह या शौचालय के ऊपर या नीचे नहीं बनाना चाहिए।[6]

आयसाधन के अनुसार रसोईघर–आयु, धन, आरोग्यता और यशवृद्धि के लिए इष्ट आय की कल्पना कर गृहनिर्माण करना चाहिए, ऐसा विद्वानों का मत है।[7] इसी प्रकार पाकशाला निर्माण में भी आयादि का विचार करना चाहिए।[8] रसोईघर के निर्माण हेतु धूम संज्ञक आय को प्रशस्त कहा गया है। वास्तुरत्नाकर के अनुसार धूम आय का दिशामुख आग्नेय है।[9] अतः अग्निकार्य से सम्बन्धित होने के कारण यह धूम आय रसोईघर हेतु उपयुक्त है। इस प्रकार इष्ट आय कल्पना में धूमाय को चयनित कर तथा इष्ट नक्षत्र की कल्पना कर (व्यक्ति के नाम के प्रथमाक्षर के अनुसार नक्षत्र जानकर उसके अनुसार जिस विहित नक्षत्र के साथ उत्तम मेलापक बनता हो, उसके लिए वही इष्टनक्षत्र होता है।) निम्न गणित प्रक्रिया द्वारा रसोईघर का क्षेत्रफल जानना चाहिए[10]–

(((इष्टनक्षत्र–1) × 152) + ((इष्ट आय–1) × 81) +17 ÷ 216 = लब्धि / शेष। यहाँ शेष ही पिण्ड और पिण्ड ही क्षेत्रफल होता है। यदि पिण्ड अपेक्षा के अनुरुप कम हो तो 216 को पुनः पुनः जोड़कर अपेक्षित पिण्ड लिया जा सकता है। इसके पश्चात् ही लम्बाई एवं चौडाई का निर्धारण करना चाहिए।

---

4. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 132–134
5. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 120
6. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 120
7. रत्नमाला, पृ. 17/1
8. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 51–52/11–15
9. वास्तुरत्नाकर, पृ. 5/24
10. मुहूर्त्तचिन्तामणि

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उदाहरण– विकास का नाम नक्षत्र = रोहिणी, इष्टनक्षत्र= स्वाती 15, इष्ट आय=धूम 2 है

अतः (((इष्टनक्षत्र 15-1)×152) + ((इष्टआय 2-1) × 81) + 17) ÷ 216 = शेष 66, यह 66 हस्त प्रमाणानुसार (लगभग 99 फीट) रसोईघर का क्षेत्रफल हुआ। आवश्यकतानुसार साधित क्षेत्रफल में 216 को गुणक क्षेपक मानकर जोड़े जा सकते हैं। पूर्व पश्चिम जितनी चौड़ाई की कल्पना करें, उससे लगभग सवा गुना उत्तर दक्षिण लम्बाई हो तो चन्द्रवेधी कहा जाता है, जो शुभप्रद होता है। इसके विपरीत सूर्यवेधी अशुभ होता है।[11] कुछ विद्वानों का मानना है कि काष्ठ, अग्नि सम्बन्धी कार्यों एवं उनसे आजीविका चलाने वालों के लिए सौरविद्ध करना चाहिए।[12] इस प्रकार चौड़ाई से लगभग सवा गुना लम्बाई कल्पित कर उपर्युक्त क्षेत्रफल के अनुसार रसोईघर निर्मित करना चाहिए।

रसोईघर में द्वारविचार– रसोईघर के लिए धूम आय को प्रशस्त कहा गया है। अतः आग्नेयकोण में आयमुख होने के कारण द्वार को आग्नेयकोण में रखा जाना चाहिए परन्तु ध्यातव्य है कि कक्ष की लम्बाई अथवा चौड़ाई पर ही द्वार निर्माण शुभ होता है, कोणस्थानों में नहीं।[13] वास्तुपद देवों के विभाग के अनुसार आग्नेय में द्वार निर्माण होने पर सन्तति कष्ट होता है।[14] अतः आग्नेय कोण में द्वार निर्माण न करके सामान्यतः पूर्व या उत्तर की ओर द्वार बनाना चाहिए।[15] द्वार को दीवार के ठीक मध्य में नहीं बनाना चाहिए। साथ ही द्वार के सम्मुख द्वार भी नहीं होना चाहिए।[16] द्वार के आगे खम्भा, जलनिकासवाहिनी इत्यादि द्वारवेध नहीं होना चाहिए।[17] इसी प्रकार रसोई के द्वार के आगे चक्की, कीचड़ पूजा स्थान आदि भी नहीं होना चाहिए।[18] बृहत्संहिता के अनुसार द्वार के सम्मुख कीचड़ होने पर शोककारक, देवप्रतिमा होने पर गृहस्वामी का विनाश, स्तम्भ होने पर स्त्रियों में दोष एवं जलनिकासवाहिनी होने पर गृहस्वामी का नाश होता है।[19] समरांगण सूत्रधार में द्वारवेध के विषय में उल्लिखित है कि द्वार सम्मुख कीचड़ होने पर शोक, जल होने

---

11. वास्तुरत्नाकर, पृ. 5/4
12. वास्तुरत्नाकर, पृ. 5/4 तत्रैव टिप्पणी
13. बृहद् वास्तुमाला, पृ. 90 श्लोक 148
14. बृहत्संहिता, पृ. 52/69-73
15. भवनभास्कर, पृ. 56-57
16. बृहद् वास्तुमाला, पृ. 90 श्लोक 148
17. बृहत्संहिता, पृ. 52/64
18. मुहूर्त्तमार्त्तण्ड, पृ. 6/10
19. बृहत्संहिता, पृ. 52/75-76

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पर खर्च, देवमन्दिर होने पर विनाश, स्तम्भहोने पर स्त्रीदूषण, ब्रह्मविद्ध होने पर कुलनाश, निर्धारित प्रमाण से अधिक होने पर राजभय, निर्धारित प्रमाण से कम होने पर चौरभय या व्यसन, गड्ढा होने पर व्याधि एवं धनक्षय, शिला होने पर सन्निपात, कुलालचक्र होने पर हृदयरोग, जल या छाया होने पर दारिद्रय, कचकूट (कूड़ाघर) होने पर रोग, मद्यशालादि होने पर पुत्रनाश, ओखली होने पर निर्धनता, जलकुम्भ होने पर दुर्मन्त्री, भस्म होने पर बवासीरादि गुदासम्बन्धि रोग इत्यादि अशुभ फल प्राप्त होते हैं।[20] उपर्युक्त द्वारवेध का विचार रसोईघर के द्वारनिर्माण में भी करना चाहिए। इसी प्रकार द्वार के कपाट सम्बन्धी दोषों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। बृहत्संहिता के अनुसार अपने आप खुलने वाले द्वार उन्माद या भ्रमकारक, स्वयमेव बन्द होने वाले द्वार कुलनाश करने वाला, द्वारमान अधिक होने पर पर राजभयकारक, कम होने पर चौरभय एवं विपत्तिकारक, द्वार के ऊपर अन्य द्वार संकटदायक, द्वार या कपाट की चौड़ाई कम या अधिक होने पर भूख-प्यास अथवा पीड़ाकारक, टेढ़ा द्वार या कपाट होने पर कुलनाशकारक, दरवाजे पर अत्यधिक जोड़ होने पर पीड़ाकारक, अन्दर की ओर झुका द्वार धन-जन की हानि कराने वाला, बाहर की ओर झुका हुआ प्रवासकारक तथा दिग्भ्रान्त द्वार चौर-डाकुओं का भयकारक होते हैं।[21] रसोईघार के किवाड़ दो पल्ले का होना चाहिए। किवाड़ अन्दर की ओर खुलने वाले शुभ होते हैं।[22] आजकल प्राय: रसोईधारों में कपाटरहित द्वार प्रसिद्ध हैं। उनमें कपाटसम्बन्धी दोष होने की सम्भावना नहीं रहती है। परन्तु वहाँ पर भी द्वारवेधादि दोष का ध्यान रखना आवश्यक होता है। कुछ लोग, व्यक्ति के आने पर अपने आप खुलने वाले यन्त्रसंचालित कपाटयुक्त द्वार लगाते हैं। उनमें बृहत्संहिता में कथित अपने आप खुलने वाले द्वार का दोष उन्माद या भ्रम कारक कहा गया है। यन्त्र द्वारा संचाकित द्वार पर यह दोष नहीं होता है। इस प्रकार देश, काल व परिस्थिति वश द्वार निर्माण सम्बन्धी नियमों का पालन करना चाहिए।

रसोईघर में साज सज्जा– विद्युत उपकरणों एवं अग्नि सम्बन्धित उपकरणों की स्थापना आग्नेय दिशा में शुभ होती है। अत: हीटर, हीटरकन्वेक्टर, गैसचूल्हा, ओवन आदि को रसोई कक्ष के आग्नेय दिशा में रखा जाना चाहिए।[23] रसोईघर में गैस स्टोव रखने का स्थान इस प्रकार बनाना चाहिए जिससे भोजन बनाते समय कर्त्ता का मुख पूर्व या उत्तर की ओर हो। पश्चिम की ओर मुख होना मध्यम माना गया है, परन्तु दक्षिणाभिमुख निन्दित होता है। स्थान न होने पर आग्नेय दिशा की ओर भी मुख किया जा सकता है। रेफ्रिजरेटर को कक्ष में पश्चिम में रखना चाहिए।[24] रसोईघर में

20. समरांगण सूत्रधार, पृ. 48/83-90
21. बृहत्संहिता, पृ. 52/77-79
22. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 136
23. वास्तुप्रबोधिनी, पृ. 109
24. तत्रैव

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वाशवेशिन इत्यादि जलोपकरण ईशान या पूर्व में बनाने चाहिए। जलसंग्रहण का स्थान भी पूर्व, पश्चिम या ईशानकोण में ही रखना चाहिए। बर्तन धोने का स्थान एवं जल निकासी पूर्व, वायव्य या उत्तर की ओर रखना उत्तम है।[25] खाद्यवस्तुएं रखने की आलमारी दक्षिण या पश्चिम में रख सकते हैं। गैससिलेण्डर इत्यादि भारी वस्तुएं भी नैर्ऋत्य, दक्षिण या पश्चिम की ओर रखनी चाहिए। पश्चिमोत्तार अर्थात् वायव्य दिशा में मिक्सी, टोस्टर, आटाचक्की एवं इसी प्रकार के अन्य उपकरण रखने चाहिए।[26]

रसोईघर में पूर्व, ईशान या उत्तर दिशा में भारी एवं अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह नहीं करना चाहिए। ये स्थान प्रायः खाली रहने चाहिए। इन दिशाओं में धुँआ इत्यादि के निकास हेतु खिड़की एक्जॉस्ट पंखा अथवा चिमनी इत्यादि रखी जा सकती है। फर्श का ढलान पूर्व, ईशान एवं उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए। रसोईघर में देवादि का चित्र नहीं लगाना चाहिए। यद्यपि वहाँ फल-फूल एवं खाद्य वस्तुआं एवं रसोई के उपकरणों की सुन्दर तस्वीर अंकित टाइल्स इत्यादि लगायी जा सकती है। रसोईघर में सफेद, पीला या हल्के रंगों का प्रयोग समुचित रहता है।

आवासीय भवन में 16 कक्षों के निर्माण तक की संकल्पना प्राचीनाचार्यों ने की है।[27] परन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सामान्य मध्यवर्गीय परिवार के लिए इतने कक्षों से युक्त आवासीय भवन बनाना सम्भव नहीं है। अतः वस्तुओं की गुणधर्मिता के अनुसार ही कम कक्षों में भी वस्तुओं को रखने का स्थान बनाया जा सकता है। इसी क्रम में रसोईघर में हल्दी, मसाले इत्यादि औषधों के छोटे बर्तनों को रखने का स्थान ईशान एवं पूर्व के मध्य में बनाना अच्छा रहेगा। इसी प्रकार दही मथने मिक्सी इत्यादि चलाने का स्थान आग्नेय एवं पूर्व के मध्य में बनाना चाहिए। घृत, तेल इत्यदि रखने का स्थान दक्षिण एवं आग्नेय के मध्य बनाया जाना चाहिए। चाकू, छुरी इत्यादि नुकीले औजार नैर्ऋत्यकोण में तथा धान्य (आटा, चावल, दालें इत्यादि) रखने हेतु वायव्य अथवा उत्तर दिशा उत्तम रहती है। आटा, दाल, मसाले एवं खाद्य सामग्री पश्चिम या दक्षिण में आलमारी बनाकर भी रखी जा सकती है।[28] यदि रसोईघर में ही अथवा उसके निकट ही भोजनकक्ष अभीष्ट हो तो उसे रसोईघर के पश्चिमी भाग में बनायें। भोजनादि बनाने के भारी बर्तनों को नैर्ऋत्य, दक्षिण या पश्चिम में तथा हल्के बर्तनों को पूर्व, उत्तर या वायव्य में रखा जा सकता है।

वास्तुराजबल्लभ के अनुसार गृह के बाएं भाग में धनकक्ष, वस्त्रागार, धातुकक्ष, औषधकक्ष, भोजनगृह आदि एवं हल्के वस्तुओं को रखने का स्थान बनाना चाहिए। दक्षिणभाग में अग्निस्थल,

---

25. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 120-125
26. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 119-120
27. मुहूर्त्तचिन्तामणि, पृ. 12/21
28. भारतीयवास्तुशास्त्र, पृ. 120
29. वास्तु राज बल्लभ, पृ. 5/41

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शस्त्र, शयनकक्ष, आलमारी आदि भारी वस्तुओं को रखने का स्थान बनाना चाहिए।[29] इस नियम को ध्यान में रखते हुए रसोईघर के दक्षिण भाग में भारी बर्तन, आलमारी, घृतादि का संग्रह, गैसचूल्हा, गैससिलेण्डर, चाकू आदि वस्तुएं तथा बाएं भाग में धान्य, हल्दी आदि औषध, जलसंग्रहण, जलनिकास, हल्के बर्तन आदि वस्तुओं को रखने का स्थान बनाना चाहिए। रसोईघर में सफाईयन्त्र, डेस्टबिन इत्यादि वायव्य या नैर्ऋत्य में रखे जा सकते हैं। यह अत्यावश्यक है कि डेस्टबिन का कचरा प्रतिदिन हटाया जाय। अन्यथा रोगादि का भय बना रहता है। इसी प्रकार ज्यादा समय तक रसोईघर में जूठे बर्तन एवं खाद्य पदार्थों द्वारा बनी हुई गन्दगी रहने पर रसोईघर का वातावरण दूषित एवं स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने के साथ-साथ नकारात्मक ऊर्जाओं को बढ़ाने का काम भी करता है। अतः रसोईघर की स्वच्छता पर आवश्यक ध्यान रखना चाहिए।

रसोईघर में पंचमहाभूतों पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश का सही सम्मिश्रण होना आवश्यक है क्योंकि पाकशाला में इन सभी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किसी न किसी रूप में होता ही है। रसोईघर का भौतिक स्वरूप ही पार्थिव (पृथिवी) तत्त्व है। पार्थिव तत्त्व का विन्यास वास्तु के नियमों के अनुरूप होना चाहिए। भोजन बनाने के लिए जल व अग्नि की आवश्यकता होती ही है। अग्नि प्रकाश प्रदायक भी है। अग्नि को जलने हेतु तथा धूमादि के निकास हेतु वायु अत्यावश्यक है। आकाश अर्थात् रिक्तस्थान में ही भोजन सुचारु एवं सुविधापूर्वक बनाया जा सकता है। अतः इनका सम्यक् निवेश ही गृहिणी या भोजन बनाने वाले को सुख, सुविधा एवं प्रसन्नचित्त रख सकता है। इन्हीं बातों का ध्यान रखकर वास्तुशास्त्र में वास्तुविन्यास के नियमों का उल्लेख मिलता है। जिनका पालन अवश्य ही लाभकारी सिद्ध होता है। निष्कर्ष रूप में रसोईघर के निर्माण के समय निम्न बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए–

1. रसोईघर वास्तुक्षेत्र के आग्नेय में हो। अत्यावश्यक होने पर इसे पूर्व, वायव्य अथवा पूर्व व आग्नेय के मध्य में बनाया जा सकता है।
2. रसोईघर में गैस चूल्हा, ओवन इत्यादि उपकरण आग्नेयकोण में रखें। वैकल्पिक तौर पर इसे पूर्व में भी रखा जा सकता है।
3. गैस चूल्हा रखने का स्लैव पूर्व की भित्ति के सहारे बनाना चाहिए। इससे भोजन निर्माण करते समय गृहिणी का मुख शुभ ऊर्जा स्थान पूर्व की ओर रहेगा। भोजन बनाते समय दक्षिण की ओर मुख अशुभ रहता है।
4. रसोईघर में जलसम्बन्धि उपकरण, जलभण्डारण इत्यादि ईशानकोण में शुभ रहते हैं। वैकल्पिक तौर पर इन्हें पूर्व या उत्तर में भी रख सकते हैं। रेफ्रिजरेटर जैसे उपकरण पश्चिम में रखे जा सकते हैं।
5. जलनिकासी हेतु पूर्व, उत्तर या वायव्य की ओर नालियां बनाना शुभ है। अत्यावश्क होने पर पश्चिम में भी बनायी जा सकती हैं, परन्तु दक्षिण दिशा में अशुभ है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

6. आलमारी एवं भारी वस्तुओं को रखने के लिए नैर्ऋत्य, दक्षिण या पश्चिम में स्थान बनाना चहिए।

7. रसोईघर के द्वार के समक्ष खम्भा, जल, कूड़ा-कबाड़, कीचड़, देवस्थान, जलनिकास हेतु नालियां इत्यादि नहीं होने चाहिए। ब्रह्मस्थान में द्वार नहीं होना चाहिए।

8. रसोईघर के शुभ ऊर्जा स्थानों पूर्व, ईशान एवं उत्तर में खिड़की इत्यादि बनाना अच्छा रहता है। इन दिशाओं में प्रायः हल्के सामनों को रखना चाहिए। यह स्थान जितना हो सके खुला रहना चाहिए। जबकि दक्षिण, नैर्ऋत्य एवं पश्चिम दिशाएं भारी वस्तुओं से ढकी हुई होनी चाहिए।

10. रसोईघर में स्वच्छता एवं कीटाणुहीनता का विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि दोष रहित भोजन ही स्वस्थ शरीर का निर्माण करता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिरवास्तु

डॉ. विजयलक्ष्मी महापात्र

प्रकृति के अनुरूप निर्मित स्थापत्य कला में मनोहर देवालय, राजमहल, दुर्ग, जलाशय और मनुष्यालय आदि संरचनाओं को देखने से मन प्रफल्लित हो जाता है। इसी प्रकार की मनोहर संरचनाओं को हम वास्तु के नाम से जानते हैं।

आचार्य मय के अनुसार देव-दानव यक्ष-किन्नर- मानवादि जहाँ-जहाँ निवास करते हैं वे सब वस्तुएँ वास्तु के रूप में जानी जाती हैं। मय वास्तुशास्त्र का विभाजन मुख्यरूप से चार भागों में किया गया है। पहला भूमि, दूसरा मन्दिर, तीसरा यान, चौथा शयनासन। इसमें भूमि ही मुख्य वास्तु के रूप में ग्रहण की गई है। इस भूमि पर जो भी निर्माण होता है वह सब वास्तु के रूप में ही जाना जाता है। भवन, भूखण्ड, मन्दिर, कूप, बावड़ी-तालाब आदि वास्तु के मुख्य अवयव हैं। यथा–

अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि।
तद् वस्त्विति मतं तज्ज्ञैस्तद्भेदं च वदाम्यहम्॥
भूमिप्रासादयानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्य वस्तुस्यात् तत्र जातानि यानि हि।
प्रासादादीनि वास्तुनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात्॥
वस्तुन्येन हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः॥[1]

साधारणतः वास्तु के तीन भेद हैं। यथा (1) आवासीयवास्तु (2) व्यावसायिकवास्तु एवं (3) देववास्तु। निवास के लिए बनाया हुआ भवन आवासीयवास्तु, व्यापार के लिये बनाया गया स्थान दुकान, ऑफिस, होटल आदि को व्यावसायिक वास्तु तथा देवपूजन के लिये निर्मित मन्दिरों को देववास्तु अथवा मन्दिरवास्तु कहते हैं।

देवमन्दिर निर्माण का प्रयोजन :–

यश और धर्म की वृद्धि के लिये देवता का मन्दिर बनाना चाहिये। यथा–

देवतायतनं कुर्याद् यशोधर्मभिवृद्धये॥[2]

---

1. मयमतम् 2.1-3
2. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, श्लोक 2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिर निर्माणस्थानम्–

मन्दिर निर्माण एक पवित्र और धार्मिक कार्य है। मन्दिर के लिए स्वच्छता अधिक होती है। अतः मन्दिर का निर्माण नदी के तट, सिद्धपुरुषों के निर्वाण स्थान, तीर्थभूमि, शहर, गाँव, पर्वत की गुफा, बावड़ी, वाटिका और तालाब आदि पवित्र स्थानों में बनाना चाहिये। यथा–

नद्यां सिद्धाश्रमे तीर्थो पुरे ग्राम च गह्वरे।
वापी-वाटीं-तडागादि स्थाने कार्यं सुरालयम्।।[1]

पुनः,

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु ।
रमन्ते देवताः नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च।।[2]

मन्दिर निर्माण के पदार्थ :–

अपनी शक्ति के अनुसार काष्ठ, मिट्टी, ईंट, पाषाण, सुवर्ण आदि धातु एवं रत्नों से देवालय बनाया जाना चाहिये। किसी भी प्रदार्थ से निर्मित देवालय बनाने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। यथा–

स्वशक्त्या काष्ठमृदिष्टका शैलधातुरत्नाजम्
देवतायतनं कुर्याद् धर्मार्थकाममोक्षदम्।।[3]

मन्दिर निर्माण के लिये उपयुक्त भूमि :–

सर्व प्रथम मन्दिर बनानेवाली भूमि की परीक्षा करनी चाहिये। जिस भूमिपर चारों दिशाओं में पानी का प्रवाह चलता हो अर्थात् वह भूमि चारों दिशाओं में नीची हो और बीच में ऊँची हो, अथवा पूर्व-उत्तर और ईशान कोनों में नीची हो अर्थात् इन तीन दिशाओं में पानी का प्रवाह जाता हो तो ऐसी भूमि शुभदायक है। इस प्रकार भूमि की परीक्षा करके विद्वान् जन पञ्च-गव्य (गाय का दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर) से उस भूमि पर छिड़काव करे तथा मणि, सोना, चाँदी, मूंगा और फलों से भूमि को पवित्र करना चाहिए। यथा–

सर्वादिक्षु प्रवाहो वा प्रागुदकशङ्करप्लवाम्।
भूमिं परीक्ष्य संसिञ्चत् पञ्चगत्येन कोविदः
मणिसुवर्ण रुप्येण विदुमेण फलेन वा।।[4]

---

1. प्रासादमण्डन 01.11
2. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, श्लोक 08
3. प्रासादमण्डन 01.33
4. प्रासादमण्डन 01.12-13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अन्यत्रापि–

भूमयो ब्राह्मणादीनां याः प्रोक्ता वास्तु कर्मणि।
ता एव तेषां शस्यन्ते देवतायतनेष्वपि।।[1]

ब्राह्मण आदि वर्णो को गृह बानाने के लिए जिस प्रकार की भूमि शुभ कही गई है, मन्दिर बनाने के लिये भी वैसी ही भूमि श्रेष्ठ होती है।

मन्दिर निर्माण समय :–

मन्दिर निर्माण में काल (समय) का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः काल का परीक्षण कर ही मन्दिर निर्माण करना चाहिए। मन्दिर निर्माण में सामान्यतया पञ्चाङ्ग शुद्धि देखने के बाद शुभलग्न में, पाँचग्रह (सूर्य, चन्द्र, बुध, गुरु, और शुक्र) के बलवान् होने पर तथा मास संक्रान्ति और वत्स चक्रादि आदि के निषेध समय को छोड़कर मन्दिर बनाना आरम्भ करना चाहिए। यथा–

शुभलग्ने सुनक्षत्रे पञ्चग्रहबलान्विते।
माससंक्रान्तिवत्सादिनिषिद्धकालवर्जिति।।[2]

मन्दिर निर्माण में शुभ नक्षत्र :–

मन्दिर का सूत्रारंभ तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनो, उत्तराषाढ़ाऔर उत्तर भाद्रपद), हस्त, चित्रा, स्वाती, रोहिणी, पुष्य, मृगशीर्ष, अनुराधा, रेवती, धनिष्ठा और शतभिषा, इन नक्षत्रों में करना चाहिये। यथा–

सूत्रारम्भो गृहादीना - मुत्तरायां करत्रये।
ब्राह्मे पुष्ये मृगे मैत्र्ये पौष्णाये वासववारुणे।[3]

मन्दिर निर्माण के लिये विचारणीय विषय :–

मन्दिर निर्माण के लिये आय, व्यय, अंश और नक्षत्र इन चार अंगों का विचार करना चाहिये। इस क्रम में देवस्थापन करने वाले और देव इन दोनों के परस्पर नाडीवेष, योनि, गण, राशि, वर्ण, वश्य, तारा, वर्ग और राशिपति, इन नवअङ्गों का विचार करना चाहिये। यथा–

देवतानां गृहे चिन्त्यमायाद्यङ्गचतुष्टयम्।
नवाङ्गं नाडीवेधादिस्थापकामस्योर्मिथः।।[4]

---

1. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, श्लोक 09
2. प्रासादमण्डन 01.11
3. प्रासादमण्डन 01.30
4. प्रासादमण्डन 01.21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सबसे पहले आय का विचार करना चाहिये। "आय" आठ प्रकार की होती हैं। यथा--ध्वज, धूम्र, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज और ध्वांक्ष। मन्दिर जिस भूमि पर बनेगा, उस भूमि की लंबाई-और चौड़ाई को गुणा करने से जो गुणनफल हो, वह क्षेत्रफल कहलाता है। इसको आठ से भाग देने पर जो शेष बचे, वह एकादि शेष से ध्वज आदि आय कहलाती है।

व्यय :–

क्षेत्रफल को आठ से गुणा करके, गुणनफल को सत्ताईस से भाग दें तो जो शेष बचे वह अश्विनी आदि नक्षत्र होते हैं। नक्षत्र की जो संख्या आवे, उसमें आठ का भाग देने से जो शेष बचे वह व्यय कहलाता है। आय अधिक और व्यय कम हो तो घर लक्ष्मीप्रदान करता है, आय व्यय दोनों समान होने पर घर पिशाच संज्ञक, व्यय आय से अधिक हो तो गृह राक्षस संज्ञक होता है। यथा–

व्यासे दैर्घ्यगुणेष्टभिर्विभाजिते शेषो ध्वजाद्यायको,
अष्टघ्ने तद् गुणिते च धिष्णय भाजिते सादृक्षमश्वादिकम्।
नक्षत्रे वसुभिर्व्ययोऽपिभाजिते हीनस्तु लक्ष्मीप्रदः,
तुल्यायश्च पिशाचको ध्वजमृते संवर्द्धितो राक्षसः॥[1]

व्यय भी आठ प्रकार के होते हैं। यथा–शान्त पौर, प्रद्योत, श्रियानन्द, मनोहर, श्रीवत्स, विभव और चिन्तात्मा। आय और व्यय समान हो तो पिशाच नाम का व्यय, आय से व्यय अधिक हो तो राक्षस नाम का व्यय और आय से व्यय कम हो तो यक्ष नाम का व्यय होता है। यह धनधान्य वृद्धि करने वाला है। यथा-

शान्तः पौरः प्राद्योतश्च श्रिया नन्दो मनोहरः।
श्रीवत्सो विभवश्चैव चिन्तात्मा च व्ययाः स्मृताः।
समोव्ययः पिशाश्च राक्षसस्तु व्यकयोऽधिकः।
व्ययोन्यूनो यक्षश्चैव धनधान्यकरः स्मृतः॥[2]

अंशानयनप्रकारः–

भूमि के क्षेत्रफल में व्यय की संख्या ओर घर के नामाक्षर को जोड़ करके उसमें तीन से भाग दें। जो एक शेष बचे तो इन्द्रांश, दो शेष बचे तो यमांश और तीन शेष बचे तो राजांश जाने। इन्द्र का अंश मन्दिर और वेदी में शुभ है। यम का अंश दुकान, नागदेव और भैरव के प्रासाद में शुभ है। राजा का अंश–गजशाला, अश्वशाला, वाहन, राजमहल और साधारण घर में शुभ है। यथा–

---

1. राजबल्लभमण्डन, 3.08
2. अपराजितापृच्छा सूत्र. 66

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तन्मूले व्ययहर्य्यनामसहिते भक्ते त्रिभिस्त्वंशकान्,
स्यादिन्द्रो यमभूपतीं क्रमवशाद् देवे सुरेन्द्रो हितः।
वेद्यामेव यमस्तु पुण्यभवने नागे तथा भैरवे।
राजांशो गजवाजियाननगरे राज्ञां गृहेमन्दिरे॥[1]

मन्दिर के वास्तुपुरुष का लक्षण एवं द्वारविभाग :–

मन्दिर को 64 पद का बनाना चाहिये, उसके सभी दिशाओं के मध्यभाग में द्वार निर्माण शुभ है। 64 पदका विधान निम्नलिखित है। यथा– पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण 9-9 रेखा खींचे इस प्रकार 64 कोष्ठक बनेंगे। इसमें बीच के चार कोष्ठकों के अन्त से चारों कोण तक 4 तिरछी रेखायें खींचे इसके बीच में 4 पद ब्रह्मा और वाह्मकोण में 8 देवता (1) आप. (2)

64 पदयुक्त वास्तुनर चक्र–

ईशान — आग्नेय

शिखी दिति	पर्यन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	अन्तरिक्ष अनिल
अदिति	पर्जन्य अदिति	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश पूषा	पूषा
भुज्ञ	भुजम	आपवत्स आप	अर्यमा	अर्यमा	सविता सवित्र	वितथ	वितथ
सोम	सोम	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहतक्षत	बृहतक्षत
भल्लाट	भल्लाट	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	यम	यम
मुख्य	मुख्य	रुद्र राजयक्ष्मा	मित्र	मित्र	इन्द्र जयन्त	गन्धर्व	गन्धर्व
नाग	नाग शोष	असुर	वरुण	कुसुमदन्त	सुग्रीव	भृंगराज दौवरिक	भृंगराज
रोग पापयक्ष्मा	शोष	असुर	अर्यमा	कुसुमदन्त	सुग्रीव	दौवारिक	मृग पितर

उत्तर — दक्षिण

वायव्य — नैऋत्य

पश्चिम

1. राजबल्लभमण्डन, 3.09

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आववत्स (3) सविता (4) सवित्र (5) इन्द्र (6) जयन्त (7) राजयक्ष्मा (8) रुद्र का अर्ध पद है। इसके बाद भी (1) शिखि, (2) अन्तरिख, (3) अनिल (4) पितृ (5) पाप (6) यक्ष्मा (7) रोग (8) आदिति ये अर्धपद हैं। इसके आगे। 1. पर्जन्य 2. भृश 3. भृङ्गराज, 4. दौवारिक 5. शोष 6. नाग; 7. अदिति 8. भृश यह आठ सार्धं $1^1/_2$ पढ़िक है। इनसे अवशिष्ट जो जो देवता हैं वे द्विपदिक् हैं। यथा, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, विनय, वृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, कुसुमदन्त, अम्वपति, असुर, मुख्य, भल्लाट, सोम, भुंजग, अर्यमा, विश्वान्, मित्र, पृथ्वीधर, इति, इसको वास्तुनर भी कहा जाता है। यथा–

चतुः षष्टिपदं कार्यं देवतायतनं यदा।
द्वारं च मध्यमं तस्मिन् समादिकस्थं प्रशस्यते।।[1]

मन्दिर बनाने की विधि–

मन्दिर के विस्तार से दुगनी उसकी ऊँचाई होती है। जैसे मन्दिर के मध्य का विस्तार 32 हाथ है तो उसकी ऊँचाई 64 हाथ होगी ऊँचाई का तीसरा भाग 21 हाथ 8 अंगुल, उसका कटिप्रदेश होता है। मन्दिर के विस्तार का आधा (16 हाथ) गर्भ होता है। गर्भ के चारों ओर दीवाल आती है। इसमें 1 हाथ भूमि परिक्रमा के लिये रखकर शेष तीन हाथ में दीवाल बनाये जाते हैं। गर्भ के विस्तार (16 हाथ) मान का चतुर्थांश शाखाओं की मोटाई होनी चाहिये।

बाह्यद्वार 3, 5, 7, 9 शाखाओं से युक्त हो तो उत्तम माना जाता है। शाखाविस्तार यदि से पूरा न हो तो 5 से पूरा करें। यदि 5 से भी न हो तो 7 अथवा 9 से पूरा करें। शाखा के नीचे का जो भाग है उसके चतुर्थांश में प्रतीहारों (नन्दी, दण्ड आदि) को रखें शेष तीन भागों में हंस आदि माङ्गलिक पक्षी, श्रीवृक्ष, लतापत्र आदि से द्वार की शोभा करें। द्वार की ऊँचाई में द्वार का अष्टमांश घटाकर जो शेष बचे वह पिण्डिका होगी, यह पिण्डिका प्रतिमा रहित होगी। जो पिण्डिका सहित प्रतिमा की ऊँचाई होगी। उसमें भी दो भाग प्रतिमा और एक भाग पिण्डिका होती है। यथा–

यो विस्तारो भवेद् यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः।
उच्छायाद्यस्तृतीयांशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता।।
विस्तारार्धं भवेद्गर्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः।
गर्भपादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुमुच्छितम्।।
उच्छ्रायात् पादविस्तीर्णा शाखा तद्वदुदुम्बरः।
विस्तारपादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्।।
त्रिपञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत्प्रशस्यते।
अधः शाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत्।।

---

1. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, श्लोक 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चो पशोभयेत्।
द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका।
द्वौ भागौ प्रतिमा तत्र तृतीयांशश्च पिण्डिका।।[1]

उदाहरणस्वरूप, मेरुद्वार की ऊँचाई 8 हाथ है। उसका अष्टमांश 1 हाथ हुआ। इसको 8 में घटाने से 7 हाथ हुआ। इसमें दो भाग 4 हाथ 16 अंगुल प्रतिमा का प्रमाण और उसी का तीसरा भाग 2 हाथ 8 अंगुल पिण्डिका प्रमाण रखना चाहिए।

इस प्रकार मन्दिर निर्माण की भारतीय पद्धति निश्चय ही हमारे ऋषियों का दिव्य चिन्तन का प्रतिफल ही है। ऋषियों की मन्दिरवास्तु विषयक दिव्य पद्धति हमारे भारतीय वास्तुशास्त्र में विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आज भी इन्हीं दिव्य पद्धतियों से भारत के कोने-कोने में बने हुए दिव्य मन्दिर विश्व के लिए श्रद्धा एवं शान्ति केन्द्र बने हुए हैं।

---

1. **बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, अध्याय 5,6 श्लोक 11 से 16**

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्वारस्थापनविचारः

डॉ. शुभस्मितामिश्रः

अस्मिन् संसारे कीटपतङ्गादितः समारभ्य मानवं यावत् प्रत्येकं जीवः प्रकृतेः नियमेनाबद्धः सन् दुःखानां निवृत्यर्थं सुखप्राप्यर्थञ्च निरन्तरं प्रयत्नशीलो भवति। सुखस्य मूलं गृहे भवति यतोहि मानवस्तत्रैव दानधर्मादिपुण्यप्रदकर्मणा सर्वविधसुखमुपार्जयति। इदमेव कारणं भवति यत् कीटपतङ्गादितः मानवं यावत् जीवः गृहनिर्माणं करोति परन्तु मानवः सर्वश्रेष्ठप्राणी भवत्यतः मानवनिर्मितभवनमपि श्रेष्ठं भवति। गृहस्थानां कृते गृहं परमावश्यकं भवति। गृहे निवासत्वात् मानवः गृहस्थ इत्युच्यते। गृहस्थ एकस्मिन् स्थाने स्थित्वा त्रिवर्गाणामर्थात् धर्मार्थकामानां वहनं तथा धार्मिकसमाजस्य निर्माणं करोति।[१]

केवलगृहनिर्माणादेव गृहस्थः सुखी न भवत्यपितु सुखेन जीवनयापयितुमायव्ययर्क्षांशकचन्द्रतारा-बलानि शास्त्रदृष्ट्या सम्यक्विचार्य गृहपतिः गृहनिर्माणं करोति तेन तस्य परिवारस्यायुर्ध-नारोग्ययशोऽभिवृद्धिर्भवति। मानवशरीरे यथा महत्त्वं नासिकामुखयोः भवति तथैव गृहे द्वारस्य भवति। गृहे यदि कश्चित् दोषः भवति तर्हि तस्य दोषस्य प्रभावः सन्तत्युपरि पतति। अत एव गृहनिर्माणे बहूनां विषयानां विचारः क्रियते। भवनस्य यस्यां दिशि द्वारनिर्माणमभिष्टं भवेत्तस्यां दिशि भवनस्य यद् दैर्घ्यमानं भवति तं नवधा विभज्य पञ्चभागं दक्षिणे तथा भागत्रयं वामभागे विहाय शेषभागे द्वारनिर्माणं शुभं भवति।[२]

भवनस्य पूर्वस्यां दिशि द्वारनिर्माणमभिष्टं भवेत्तर्हि भवनस्य पूर्वभागस्य यद् दैर्घ्यमानं तं नवधा विभज्य वामभागतः तृतीयचतुर्थनवांशे, दक्षिणस्यां दिशि चतुर्थषष्ठनवमांशे, पश्चिमस्यामुत्तरस्यां दिशि च चतुर्थपञ्चमनवमांशे द्वारनिर्माणं शुभं भवति।[३]

---

१. त्रिवर्गसेवी सततं देवतानां च पूजनम्
कुर्यादहरहर्नित्यं नमस्येत् प्रयतः सुरान्।।
विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्।। (कूर्म पुराण 2, अ. 15, श्लो. 25-26)

२. नवभागं गृहं कुर्यात् पञ्चभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कृत्वा शेषे द्वारं प्रकल्पयेत्।। ज्योतिर्निबन्धः

३. दैर्घ्यं नवांशात्पदमत्र सव्याद्द्वारं शुभं प्राक् त्रिचतुर्थभागे।
चतुर्थषष्ठे दिशि दक्षिणस्यां पश्चाच्चतुः पञ्चमके तथोदक्।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

1. गृहेशराशिवशाद्द्वारदिग्विभागः –

वास्तुराजवल्लभग्रन्थानुसारं वृश्चिकमीनसिंहराश्युत्पन्नानां गृहस्वामीनां कृते पूर्वस्यां दिशि कन्यामकरकर्कराश्युत्पन्नानां कृते दक्षिणस्यां दिशि धनुतुलामिथुनराश्युत्पन्नानां कृते पश्चिमस्यां दिशि कुम्भवृषमेषराश्युत्पन्नानाङ्कृते चोत्तरस्यां दिशि गृहस्य द्वारं शुभदायकं भवति। वास्तुमजंरीग्रन्थेऽपि उक्तमतं प्राप्यते परं ज्योतिर्निबन्धे भिन्नं मतं प्राप्यते। अत्र कर्कवृश्चिकमीनराश्युत्पन्नानां गृहस्वामीनां कृते गृहस्य द्वारं पूर्वदिशि, कन्यामकरमिथुनराश्युत्पन्नानां कृते दक्षिणदिशि, तुलाकुम्भवृषराश्युत्पन्नानां कृते पश्चिमदिशि, मेषसिंहधनुराश्युत्पन्नानां कृते उत्तरदिशि च शुभं भवति। एवमेव द्विजवैश्यशूद्रक्षत्रिय-वर्णात्मकानां राशीनां पूर्वादिक्रमेण चतुर्दिक्षु गृहद्वारं कल्याणकरमर्थात् कर्कवृश्चिकमीनराशीनां द्वारं प्राच्याम्, वृषकन्यामकराणां याम्ये, मिथुनतुलाकुम्भराशीनां प्रतीच्याम्, तथा च मेषसिंहधनुराशीनामुदीच्यां द्वारं शुभं भवति। अपराजितापृच्छा ग्रन्थेऽपि एवमेव वर्त्तते।[४] प्रसङ्गेऽस्मिन् वास्तुप्रदीपस्य षड्चत्वारिंशदध्यायेऽपि एतादृशमेव वर्णनं मिलति।[५]

2. आयवशाद् द्वारदिग्विचारः-

सामान्यतया भवनस्य कृते सिंहगजध्वजवृषायाः शुभदायकाः भवन्ति। गजायप्रमाणेन निर्मितभवने दक्षिणपूर्वदिशोः द्वारमुत्तमं भवति। ध्वजायप्रमाणेन निर्मितभवने दक्षिणदिशि द्वारं शुभं भवति परं

---

४. राशीनामलिमीनसिंहभवनं पूर्वानतं शोभनं
कन्याकर्कटनक्रराशिगृहिणां याम्यानतं मन्दिरम्।
राशेर्धन्वितुलायुगस्य सदनं शस्तं प्रतीचीमुखं
पुंसां कुम्भवृषाजराशिजनुषां सौम्याननं स्याद् गृहम्।। (वास्तुराजवल्लभे, अ.1,श्लो.12)
सिंह-मीनाली राशिनां नृणां पूर्वमुखगृहम्।
कर्क-कन्या-मृगेशानां दक्षिणास्यां प्रकारयेत्।।
चाप-युग्म-तुलेशानां पश्चिमाभिमुखं गृहम्।
वृष-मेष-घटेशानां गृहस्याद्दुत्तराननम्।। (वास्तुमञ्जर्यां, अ.1, श्लो.48-49)
यथोक्तं ज्योतिर्निबन्धे-
कुलीरालिझषाणां च पूर्वद्वारं शुभावहम्।
कन्यामकरयुज्मानां दक्षिणद्वारमिष्टदम्।।
तुलाकुम्भवृषाणां च पश्चिमाभिमुखं स्मृतम्।
सौम्यद्वारं शुभाय स्यान्मेषसिंहधनुर्भताम्।।
पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे स्मृतम्।। (बृहद्दैवज्ञरंजने, अ.86, श्लो. 254)

५. स्यात्प्राङ्मुखं ब्राह्मणराशिसद्म वोदङ्मुखं क्षत्रियराशिकानाम्।
वैश्यस्य ज्ञेयं यमदिङ्मुखं हि शूद्राभिधानामथ पश्चिमास्याम्।।
एवमेवाक्तं यथा-"द्वारं द्विजवैश्यशूद्रनृपराशीनां हितं पूर्वतः" (मु.चि.वा.प्र.श्लो.1)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वृषायप्रमाणेन निर्मितभवने दक्षिणदिशि द्वारं शुभदायकं न भवति।[६]

परं ज्योतिर्निबन्धे गर्गेणोक्तं यत् द्वारस्य निर्माणं ध्वजायप्रमाणेन चतुर्दिक्षु, सिंहायप्रमाणेन पश्चिमदिशि, गजायप्रमाणेन पूर्वदक्षिणदिशोः वृषायप्रमाणेन च पूर्वदिशि शुभप्रदो भवति।[७]

ध्वज-सिंह-वृष-गजायेषु चतुर्षु दिक्षु गृहद्वारं कार्यं, सिंहाये प्राच्यां दक्षिणे उत्तरे च द्वारं कार्यं, वृषसंज्ञके आये पूर्वदिशि द्वारं कार्यं तथा च गजसंज्ञके आये प्राच्यां दक्षिणे च द्वारं कार्यम्। ब्राह्मणादिचतुर्षु वर्णेषु क्रमेण ब्राह्मणस्य पश्चिमस्यां, क्षत्रियस्योत्तरस्यां, वैश्यस्य पूर्वस्यां, शूद्रस्य दक्षिणस्यां द्वारं शुभदायकं भवति।[८]

3. मासवशाद् द्वारदिग्विचारः-

फाल्गुनमासे कुम्भराशिगते सूर्ये, श्रावणमासे सिंहस्थे कर्कराशिस्थे च सूर्ये, पौषमासे मकरराशिगतेऽर्के च प्राङ्मुखं द्वारं शुभं भवति। वैशाखमासे वृषे मेषे च गते सूर्ये तथा मार्गशीर्षमासे तुलावृश्चिकयोर्गते सूर्ये दक्षिणोत्तरमुखं द्वारं शुभं भवति। रत्नमालायामपि मुहूर्त्तचिन्तामणिग्रन्थवदेव द्वारविधानं प्राप्यते परं मुहूर्त्तगणपतौ मार्गशीर्षमासे तुलावृश्चिकयोर्गते सूर्ये तथा वैशाखमासे वृषे मेषे च गते सूर्ये केवलं दक्षिणमुखं द्वारं शुभं भवति।[९]

भाद्रपदादारभ्य त्रिषु त्रिषु मासेषु क्रमेण राह्वोः शिरः पूर्वादिचतुर्षु दिक्षु भवत्यर्थात् भाद्रपद-आश्विन-कार्तिकमासेषु पूर्वस्यां, मार्गशीर्षपौषमाघमासेषु दक्षिणस्यां, फाल्गुनचैत्रवैशाखमासेषु पश्चिमस्यां तथा ज्येष्ठ-आषाढश्रावणमासेषूत्तरस्यां दिशि राह्वोः शिरः भवत्यतः शिरदिशि भवनस्य द्वारं

---

६. देयाः सिंहगजध्वजाश्च वृषभा सिंहध्वजौ कुंजरे
सिंहो वै ध्वज इष्यते न वृषभोऽन्यत्रापि देयो बुधैः।। (अ.3, श्लो.17)

७. सर्वद्वारे ध्वजो देयः पश्चिमास्यं विना हरिः।
प्राङ्मुखे दक्षिणे चैव गजः पूर्वमुखे वृषः।।

८. ध्वजादिकाः सर्वदिशि ध्वजे मुखं कार्यं हरौ पूर्वयमोत्तरे तथा।
प्राच्यां वृषे प्राग्यमयोर्गजेऽथवा पश्चादुदक्पूर्वयमे द्विजादितः।। (मु.चि.वा.प्र.श्लो.5)
तथा च-ध्वजे परास्यं विप्राणां राज्ञां सिंहेऽप्युदङ्मुखम्।
गजे शूद्रस्व्य याम्यास्यं दिशः पूर्वमुखं वृषे।। (वास्तुरत्नाकरे, श्लो.7, पृ.80)

९. कर्किनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि।
तौलिमेषवृषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखानि च कुर्यात्।। (रत्नमालायां, अ.17श्लो.14)
तथा च-कुम्भेऽर्के फाल्गुने मासि श्रावणे सिंहकर्कयोः।
पौषे नक्रे गृहं कुर्यात् पूर्वपश्चिमदिङ्मुखम्।।
मार्गे तुलाऽलिगे भानौ वैशाखे वृषभाजयोः।
दक्षिणे दिङ्मुखं श्रेष्ठं मन्दिरं नेष्टमन्यथा।। (मुहूर्त्तगणपतिः, अ.18, श्लो.54-55)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शुभं तथा विपरीतदिशि द्वारनिर्माणं दुःखशोकभकारकं च भवति परं यदि भवनस्य चतुर्दिक्षुद्वारं भवति चेदशुभं न भवति।[१०]

कन्यातुलावृश्चिकराशिशु स्थिते सूर्ये पूर्वस्यां, धनुमकरकुम्भराशिषु स्थिते सूर्ये दक्षिणस्यां, मीनमेषवृषराशिषु स्थिते सूर्ये पश्चिमस्यां तथा मिथुनकर्कसिंहराशिषु स्थिते सूर्ये उत्तरस्यां दिशि वत्सस्य मुखं भवत्यतः वत्सस्य मुखदिशि विपरीते च द्वारनिर्माणमुत्तमं न भवति। सिंहवृषवृश्चिककुम्भराशिसु स्थिते सूर्ये चतुर्षु दिक्षु भवनद्वारनिर्माणमुचितं शुभं च भवति।[११]

4. तिथिवशाद्द्वारनिर्णयः–

भवननिर्माणार्थं मुहूर्तः पूर्णिमातः कृष्णपक्षस्याष्टमीतिथिं यावत् भवति तर्हि पूर्वस्यां, कृष्णपक्षस्य नवमीतः चतुर्दशीतिथिं यावदुत्तरस्यां, अमावस्यातः शुक्लपक्षस्याष्टमीतिथिं यावत् पश्चिमस्यां तथा शुक्लपक्षस्य नवमीतः चतुर्दशीतिथिं यावत् दक्षिणस्यां च द्वारयुक्तं भवनं शुभं न भवति। रामदैवज्ञेनापि स्वकीयमुहूर्त्तचिन्तामणिग्रन्थे द्वारनिर्णयार्थमुपरोक्तमतमेव प्रतिपादितम्।[१२]

5. पदविभागानुरोधेन ब्राह्मणादीनां द्वारविचारः–

वास्तुपदविन्यासानुसारं भल्लाटकुवेरचरकभूधरपदेषु विप्राणां कृते माहेन्द्रपदयुक्तद्वारं, महेन्द्रसूर्य-सत्यार्यकपदेषु क्षत्रियाणां कृते गृहक्षतपदयुक्तद्वारं, यमवैवस्वतगन्धर्वगृहक्षतपदेषु वैश्यानां कृते

---

१०. नभस्यादिषु मासेषु त्रिषु त्रिषु यथाक्रमम्।
पूर्वादिदिक्शिरो वास्तु कुर्यात्तद्दिङ्मुखम्।।
प्रतिकूलमुखं गेहं दुःखशोकभयप्रदम्।
सर्वतो मुखगेहानामेष दोषो न विद्यते।। (ज्योतिर्निबन्धे)

११. कन्यादित्रिषु पूर्वतो यमदिशि त्याज्यं च चापादितो
द्वारं पश्चिमतस्त्रिके जलचरात्सौम्ये रवौ युग्मतः।
तस्माद्वयस्तदिशामुखं तु भवनद्वारादिकं हानिकृत्।
सिंहे चाऽथ वृषे च वृश्चिकघटं याते हितं सर्वतः।।(वास्तुराजवल्लभम्, अ.1,श्लो.9)

१२. पूर्णेन्दुतः प्राग्वदनं नवम्यादिषूत्तरास्यं त्वथ पश्चिमास्यम्।
दर्शादितः शुक्लदले नवम्यादौ दक्षिणास्यं न शुभं वदन्ति।। (मु.चि.वा.प्र.श्लो.17)
तथा च–पूर्णिमातोऽष्टमीं यावत्पूर्वास्यं वर्जयेद्गृहम्।
उत्तरस्यां न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम्।।
अमातश्चाष्टमीं यावत्पश्चिमास्यं विवर्जयेत्।
नवम्यादौ दक्षिणास्यं यावच्छुक्लचतुर्दशीम्।। (वास्तुरत्नाकरे, श्लो.15–16)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुष्पदन्तपदयुक्तद्वारं, वरुणपुष्पदन्तमैत्रनैऋत्यपदेषु शूद्राणां कृते भल्लाटपदयुक्तद्वारं च शुभं भवति।[१३]

6. वर्णानुसारेण वास्तुमुखं द्वारं तत् फलञ्च–

ब्राह्मणानां कृते पूर्वाभिमुखवास्तुः दक्षिणाभिमुखगृहं च सर्वदा धनधान्यवृद्धिकरं, पुत्रपौत्रादितः वंशवृद्धिकरो च भवति। क्षत्रियाणां कृते दक्षिणाभिमुखवास्तुः पश्चिमाभिमुखगृहं च धन्यधान्यविक्रमशौर्यादी-नामभिवृद्धिकरो भवति। वैश्यानां कृते पश्चिमाभिमुखवास्तुः उत्तराभिमुखगृहं च धनधान्यपुत्रपशुधनादीनां वृद्धिकरो भवति। शूद्राणां कृते उत्तराभिमुखवास्तुः पूर्वाभिमुखगृहं च कर्मवृत्तीनां धनधान्यादीनां च वृद्धिकरो भवति।[१४]

7. वास्तुपदक्रमेण द्वारस्थापनं तत्फलञ्च

शिखीतः समारभ्य अन्तरिक्षं यावत् पूर्वस्यामष्टदेवानां स्थितयः भवन्ति तेषु शिखीपदे द्वारं भवति चेदग्निभयम्, पर्ज्जन्यपदे द्वारात् कन्यायाः जन्मः, जयन्तपदे द्वारात् पर्याप्तधनं, इन्द्रपदे द्वारात् नृपस्य प्रसन्नता, सूर्यपदे द्वारात् क्रोधः, सत्यपदे द्वारात् असत्यभाषणं, भृशपदे द्वारात् क्रूरता, अन्तरिक्षपदे द्वारात् चौरभयं च जायते। अनिलतः मृगं यावत् दक्षिणस्यामष्टदेवानां स्थितयः भवन्ति तेषु अनिलपदे द्वारादल्पपुत्रः, पौष्णपदे द्वारात् प्रैष्यं, वितथपदे नीचत्वं, बृहत्क्षतपदे भक्ष्यपानसुतवृद्धिः, याम्यपदे अशुभः, गन्धर्वपदे कृतघ्नता, भृङ्गराजपदे दरिद्रता, मृगपदे सुतवीर्यक्षयश्च भवति। पितृदेवात् पापयक्ष्मा यावत् पश्चिमस्यामष्टदेवानां स्थितयः भवन्ति तेषु पितुः पदे सुतपीडा, दौवारिकपदे शत्रुवृद्धिः, सुग्रीवपदे पुत्रधनयोर्लाभः, कुसुमदन्तपदे पुत्रधनैश्वर्याणां प्राप्तिः, वारुणपदे धनं, असुरपदे राजभयं,

---

१३. भल्लाटे धनटे यद्वा चरके पृथिवीधरे।
ब्राह्मणस्य भवेत् वेश्म माहेन्द्रद्वारमुत्तमम्।।
माहेन्द्रेऽर्केऽथ सत्ये वा आर्यके वा निकेतनम्।
कार्यं गृहक्षतद्वारं क्षत्रियस्य शुभावहम्।।
याम्ये वैवस्वते वापि गान्धर्वेऽथ गृहक्षते।
वैश्यस्य भवनं कार्ये द्वारं पुष्पाह्वये शुभम्।।
वारुणे पौष्पदन्ते वा यद्वा मैत्रेऽथवासुरे।
शूद्रस्य सदनं कार्यं भल्लाटद्वारमुत्तमम्।। (समराङ्गणसूत्रधारः, अ.39, श्लो.2-5)

१४. विप्राणां प्रांङ्मुखं वास्तु गृहं स्याद् दक्षिणामुखम्।
वर्धते धनधान्धेन पुत्रपौत्रैश्च नित्यशः।।
दक्षिणाभिमुखं वास्तु भवनं पश्चिमामुखम्।
क्षत्रियस्य धनं धान्यं विक्रमश्चेह वर्धते।।
वास्तुनः पश्चिमं द्वारं भवनस्योत्तरामुखम्।
तत्रैधते धनैर्धान्यैः पुत्रपश्वादिभिश्च विट्।।
वास्तु स्यादुत्तरद्वारं गृहं पूर्वामुखं तथा।
शूद्रस्य कर्मवृत्तिस्तु धनधान्यैर्विवर्धते।। (समराङ्गणसूत्रधारः,अ.39,श्लो.6-9)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शोषपदे धननाशः तथा पापयक्ष्मापदे रोगञ्च भवति। रोगतः समारभ्य दितिं यावदुत्तरस्यामष्टदेवानां स्थितयः भवन्ति तेषु रोगपदे मृत्युबन्धनं च, सर्पपदे शत्रुवृद्धिः, मुख्यपदे पुत्रधनयोर्लाभः, भल्लाटपदे सम्पूर्णशौर्यादिगुणानां वृद्धिः, सोमपदे पुत्रतः द्वेषः, अदितिपदे स्त्रिया दोषः, दितिपदे दरिद्रता च भवति।[१५]

एकाशीतिपदवास्तुचक्रस्य वहिर्भागे स्थितद्वात्रिंशद्देवपदेषु क्रमशः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिक्षु स्थापितद्वाराणि विषयेऽपराजितपृच्छायां किञ्चित् भिन्नमुक्तम्। ईशपदे निर्मितद्वारं रौद्रकारकं, पर्जन्यपदे स्त्रिवियोगकारकं, जयपदे जयकारकं, महेन्द्रपदे प्रभुत्वकारकं, आदित्यपदे तेजोवृद्धिदं, धर्मपदे शीलसौख्यवृद्धिदं, भृत्यदेवपदेऽन्तरिक्षपदे च सदा सौख्यं, अग्निपदेऽग्निभयं, पूषापदे भयावहं, वितथपदेऽनारोग्यं, गृहक्षते बलदं, यमपदे मृत्युभयं, गन्धर्वपदे धनदं, भृङ्गराजपदे सौख्याभावं, मृगपदे शौर्यदं विक्रमदञ्च, पितृपदेऽऽयुप्रदं, दौवारिके श्रीवृद्धिदं, सुग्रीवपदे कपिबाहुल्येनोपद्रवकारकं, पुष्पदन्ते धनागमं, वरुणपदेऽऽरोग्यं शान्तिप्रदञ्च, असुरपदे धननाशं, शोषपदे हीनवृद्धिकरं, पापयक्ष्मापदे स्वपक्षस्य हानिदं, रोगपदे उच्चाटनं, नागपदे उन्मादरोगस्य भयं, मुख्यपदेऽभिष्टप्रदं, भल्लाटपदेऽर्थवृद्धिदं, सोमपदे हीनवृद्धिदं, पर्वतपदे उद्वेगं, अदितिपदे हानिलाभं, दितिपदेऽभिमानदायकञ्च भवति। यथोक्तम्।[१६]

---

१५. अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण।।
अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन।।
सुतपीडा रिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्यत्।
धनसम्पन्नृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।।
बधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिवैरं सुतेन दोषाः स्त्रिया नैःस्वम्।। (बृ.सं.,वास्तु.,श्लो..72-75)

१६. ईशे रौद्रं भवेद् द्वारं पर्जन्ये स्त्रीवियोगकृत्।
जये विजयदं ख्यातं माहेन्द्रे प्रभुतैधकृत्।।
तेजोवृद्धिः सदादित्ये धर्मे वै शीलतः सुखम्।
सुखदं भृत्यदेवे तु चान्तरिक्षे सदा सुखम्।।
अग्निस्थाने वह्निभयं पूष्णि चैव भयावहम्।
अनारोग्यं तु वितथे बलदं च गृहक्षते।।
मृत्युश्च यमसंस्थाने गन्धर्वे च धनञ्जयः।
भृङ्गराजे नैव सुखं शौर्यं विक्रमदं मृगे।।
आयुःप्रदं पितृपदे श्रीदं दौवारिके तथा।
सुग्रीवे कपिबाहुल्यं पुष्पदन्ते तथार्थदम्।।
आरोग्यशान्ती वरुणे चासुरेऽर्थक्षयप्रदम्।
हीनवृद्धिकरं शोषे पक्षघ्नं पापयक्ष्मके।।
सद्य उच्चाटनं रोगे नागे चोन्मादतो भयम्।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

8. द्वारप्रकारस्तत् फलञ्च

समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थे चतुर्णां द्वाराणां परिचयः प्राप्यते, 1. उत्संगद्वारम्, 2. हीनबाहुद्वारम्, 3. पूर्णबाहुद्वारम्, 4. प्रत्यक्षायद्वारञ्च। अपराजितपृच्छायां त्रयाणां द्वाराणां संज्ञा समाना वर्त्तते केवलं चतुर्थसंज्ञा प्रतिकाय इति भिन्नमस्ति।[१७]

एकस्यां दिशि वास्तुभवनयोः द्वारं उत्संगसंज्ञकम्। इदं सौभाग्यप्रदं, प्रजावृद्धिकरं, धनधान्यविजयप्रदञ्च भवति। वास्तुद्वारे प्रवेशसमये गृहं वामभागे स्यात्तर्हि हीनबाहुसंज्ञकं, इदं द्वारं निन्दितं भवति। अत्र निवासेन गृहकर्तुः स्वल्पवित्तयुक्तः, स्वल्पमित्रेणयुक्तः, अल्पबान्धवेनयुक्तः, स्त्रीजितः, विविधव्याधिभिः पीडितश्च भवति। वास्तुप्रवेशकाले मूलगृहं यदि दक्षिणगतो भवेत्तर्हि प्रदक्षिणप्रवेशत्वात्तत् पूर्णबाहुसंज्ञकं भवति। गृहेऽस्मिन् निवासेन गृहकर्तुः पुत्रपौत्रादिभिः युक्तः, धनधान्यनित्यसुखी च भवति। यस्य भवनस्य वास्तुद्वारं गृहस्य पृष्टभागे भवेत्तत् प्रत्यक्षायसंज्ञकम् वामावर्तप्रवेशत्वादिदं निन्दितो भवति। अपराजितपृच्छाग्रन्थानुसारं उत्तराभिमुखद्वारमुत्संगसंज्ञकं, पूर्वाभिमुखद्वारं पूर्णबाहुसंज्ञकं, पश्चिमाभिमुखद्वारं हीनबाहुसंज्ञकं, दक्षिणाभिमुखद्वारं प्रतिकायसंज्ञकञ्च भवति।[१८]

मुख्येऽभीष्टप्रदं चैव भल्लाटे चार्थवृद्धिकृत।।
वृद्धिश्च क्षीणता सोमे सदोद्वेगस्तु पर्वते।
वृद्धिर्वृद्धिश्चादितौ च दितौ चैवाभिमानकृत्।। (अपराजितापृच्छा, अ.101,श्लो.2-9)

१७. एकस्यामपि शालायां चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः।
निवेश्यद्वारभागाश्च कथ्यन्ते च शुभाशुभाः।।
उत्सङ्गो हीनबाहुश्च पूर्णबाहुस्तथापरः।
प्रत्यक्षायश्चतुर्थश्च निवेशः परिकीर्तितः।। (समराङ्गणसूत्रधारः,अ.41,श्लो.10-11)
तथा च-उत्सङ्गः पूर्णबाहुश्च हीनबाहुस्तथापरः।
प्रतिकाय इति प्रोक्तं प्रतोलीनां चतुष्टयम्।। (अपराजितपृच्छा, अ.83,श्लो.10)

१८. उत्सङ्गः एवदीक्षाभ्यां द्वाराणां वास्तुवेश्मनोः।
स सौभाग्यप्रजावृद्धिधनधान्यजयप्रदः।।
यत्र प्रवेशतो वास्तु गृहं भवति वामतः।
तद्धीनबाहुकं वास्तु निन्दितं वास्तुचिन्तकैः।।
तस्मिन् वसन्नल्पवित्तः स्वल्पमित्रोऽल्पबान्धवः।
स्त्रीजितश्च भवेन्नित्यं विविधव्याधिपीडितः।।
वास्तुप्रवेशतो यत् तु गृहं दक्षिणतो भवेत्।
प्रदक्षिणप्रवेशत्वात् तद् विद्यात् पूर्णबाहुकम्।।
तत्र पुत्रांश्च पौत्रांश्च धनधान्यसुखानि च।
प्राप्नुवन्ति नरा नित्यं वसन्तो ध्रुवम्।।
गृहपृष्ठं समाश्रित्य वास्तुद्वारं यदा भवेत्।
प्रत्यक्षायस्त्वसौ निन्द्यो वामावर्त्तप्रवेशवत्।। (समराङ्गणसूत्रधारः, अ.41,श्लो.12-17)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मार्गवृक्षगृहकोणकूपस्तम्भेभ्यः विद्धः द्वारं अशुभं भवति परं द्वारस्योच्छ्रितेः द्विगुणितभूमिमपास्य वेधकारकवस्तूनां स्थितिः दोषदं न भवति। यदि गृहद्वारं मार्गेण विद्धः भवति तर्हि गृहेशस्य मृत्युकारकं, वृक्षेण कुमारदोषदं, पङ्केन शोकः, अम्बुनिःस्राविणीतः वेधे सति अपव्ययः, कूपेन उन्मादरोगस्योत्पत्तिः, देवताविद्धे सति गृहेशस्य मृत्युः, स्तम्भेन स्त्रीदोषः, ब्रह्मणोऽभिमुखे कुलनाशकारकञ्च भवति।[१९]

10. द्वारविषये विशेषविचारः-

गृहे स्थितद्वारस्य कपाटं स्वयमुद्घाटितो भवति तर्हि उन्मादरोगः, स्वयमनावृत्तं भवति तर्हि कुलनाशः, प्रमाणादधिकं भवति तर्हि राजभयं, प्रमाणादल्पं भवति तर्हि चौरभयं शारीरिककष्टं च जायते। द्वारस्योपरिद्वारं शुभं न भवति। द्वारस्य पृथुत्वं प्रमाणादल्पमशुभकारकं, प्रमाणादधिकं क्षुद्भयं, कुब्जं कुलनाशनं च करोति। द्वारस्य निकटे उदुम्बरवृक्षः गृहपतिं कष्टकरं, गृहेविनतं गृहपतेः मृत्युकरं, गृहात् बाह्यविनतं परदेशे निवासः दिग्भ्रान्तः चौरेण पीडाकरं च भवति।[२०]

अत एव गृहनिर्माणादनन्तरं विधिवद् विचार्य गृहद्वारनिर्माणं क्रियते चेत् गृहस्थः सर्वविधभोगं धर्मार्थकाममोक्षञ्च प्राप्नोति।

एवमेव-उत्तरामुख उत्सङ्गः पूर्णबाहुश्च पूर्वतः।
अपरे हीनबाहुश्च प्रतिकायस्तु दक्षिणे।। (अपराजितपृच्छा, अ. 83, श्लो.11)

१९. मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद्द्विगुणमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय।।
रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्राविणी प्रोक्तः।।
कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्रह्मणोऽभिमुखे।। (बृहत्संहिता, वास्तु., श्लो.76-78)

२०. उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाश।
मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च।।
द्वारं द्वारस्योपरि यत्तन्न शिवाय सङ्कटं यच्च।
आव्यात्तं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति।।
पीडाकरमतिपीडितमन्तर्विनतं भवेदभावाय।
वाह्यविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभिः पीडा।। (बृ.सं.,वास्तुविद्या,श्लो.79-81)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चितौड़ कीर्तिस्तम्भ का वास्तुशास्त्रीय विवेचन

डॉ. उमाशंकर

भारत में मेवाड़ का इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण रहा है। यहाँ के राजाओं ने देश, जाति और धर्म की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व तक न्यौछावर कर दिया। इन महाराणाओं में कुम्भा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रथम चरण मेवाड़ के महाराणा कुम्भा (1433-1468 ई.) से आरम्भ होता है। वे साहित्य और कला को उदारतापूर्वक आश्रय ही नहीं देते थे, अपितु स्वयं भी अत्यन्त उच्चकोटि के कलामर्मज्ञ, संगीतज्ञ, कवि और विद्वान् थे। कुम्भा वास्तव में अकबर (1556-1605 ई.) और शाहजहाँ (1628-1658 ई.) से पहले मध्यकाल के सबसे बड़े स्थापत्य-निर्माता थे। महाराणा कुम्भा एक महान् आश्रयदाता थे, जिनमें सूत्रधार मण्डन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके पूर्वज गुजरात के रहने वाले थे। ये महाराणा कुम्भा के पूर्व अर्थात् मोकल के समय में ही मेवाड़ में अपने पिता के साथ आकर बसे थे। 'रूपमण्डन' में स्वयं मण्डन ने अपने पिता का नाम 'क्षेत्र' बतलाया है और अपना स्थान मेदपाट (मेवाड़) बतलाया है-

श्रीमद्देशे मेदपाटाभिधाने क्षेत्रारव्योऽभूत् सूत्रधारो वरिष्ठः।
पुत्रोज्येष्ठो मण्डनस्तस्य तेन प्रोक्तं शास्त्रं मण्डनं रूपपूर्वम्।।[1]

मण्डन महारणा कुम्भा के काल और आश्रय में विख्यात हुए। यह तथ्य मण्डन के एक अन्य ग्रन्थ 'राजवल्लभ' से ज्ञात होता है। इसमें लिखा है -

श्रीमेदपाटे नृपकुम्भकर्णस्तदङ्घ्रिराजीवपरागसेवी।
स मण्डनाख्यो भुवि सूत्रधारस्तेनोद्धृता भूपतिवल्लभोऽयम्।।[2]

मण्डन न केवल सूत्रधार अपितु शास्त्रज्ञ और शास्त्र-प्रणेता भी थे। इन्होंने शास्त्र और लोक में शिल्प और वास्तु के सम्बन्ध में जो स्वस्थ और उपयोगी मान्यताएँ व परम्पराएँ थी। उन सबका सम्यक् अध्ययन करके तथा उनके प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाकर वास्तु और शिल्प के कई ग्रन्थों

---

1. रूपमण्डन, अध्याय-6, श्लोक-40, पृ. 209
2. राजवल्लभ-मण्डन, 14/42, पृ. 248

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की रचना की। इनमें देवतामूर्तिप्रकरण, प्रासाद-मण्डन, रूपमण्डन, वास्तुमण्डन, वास्तुसार, वास्तुशास्त्र और राजवल्लभ प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।[3] मण्डन के छोटे भाई नाथ ने वास्तुमञ्जरी नामक ग्रन्थ की रचना की। मण्डन ने अपने आश्रयदाता कुम्भा का वर्णन बड़े ही गौरव के साथ किया है। वे राजा के प्रिय पात्र थे। वे सम्भवतः कुम्भलगढ़ क्षेत्र में नियुक्त थे। कुम्भलगढ़ का सुदृढ़ दुर्ग उसकी कीर्ति का स्मरण दिलाता है।

कीर्तिस्तम्भ की वास्तुकला

(1) निर्माण काल :

महाराणा कुम्भा ने कीर्तिस्तम्भ के स्थापत्य पर भी एक ग्रन्थ की रचना की। इसको पाषाण शिलाओं पर खुदवाकर कीर्तिस्तम्भ की जगती के चारों ओर लगवा दिया गया। कालान्तर में ये शिलाएँ टूट-फूट गयी, केवल पहली शिला का एक भाग ही पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को मिला और अब यह उदयपुर के विक्टोरिया हॉल संग्रहालय में सुरक्षित है। इस आंशिक अभिलेख में 15 पंक्तियाँ हैं। इसके प्रारम्भ में भगवान् विष्णु का स्मरण किया गया है। यद्यपि मेवाड़ के राणाओं के कुलदेव एकलिंग शिव थे किन्तु कुम्भा स्वयं परम-वैष्णव थे। इस कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति में इसके निर्माण की तिथि इस प्रकार दी गई है-

पुण्ये पञ्चदशे शते व्यपगते पञ्चाधिके वत्सरे
माघे मासि वलक्षपक्षदशमी देवेज्यपुष्यागमे।
कीर्तिस्तम्भमकायन्नरपतिः श्रीचित्रकूटाचले
नानानिर्मितनिर्जरावतरणैर्मेरोर्हसंतं श्रियम्।।[4]

अर्थात् कुम्भा ने चित्रकूट के दुर्ग पर यह कीर्तिस्तम्भ बृहस्पतिवार माघ मास की दशमी शुक्ल को वि.सं. 1505 (1448 ई.) जब पुष्य नक्षत्र था, बनवाया। इसमें नाना प्रकार की देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं जिनके कारण यह मेरू से भी अधिक सुन्दर लगता है।

इसका निर्माण-काल वि.सं. 1496 से 1516 तक माना जाता है। इसकी परिसमाप्ति यद्यपि वि.सं. 1505 माघ सुदि दशमी को हो गयी थी किन्तु इस पर निर्माण कार्य आगे भी चलता रहा है। इसकी पुष्टि इसमें लगे शिलालेखों से होती है। इसमें कई लघुलेख भी लगे हैं। ये लघुलेख सूत्रधार जइता आदि से सम्बन्धित है। इन शिलालेखों में सबसे पहला वि.सं. 1499 फाल्गुन शुक्ल पञ्चमी का है। इसमें कुम्भा के राज्य में समाधिश्वर को जइता उसके पुत्र नापा पूञ्जा आदि द्वारा प्रणाम करना उल्लेखित है। इससे यह निश्चित है कि उक्त संवत् के पूर्व वह भाग अवश्य बन

---

3. श्री उपेन्द्रमोहन देव शर्मा द्वारा सम्पादित-देवतामूर्तिप्रकरण एवं रूपमण्डन की भूमिका, पृ. 3
4. रामवल्लभ सोमानी-महाराणा कुम्भा, कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, श्लोक-185, पृ. 275

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चुका था। इसी दूसरी मञ्जिल में जाली के पास वि.सं. 1507 श्रावणसुदि एकादशी के 3 पंक्तियों के लघु लेख में भी कुम्भा द्वारा कीर्तिस्तम्भ निर्माण कराने का उल्लेख है। वि.सं. 1510 के एक लेख में सूत्रधार पोमा का उल्लेख है। चौथी मञ्जिल में लगे लेख में वि.सं. 1510 का श्रावणसुदि एकादशी का लघुलेख है। इसमें सूत्रधार जइता के साथ-साथ उसके पुत्र नापा, भूमि, चूथी आदि का उल्लेख है। वि.सं. 1515 चैत्र शुक्ल सप्तमी के लेख में समाधिश्वर के भक्त महाराणा कुम्भा द्वारा कीर्तिस्तम्भ बनाना उल्लेखित है। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि चितौड़ के अन्य निर्माण कार्य मुख्य द्वार, राणापोली कुम्भश्याम मन्दिर भी इसी जइता परिवार ने बनाया था। वि.सं. 1516 का एक और लघु लेख कीर्तिस्तम्भ पर उपलब्ध है। अतएव इन अवतरणों से पता चलता है कि कीर्तिस्तम्भ पर मूर्तियों को खोदने और लगाने का कार्य वि.सं. 1516 तक बराबर चलता रहा था और पूर्ण होने पर विस्तृत प्रशस्ति वि.सं. 1517 में वहाँ लगाई थी अन्यथा वि.सं. 1517 में वहाँ पुनः प्रशस्ति लगाने का काई कारण प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वि.सं. 1505 इसके विधिवत् शास्त्रीय प्रतिष्ठा की तिथि है और इसका निर्माण काल वि.सं. 1439 से 1460 के मध्य निश्चित किया जा सकता है। सैंकड़ों मूर्तियों से सज्जित पत्थर के इस विशाल, नवखण्ड कीर्तिस्तम्भ के बनने में लगभग 20 वर्ष का समय अवश्य लगा होगा।[5]

(2) वास्तुशास्त्रीय विवेचन

महारणा कुम्भा की सबसे प्रमुख स्थापत्य कृति चितौड़ स्थित कीर्तिस्तम्भ है। यह चितौड़ के अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थल गौमुख-कुण्ड के उत्तर-पूर्वी कोण पर स्थित है। यहीं पर समाधीश्वर शिव-मन्दिर और चक्रस्वामी का भग्न मन्दिर है।[6] वस्तुतः यह स्थल प्राचीन काल से अत्यन्त पवित्र समझा जाता था अत एव चितौड़ के अधिष्ठाता राजा अपने-अपने मान्य देवताओं की पूजा-अर्चना के लिए यहाँ निरन्तर मन्दिरों का निर्माण कराते रहे। निश्चय ही इस स्थल का यह धार्मिक महत्त्व गौमुख-कुण्ड के कारण हुआ।

कीर्तिस्तम्भ वेदिका युक्त 12 फुट ऊँची और 42 फुट चौड़ी एक चौकोर जगती पर स्थित है। मध्य का भाग गोल न होकर चतुरस्त्र है। यह नौ मञ्जिला, आधार से 30 फुट चौड़ा और लम्बाई में 122 फुट है।[7] इसके निर्माण में पीले पत्थर (लाइमस्टोन व क्वार्ट्ज) का प्रयोग किया गया है। अन्दर नवम खण्ड तक जाने के लिए प्रत्येक खण्ड में विभिन्न प्रकार से सीढ़ियों की व्यवस्था की गयी है, इसे सोपान पद्धति कहते हैं। प्रथम सात खण्डों में से प्रत्यक के मध्य में मुख्य स्तम्भ है जिसके चारों ओर सँकरा गलियारा घूमता है। यह मुख्य स्तम्भ द्वितीय खण्ड से सप्तम खण्ड

---

5. आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स ऑफ इण्डिया, वर्ष 1872-73, पृ. 104-116
6. डॉ. रामनाथ, एन्टीक्विटीज ऑफ चितौड़गढ़, पृ. 1-22
7. रामवल्लभ सोमानी-महाराणा कुम्भा, पृ. 275

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तक खुला हुआ है। कीर्तिस्तम्भ को मूल 12 स्तम्भों (प्रत्येक दिशा में चार-चार) और इस मुख्य स्तम्भ पर टिकाया गया है और इन्हीं के आधार पर यह ऊपर चढ़ा है। यही इसकी निर्माण योजना है। आठवें खण्ड में भी चतुरस्त्र योजना रखी गयी है। नवें खण्ड की योजना अष्टास्त्र है किन्तु भार मूलतः उन्हीं 12 खम्भों में से आठ पर ही टिकाया गया है।

कीर्तिस्तम्भ के उर्ध्वछन्द की संकल्पना मन्दिर के ऊर्ध्वछन्द की तरह की गयी है। सबसे नीचे भिट्ट है। उसके ऊपर क्रमशः जाड्यकुम्भ, कर्णक और ग्रास-पट्टिका है। ग्रास पट्टिका पर कीर्तिमुखों की शृंखला उत्कीर्ण है। उसके ऊपर नरथर है जिस पर लोक-जीवन का प्रदर्शन हुआ है। ये सब मन्दिर के ऊर्ध्वछन्द की पीठ के शास्त्रोक्त भाग है किन्तु यहाँ गजथर और अश्वथर नहीं है। इसके अन्तर्गत ही मण्डोवर को सम्मिलित कर लिया गया है और नरथर के ऊपर ही वेदीबन्ध और जंघा भाग बनाये गए हैं। वेदीबन्ध के खड़े फलकों पर क्रम से घटपल्लव और लहरवल्लरी के रूपांकन, नृत्य और ललित मुद्राओं में देवांगना और गन्धर्व मूर्तियाँ प्रदर्शित की गयी है। वातायनों को सुन्दर जाली फलकों से बन्द किया गया है। अन्दर के मूल-स्तम्भ को, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा हेतु संकीर्ण पथ है, गर्भगृह मानकर ऊपर चढ़ाते चले गए हैं और अन्त में इसे शिखर से आच्छादित कर दिया है। इस मूल-स्तम्भ को ही मूल-प्रासाद मानकर उसके सात खण्डों में चारों ओर देव-मूर्तियों का संयोजन किया गया है। बाहर की ओर से मण्डप विधान बनाये रखा गया है। वास्तव में कीर्तिस्तम्भ मन्दिर का ही एक रूप है। अन्तर इतना है कि मन्दिर तलच्छन्द पर बिछाया जाता है, यहाँ इसे ऊर्ध्वछन्द पर चढ़ाया गया है क्योंकि इसे कीर्तिस्तम्भ के रूप में प्रस्तुत करना था।[8]

प्रथम खण्ड (जनार्दन, अनन्त, रुद्र और ब्रह्मा) :

कीर्तिस्तम्भ के प्रथम खण्ड में मुख्य स्तम्भ पर जनार्दन, अनन्त, रूद्र और ब्रह्मा की विशाल चतुर्भुज प्रतिमाएँ अपने-अपने आयुधों सहित उत्कीर्ण की गयी हैं। कीर्तिस्तम्भ का प्रवेश द्वार दक्षिण की ओर है। दक्षिण दिशा में यम का वास होने के कारण प्रायः दक्षिण में प्रवेश द्वार नहीं बनाए जाते हैं किन्तु यह कीर्तिस्तम्भ जनार्दन विष्णु को समर्पित है और जनार्दन की प्रतिमा को शास्त्र के अनुसार दक्षिण में ही दिखाया गया है।[9] इस प्रवेश द्वार से अन्दर आते ही दक्षिणी गलियारे में जनार्दन विष्णु की प्रतिमा के दर्शन होते हैं। यह एक सुन्दर रथिका में निर्मित है और पद्मासन मुद्रा में है। विष्णु का जनार्दन व्यूह उनकी चतुर्विंशति मूर्तियों में से एक है। यह प्रतिमा चतुर्भुज है, ऊपर के हाथों में गदा और चक्र है, नीचे के हाथ टूटे हुए हैं। अपराजितपृच्छा और रूपमण्डन में यही

---

8. डॉ. नीलिमा मित्तल-कुम्भाकालीन कीर्तिस्तम्भ का प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 13-14
9. रूपमण्डन, भूमिका, पृ. 59
10. जनार्दनोऽम्बुजं चक्रं कम्बुं कौमोदकीं दधौ। (रूपमण्डन, 3/16, पृ. 136)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लाञ्छन बनाने का निर्देश है।[10] अनन्त विष्णु का प्राचीन शास्त्रीय रूप है जिसका वर्णन विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मिलता है। रूद्र शिव के रूप हैं किन्तु अलग से प्रतिमाशास्त्र में इनका विवेचन नहीं हुआ है। अपराजितपृच्छा में एकादशरुद्रों का वर्णन है। ब्रह्मा की पद्मासन मूर्ति है। ये चतुर्भुज हैं और इनके हाथों में अक्षमाला, कमण्डलु, कमल और पाण्डुलिपि है।[11]

इस प्रकार इस खण्ड में ब्रह्मा, विष्णु और महेश अर्थात् हिन्दू धर्म के तीनों देवाधिदेव प्रमुख रूप में दिखाए गए हैं। विष्णु के जनार्दनरूप को यह स्तम्भ समर्पित करते हुए उनकी प्रतिमा बनायी गयी है। इस खण्ड के बाहर लहरवल्लरी और घटपल्लवों के रूपांकनों के सथ क्रम से गन्धर्व और देवांगनाओं को लीला-विलास मुद्राओं में दिखाया गया है।

द्वितीय खण्ड (संयुक्त प्रतिमाएँ एवं अष्ट दिक्पाल) :

कीर्तिस्तम्भ के द्वितीय खण्ड में मुख्य स्तम्भ के मध्य में दक्षिण दिशा में हरिहर, उत्तर में अर्धनारीश्वर और पूर्व में हरिहर-पितामह की संयुक्त प्रतिमाओं का आसन मुद्रा में अंकन हुआ है। हरिहर चतुर्भुज हैं और हाथों में त्रिशूल, बीजापूर, शंख और चक्र हैं। इनके वाहन गरूड़ और नन्दी दिखाए गए हैं। हरिहर शिव और विष्णु के मिश्रित रूप हैं, जो वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में एकता स्थापित करते हैं और धार्मिक सद्भाव के प्रतीक हैं।[12]

इन शास्त्रीय देव प्रतिमाओं के दोनों पार्श्वों में क्रम से अष्ट-दिक्पालों का प्रदर्शन हुआ है : अग्नि और यम दक्षिण दिशा में, भैरव और वरुण पश्चिम में, वायु और धनद उत्तर में और ईश्वर व इन्द्र पूर्व में। यहाँ इनका अंकन शास्त्र को दृष्टि में रखकर ही हुआ है किन्तु इस विधान में समयानुकूल परिवर्तन किया गया है। जैसे अग्नि की चार डाढें या तोते नहीं दिखाये गए हैं और न ही उन्हें अपने वाहन मेष पर बैठा हुआ दिखाया गया है। यहाँ उनकी बड़ी सरल मूर्ति बनी है। इसी प्रकार भैरव, वरुण, वायु, धनद (कुबेर), ईश्वर (ईशान्) और इन्द्र (पुरन्दर) की भी बड़ी सरल प्रतिमाएँ हैं।[13]

द्वितीय खण्ड के बाहर वेदीबन्ध पर 28 मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। जंघा भाग पर 8 देवांगनाएँ प्रदर्शित की गयी है किन्तु इस खण्ड के बाह्य मूर्तियोजना की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें प्रत्येक कर्ण के दोनों ओर एक-एक सपत्नीक दिक्पाल उत्कीर्ण किए गए हैं और इस प्रकार यहाँ अष्ट दिक्पालों का सपत्नीक प्रदर्शन हुआ है। ये दिक्पाल वास्तव में अत्यन्त प्राचीन वैदिक देवता हैं जिन्हें पौराणिक धर्म में दिशा-देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित किया गया और

---

11. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 44/5-8, पृ. 158
12. रूपमण्डन, 4/30-33, पृ. 159
13. रूपमण्डन, 2/31-38, पृ. 129-131

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उसी प्रकार उन्हें भारतीय प्रतिमा शास्त्र में मान्यता दी गयी। इस खण्ड में जाली के ठीक ऊपर एक बड़ी रथिका में एक-एक देवी प्रतिमा आसन मुद्रा में प्रदर्शित की गयी है : दक्षिण दिशा में कमलासन लक्ष्मी, पश्चिम में पार्वती, उत्तर में सरस्वती और पूर्व में सावित्री। सभी चतुर्भुज हैं और अपने-अपने आयुध लिए हुए हैं। वास्तव में यह मन्दिर की शुकनासा का भाग है। चतुरस्र योजना के अनुसार यहाँ ये शुकनासाएँ चारों ओर बनायी गयी हैं और ठीक उनके ऊपर एक-एक शार्दूल (सिंह) मूर्ति लगायी गयी है। इस प्रदर्शन से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि कीर्तिस्तम्भ को वास्तव में मन्दिर की योजना पर ही बनाया गया है।

तृतीय खण्ड (संयुक्त एवं वेदादि मूर्तियाँ) :

कीर्तिस्तम्भ के तृतीय खण्ड में मुख्य स्तम्भ की दक्षिणी भित्ति पर जयन्त-नारायण, पश्चिमी पर चन्द्रार्क पितामह और पूर्वी भित्ति पर विरंचि की भव्य और विशाल प्रतिमाएँ हैं। उत्तरी दिशा में द्वार है जिसके दोनों ओर अरबी में 'अल्लाह' खुदा हुआ है। जयन्त-नारायण विष्णु का रूप है और उन्हें छः हाथों में चक्र, वरद, अक्षमाला, गदा आदि आयुध लिए हुए, अपने वाहन गरुड़ सहित पद्मासन पर विराजमान दिखाया गया है।[14] चन्द्रार्क-पितामह चतुर्मुख हैं। इनके छः हाथ शास्त्रोक्त आयुधों सहित दिखाए गये हैं।[15] विरंचि हरिहर-पितामह का स्वरूप है जो पद्मासन हैं। सामने का मुख दाढ़ी-युक्त हैं। छः हाथ हैं जिनमें चक्र, पद्म, त्रिशूल, कमण्डलु आदि हैं।[16] इस प्रकार यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों की संयुक्त प्रतिमाओं का आसन मुद्रा में पूर्ण शास्त्रीय रूपों में बड़ा प्रभावशाली प्रदर्शन हुआ है। 'अल्लाह' का प्रयोग सम्भवतः धार्मिक समन्वय की भावना का परिचायक है। भारतीय देव परम्परा में 'अल्लाह' को सम्मिलित करने के प्रश्न पर शायद गम्भीर विचार चल रहा था। इसी विचारधारा से प्रभावित होकर 15वीं शताब्दी में ही 'रहमाण-प्रासाद' शीर्षक से मस्जिद बनाने के विधान का भी शास्त्रीयकरण किया गया।

इस खण्ड में बाहर झरोखों के दोनों ओर कमनीय स्थानक मुद्रा में पूर्ण पुरुष रूप में समस्त वस्त्राभूषणों सहित चतुर्वेदों, द्विपक्षों और सावित्री-मृत्युराज की मूर्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। दक्षिण दिशा में अथर्ववेद और शुक्लपक्ष, पश्चिम में कृष्ण-पक्ष और मृत्युराज, उत्तर में सावित्री और ऋग्वेद, पूर्व में यजुर्वेद और सामवेद की मूर्तियाँ हैं। इनके बनाने का उद्देश्य सांस्कृतिक पुनरूत्थान था। लोग अपनी प्राचीन संस्कृति के मूल बिन्दुओं को भूल रहे थे। उन्हें वैदिक परम्पराओं का स्मरण कराना और लोक जीवन से फिर इस प्राचीन विचारधारा को जोड़ना इन्हें यहाँ मूर्तिमान् करने का उद्देश्य था। वेदों और अन्य ग्रन्थों व विधाओं के मूर्तिकरण के विषय में प्रतिमा-शास्त्र मौन हैं।

---

14. रूपमण्डन, 3/23, पृ. 137
15. अपराजितपृच्छा, 231/35-36, पृ. 546
16. अपराजितपृच्छा, 214/5, पृ. 547

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ देवताओं की प्रतिमा बनाने के सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेश निश्चित थे और उनका पालन प्रायः होता था, अन्य मूर्तियों के सम्बन्ध में जिनके विषय में प्रतिमा-शास्त्र मौन हैं, कलाकार यथारूचि अधिक से अधिक सुन्दर और प्रभावशाली मूर्ति बनाने के लिए स्वतन्त्र था। इसलिए ही इन चारों वेदों की मूर्तियाँ ऐसी अद्भुत और अलौकिक बनायी गयी हैं।[17]

चतुर्थ खण्ड (देवी एवं युगादि प्रतिमाएँ) :

कीर्तिस्तम्भ का चतुर्थ खण्ड देवी खण्ड है, जिसमें भारतीय प्रतिमा-शास्त्र की देवियों का अंकन हुआ है। इसमें दुर्गा के नौ (महालक्ष्मी, नन्दा, क्षेमंकरी, शिवदूती, महाचण्डा, भ्रमरी, सर्वमंगला, रेवती, हरिसिद्धि) रूपों का प्रदर्शन हुआ है। इनके प्रदर्शन में लाञ्छनों का पालन शास्त्रानुसार किया गया है।[18] इसके पश्चात् पञ्चलीलाओं (लीला, सुलीला, लीलांगी, ललिता और लीलावती) का प्रदर्शन है। अपराजितपृच्छा में वर्णित लाञ्छनों का पालन किया गया है।[19] इसके पश्चात् पश्चिमी दीवार पर ही क्रम से उमा, पार्वती, गौरी, ललिता, श्रियोत्तमा, कृष्णा, हेमवती, रम्भा और सावित्री की मूर्तियाँ हैं जो गौरी के नौ रूप हैं। तीन अन्य रूप त्रिखण्डा, तोतला और त्रिपुरा उत्तर दिशा में ऋतुओं के साथ दिखाएँ गए हैं। इस प्रकार गौरी के बाहर शास्त्रीय रूपों का प्रदर्शन यहाँ किया गया है। गौरी के इन बारह रूपों के विषय में अपराजितपृच्छा में विस्तार से बतलाया गया है।[20] इन शास्त्रीय मूर्तियों के अतिरिक्त इस खण्ड में षट्ऋतुओं, गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण है। ऋतुओं की मूर्तियाँ बनाने का निर्देश शास्त्र में नहीं है परन्तु इनमें वसन्त, हेमन्त और ग्रीष्म को पुरुष रूप में तथा शिशिर, शरद् और वर्षा को स्त्री रूप में बनाया गया है। गंगा-यमुना का रूपांकन परम्परा से मन्दिरों के द्वार पर होता आया है। यहाँ इन मूर्तियों को देवी के समकक्ष स्थापित किया गया है क्योंकि 15वीं शताब्दी तक ये मूल रूप से लोकधर्म का प्रतिनिधित्व करने लगी थीं।

इस प्रकार इस खण्ड में कुल 39 मूर्तियाँ हैं। जिनमें 12 गौरी, 9 दुर्गा, 5 लीला, 6 ऋतुएँ, 3 नदी और 4 अन्य है। इन चार अन्य मूर्तियों में गन्धर्व, विश्वकर्मा और कार्तिकेय पुरुष मूर्तियाँ हैं। विश्वकर्मा वास्तु के प्रणेता हैं इसलिए उनका प्रदर्शन हुआ है। गन्धर्व मूर्ति आलंकारिक है। चौथी मूर्ति जो पश्चिमी दीवार के ठीक मध्य में स्थित है हिंगुलाज की है। ये अत्यन्त प्राचीन और विख्यात शाक्त लोकदेवी हैं जिनका मन्दिर आज भी पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रान्त में स्थित है जहाँ अब भी उनकी पूजा अर्चना होती है। इनका प्रदर्शन कीर्तिस्तम्भ में पश्चिमी दिशा में करने

---

17. डॉ. नीलिमा मित्तल-कुम्भाकालीन कीर्तिस्तम्भ का प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 117
18. अपराजितपृच्छा, 222/25-36, पृ. 572-73
19. अ.पृ., 222/20-24, पृ. 572
20. अपराजितपृच्छा, 222/6-19, पृ. 571-72

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

का उद्देश्य हिंगुलाज की भौगोलिक स्थिति की ओर संकेत करना है। इस खण्ड में केवल हिंगुलाज ही आसनस्थ है अन्य सभी मूर्तियाँ स्थानक मुद्रा में हैं। स्पष्ट है इन्हें इस खण्ड की प्रमुख देवी का स्थान दिया गया है। इन सभी मूर्तियों के नीचे उनके नाम देवनागरी लिपि में अंकित किए गए हैं जिनसे उनको पहचाना भी जा सकता है। इस प्रकार यहाँ मध्यकालीन मूर्तिकला के शास्त्र और उसके प्रयोग, अभ्यास व व्यवहार के दोनों ही पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं जो प्राचीन शास्त्र परम्पराओं के मध्यकाल में पुनरूद्धार की दिशा में एक ठोस प्रयत्न था।[21]

पञ्चम खण्ड (आयुध पुरुष) :

कीर्तिस्तम्भ का पञ्चम खण्ड आयुध खण्ड है जिसमें मुख्य स्तम्भ की चारों भित्तियों पर भारतीय प्रतिमाशास्त्र के परम्परागत आयुधों को मूर्तिमान् किया गया है। यहाँ 48 आयुधों का प्रदर्शन हुआ है जो शास्त्रोक्त 36 आयुधों से अधिक हैं। अपराजितपृच्छा में 36 आयुधों का उल्लेख हुआ है।[22] ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। इनको स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में दिखाया गया है। एक हाथ में वह आयुध स्थानक भी हैं। लगभग ये सभी द्विभुज हैं। एक हाथ में वह आयुध अवश्य है जिसकी मूर्ति बनी है। दूसरा हाथ वरद या अभय मुद्रा में अक्षमाला सहित अंकित किया गया है। अपराजितपृच्छा में देवी-देवताओं के आयुधों का अलग से उल्लेख तो किया गया है किन्तु उसमें इनकी मूर्ति बनाने का निर्देश नहीं है। कुम्भा के मूर्तिकारों ने यह विशिष्ट कार्य स्वयं ही किया है। निस्सन्देह इनका प्रदर्शन बड़े सुन्दर और प्रभावशाली रूपों में किया गया है। आयुध देवी-देवताओं की विशिष्ट शक्तियों, गुणों और हेतुओं के परिचायक हैं। प्रतिमा-शास्त्र की अधिकांश कल्पनाएँ पौराणिक हैं और आयुधों के प्रतीकों का विश्लेषण भी पुराणों की पृष्ठभूमि में ही किया जा सकता है। जैसे कमण्डलु जल में सृष्टि का प्रतीक है, ब्रह्मा सृष्टिकर्ता है अतः सृष्टि के प्रतीक-स्वरूप जल को वे कमण्डलु में धारण करते हैं। अक्षमाला काल की प्रतीक है। चक्र सूर्य के और गदा चन्द्रमा का प्रतीक है और इनकी गति के स्वामी विष्णु के हाथों में इसलिए चक्र और गदा दिखाये जाते हैं। त्रिशूल सत्व, रजस् और तमस् तीनो गुणों का रूप है। दण्ड मृत्यु का रूप है। कालक्रम में इन प्रतीकों का विकास होता रहा है। साहित्य में जो बात शब्दों द्वारा वर्णित करके बतायी जाती है, वही मूर्तिकला में इन आयुधों के प्रदर्शन से एक दृष्टि में ही स्पष्ट हो जाती है। कीर्तिस्तम्भ में इन आयुधों की मूर्तियाँ बनाकर कुम्भा ने कलाशास्त्र में उनके महत्व को दर्शाया है।

इस खण्ड में नीचे की श्रृंखला में लोक मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी है जिनमें तत्कालीन जीवन का प्रदर्शन हुआ है। इसी में कीर्तिस्तम्भ के स्थपति जइता और उसके पुत्रों की मूर्तियाँ है।

---

21. डॉ. नीलिमा मित्तल-कुम्भाकालीन कीर्तिस्तम्भ का प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 48
22. अपराजितपृच्छा, 235/10-13, पृ. 598

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तरी भित्ति पर रामायण के पात्र राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव आदि की और पूर्वी भित्ति पर महाभारत के पात्र युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव और द्रौपदी की मूर्तियाँ दिखाई गयी हैं। इनकी मूर्तियाँ बनाने का उद्देश्य लोक-धर्म और लोक-संस्कृति को शास्त्रीय कला धारा से अभिन्न रूप से जोड़ना था जिससे यह कला मात्र शास्त्र की वस्तु न रह जाए, वह जनसाधारण के व्यवहार में भी घुल मिल जाए।

षष्ठ खण्ड (शैव मूर्तियाँ) :

कीर्तिस्तम्भ का षष्ठ खण्ड शिव खण्ड है जिसमें विभिन्न रूपों में शिव, शिव-परिवार और अष्ट शैव दिक्पाल (प्रतिहार अथवा शिवगण) दिखाए गए हैं। अपराजितपृच्छा में शिव के आठ प्रतिहार (भृंगीगण, महाकालगण, पाण्डुरगण, सितगण, असितगण, नंदीगण, हिरम्बगण और दुर्मुखगण) लाञ्छन सहित वर्णित हैं।[23] दिक्पालों की प्रतिमाएँ बड़ी सुन्दर, कलात्मक और भव्य बनायी गयी हैं। सभी स्थानक, चार अथवा छः हाथों और अपने-अपने आयुधों सहित उत्कीर्ण हैं। द्वार शाखाओं पर भी इनकी लघु आकृतियाँ बनायी गयी हैं। इनके अतिरिक्त इस खण्ड में अष्ट दिक्पालिकाओं की प्रतिमाएँ भी प्रदर्शित की गयी हैं। इस खण्ड में अष्ट दिक्पालिकाओं (आग्नेयी, यमी, भैरवी, वारुणी, वायवी, कौवेरी, ईश्वरी, इन्द्राणी) की प्रतिमाएँ भी प्रदर्शित की गयी हैं।[24] इनको मध्य में स्थित महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली से उसी प्रकार सम्बद्ध किया गया है जैसे द्वितीय खण्ड में अष्ट दिक्पालों को हरिहर-पितामह, अर्धनारीश्वर और हरिहर के साथ दिखाया गया है। स्पष्ट ही यह सब उस व्यवस्थित योजना के अन्तर्गत हुआ है जिसके अनुसार जगत् की तीन अवस्थाओं अर्थात् सृजन, पालन और संहार के प्रतीक त्रिदेव और त्रिदेवियों को दिक्पालों और दिक्पालिकाओं के साथ प्रदर्शित करना अभीष्ट था। यह भारतीय दर्शन और धर्म की मूल अवधारणा थी जिसे इन प्रतिमाओं को शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में उत्कीर्ण करके कीर्तिस्तम्भ का स्थपति मध्यकाल में पुनः स्थापित कर रहा था।

यद्यपि यह विशाल स्तम्भ कुम्भा ने अपने इष्टदेव विष्णु को उनके जनार्दन रूप में समर्पित किया है तथापि इसमें कहीं भी शैव प्रतिमाओं के महत्व को कम रखने का प्रयत्न नहीं किया गया है और यह खण्ड तो पूर्णरूपेण शैव धर्म को ही समर्पित किया गया है।

सप्तम खण्ड (दशावतार) :

कीर्तिस्तम्भ के सप्तम खण्ड में मूल-स्तम्भ की चारों भित्तियों पर विष्णु के अवतार दिखाए गए हैं, इसलिए इस खण्ड को विष्णु खण्ड अथवा दशावतार खण्ड कहना उपयुक्त होगा। इस

---

23. अपराजितपृच्छा, 213/1-8, पृ. 544
24. अपराजितपृच्छा, 213/9-16, पृ. 544-545

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

खण्ड की मूर्ति-योजना के अनुसार यहाँ विष्णु के दस अवतारों में से केवल सात अवतार ही उत्कीर्ण किए गए हैं। इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि इस खण्ड में मूल-स्तम्भ चारों ओर से खुला हुआ है और चारों भित्तियों के मध्य में द्वार हैं। विष्णु के अवतारों की विशाल और भव्य प्रतिमाएँ इन द्वारों के दोनों ओर एक-एक के क्रम से ही बनायी जा सकती थी तथा इस प्रकार इनके प्रदर्शन हेतु आठ स्थान ही उपलब्ध थे। परन्तु छठे खण्ड से सातवें खण्ड में आने के लिए बनी सीढ़ियों के कारण इनमें से एक स्थान प्रतिमा के लिए उपयुक्त नहीं था। अतः केवल सात स्थान ही शेष रह जाते थे। फलस्वरूप इस खण्ड की मूर्ति-योजना के दशावतारों में से सात अवतारों का ही चुनाव किया गया। विष्णु के दस अवतारों में पहले दो अवतार मत्स्य और कच्छप की कल्पना पशु अवतारों के रूप में ही प्रतिमा-शास्त्र में की गई है। अतः इन्हीं दो अवतारों को सरलतापूर्वक स्थपति ने छोड़ने का निर्णय स्थापत्य की संगति की अनुकूलता को देखते हुए किया होगा। इस प्रकार यहाँ दक्षिण की ओर वराह से आरम्भ करके पश्चिम में नृसिंह और वामन, उत्तर में परशुराम और श्रीराम, पूर्व में बलदेव और बुद्ध दिखाए गए हैं अर्थात् यहाँ विष्णु के मत्स्य, कूर्म और कल्कि इन तीनों अवतारों की प्रतिमाएँ नहीं दिखाई गयी है। सभी शिल्पशास्त्रों में चतुर्विंशति व्यूह रूपों के साथ-साथ विष्णु के दशावतारों का भी वर्णन हुआ है।[25] विष्णु के दशावतारों में बुद्ध की प्रतिमा का तक्षण रुपमण्डन के अनुसार नहीं हुआ है जिसमें इन्हें आभूषणों और केशरहित कषाय वस्त्र में ध्यानस्थ और द्विभुज दिखाने का निर्देश दिया है। किन्तु ये चतुर्भुज हैं, विष्णु के आयुध युक्त हैं और आभूषण पहने हैं।[26]

इस प्रकार यहाँ विष्णु के रूप का अधिक ध्यान रखा गया है और बुद्धत्व का कम। इस खण्ड में चारों द्वार शाखाओं को अत्यन्त सुन्दर रूप से देवांगनाओं और अन्य रूपांकनों से अलंकृत किया गया है। ये द्वार-शाखाएँ भी इस खण्ड की एक विशेषता है।

अष्टम खण्ड :

इस खण्ड के छज्जे के ठीक शीर्ष पर प्रत्येक दिशा में तीन-तीन मूर्तियाँ हैं। दक्षिण में लक्ष्मी की चतुर्भुज आसन प्रतिमा है जिसके दोनों ओर कूर्म और मत्स्य कमल के पत्ते पर अवतरित दिखाए गए हैं। पश्चिम में चतुर्भुज विष्णु हैं और उनके दोनों ओर चतुर्भुज देवमूर्तियाँ हैं। उत्तर में वरदाक्ष, कमण्डलु, पाण्डुलिपि आदि लिए हुए सरस्वती की चतुर्भुज प्रतिमा है और उसके दोनों ओर फिर वैसी ही चतुर्भुज देव मूर्तियाँ हैं। पूर्व की ओर इसी प्रकार चतुर्भुज ब्रह्मा का, चतुर्भुज देव मूर्तियों के साथ प्रदर्शन हुआ है ये सभी प्रतिमाएँ अपने-अपने आयुधों सहित आसन पर बैठी दिखाई गयी हैं। 3/24-28, पृ. 139-140

26. बुद्धः पद्मासनो रक्तस्त्यक्ताभरणमूर्धजः
कषायवस्त्रो ध्यानस्थो द्विभुजोऽङ्कोर्ध्वपाणिकः।।
(रूपमण्डन, 3/27-28, पृ. 138)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नवम खण्ड :

इस खण्ड के शीर्ष पर गजलक्ष्मी की मूर्तियाँ हैं। दोनों ओर से सूँड उठाकर हाथी उनका परम्परागत रूप से अभिषेक कर रहे हैं। इसशृंखला में शिव नहीं है। कुम्भा के इष्ट देव विष्णु थे और कीर्तिस्तम्भ विष्णु को ही समर्पित है और उसके शीर्ष पर भी वैष्णव प्रतिमाओं का अंकन किया गया है। वैसे यहाँ सरस्वती और सावित्री की प्रतिमाएँ साथ-साथ दिखाई गयी हैं और क्रमशः ज्ञान-विद्या व दिक् की प्रतीक इन देवियों का प्रदर्शन यहाँ बहुलता से हुआ है।

(3) कीर्तिस्तम्भ व लोकमूर्तियाँ :

कीर्तिस्तम्भ की शास्त्रीय परम्परा में लोकधर्म और लोकजीवन की अवहेलना किञ्चित् मात्र भी नहीं हुई है और अधार्मिक मूर्तियों का इस व्यवस्था में साथ-साथ प्रदर्शन हुआ है। यह लोक-मूर्तियाँ विविध प्रकार की हैं। इनमें नृत्य, लीला-विलास और अन्य ललित मुद्राओं में उत्कीर्ण सुन्दर देवांगनाओं के विविध रूप है। तत्कालीन जन-जीवन से सम्बन्धित मूर्तियाँ हैं जैसे सन्यासी, तपस्वी, भक्त, पूजक, योगी, गुरु, नट, नटी, भूत, वेताल आदि। मेवाड़ के आदिवासी जीवन से सम्बन्धित मूर्तियाँ जैसे भील, किराट, शबरी आदि भी यहाँ दिखाई गयी है। इन लोकमूर्तियों का प्रदर्शन कलात्मकता के कारण भी हुआ है। सौन्दर्य और लावण्यमय संयोजन के लिए विविधता का होना बहुत आवश्यक है। यह कलात्मकता का प्रथम गुण है। यहाँ स्थपति मात्र एक धार्मिक स्थल नहीं बना रहा था वह एक सुन्दर कलाकृति का निर्माण भी कर रहा था क्योंकि हमारे यहाँ स्थापत्य को ललित-कला माना गया है और वास्तव में यह कृत और दृश्य कलाओं में सर्वोत्कृष्ट कला है। इसलिए यह बड़ा आवश्यक था कि इन धार्मिक प्रतिमाओं के साथ-साथ, सुन्दर लोक मूर्तियाँ, व्याल और पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, ज्यामितिक एवं अन्य रूपांकन भी अलंकरण और शोभा हेतु दिखाए जाएँ जिससे विविधता उत्पन्न हो। इस प्रकार इन मूर्तियों का कीर्तिस्तम्भ के भीतर और बाहर प्रदर्शन कलाशास्त्र की इस आवश्यकता के अनुसार सौन्दर्य हेतु हुआ है।

(4) विजय-स्तम्भ की भ्रामक कल्पना :

महाराणा कुम्भा कृत कीर्तिस्तम्भ जनसाधारण, ऐतिहासिक ग्रन्थों एवं पुरातत्व विभाग के सन्दर्भों में विजय-स्तम्भ के नाम से विख्यात है। सामान्यतः यह धारणा प्रचलित है कि कुम्भा ने इसे मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी पर विजय के उपलक्ष्य में निर्मित्त करवाया था। कीर्तिस्तम्भ की विस्तृत प्रशस्ति में, जिसमें इसका सम्पूर्ण इतिहास एवं परिकल्पना है और इस स्तम्भ के अन्य शिलालेखों में, जिनमें इसकी निर्माण तिथि तथा अन्य बहुत-सी सूचनाएँ दी गयी हैं, इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि यह स्तम्भ किसी सैनिक विजय के उपलक्ष्य में बना।[27]

---

27. रामवल्लभ सोमानी-महाराणा कुम्भा, पृ. 274

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऐतिहासिक विवेचन से ज्ञात होता है कि मालवा और मेवाड़ में लगभग 20 वर्ष संघर्ष हुआ और युद्ध के बाद युद्ध हुए किन्तु कोई भी युद्ध निर्णायक नहीं हुआ। यह दृष्टव्य है कि युद्ध की पहल हमेशा महमूद की तरफ से ही हुई और अधिकांश युद्ध मेवाड़ की भूमि पर ही लड़े गए किन्तु निश्चित रूप से महाराणा कुम्भा को कोई निर्णायक विजय प्राप्त नहीं हुई। यद्यपि वह अपनी रक्षा करने में बराबर सफल रहे। इस सारे वृत्तान्त में कहीं भी किसी बड़ी सैनिक विजय का उल्लेख नहीं है जिसके लिए कि एक विजय-स्तम्भ बनाया जाता। इसलिए यह कथा कि चितौड़ का कीर्तिस्तम्भ कुम्भा ने किसी विजय के उपलक्ष्य में बनवाया, गलत और भ्रामक है।[28]

यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'विजय' शब्द का प्रयोग मन्दिर आदि बनाने के सन्दर्भ में बहुत प्रयुक्त हुआ है। जैसे जावर (उदयपुर) के जैन मन्दिर के वि.सं. 1478 के अभिलेख में उल्लेख है -

''चिर विजयतां श्री शान्तिनाथ चैत्यं कारयिता च।''[29]

संस्कृत के अभिलेखकार और प्रशस्तिकार 'विजय' शब्द का प्रयोग शुभ और समृद्धि के अर्थ में करते थे। जैसे कुम्भा के साथ 'विजय राज्य' का बहुत उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ :

''श्री कुम्भकर्ण विजयराज्ये''[30] और
''श्री कुम्भकर्ण भूपति विजयराज्ये''[31]

यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि इसी दुर्ग में स्थित जैन कीर्तिस्तम्भ को वि.सं. 1495 की महावीर जैन मन्दिर प्रशस्ति में विजय-स्तम्भ कहा गया है-

स्थानस्थान विराजमान विशदप्रासाद दम्भोदहो।
यो देश नितरान्विजत्य विजयस्तम्भान्समुत्रम्भयेत्।।[32]

इसमें कहीं भी किसी सैनिक विजय से तात्पर्य नहीं है। यह सद्धर्म की विजय के सूचक है इसलिए इन्हें विजय-स्तम्भ नाम दिया गया है।

इस प्रकार कीर्तिस्तम्भ में भारतीय संस्कृति के मूल विचारों, अवधारणाओं और भावनाओं को ही देव-देवी रूपों में मूर्तिमान् किया गया है और यह बड़े कौशल और कलात्मक विधि से

---

28. डॉ. नीलिमा मित्तल-कुम्भाकालीन कीर्तिस्तम्भ का प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 21
29. विजयधर्मसूरी सम्पादित-प्राचीन लेख संग्रह, भाग-1, पृ. 118
30. पदराणा अभिलेख वि.सं. 1490, राजस्थान भारती, भाग-8, पृ. 76
31. नागदा मेवाड़ अभिलेख वि.सं. 1494, प्राचीन लेख संग्रह, भाग-1, पृ. 48
32. डॉ. नीलिमा मित्तल-कुम्भाकालीन कीर्तिस्तम्भ का प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन, पृ. 22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हुआ है। इसका महत्व इसकी कलात्मकता के कारण तो है ही, यह मूलतः उन प्रतीकों के कारण है जो इसकी मूर्तिरूपों और लाञ्छनों के माध्यम से दिखाये गए हैं। वेदादि को यहाँ मूर्तिमान् करके कुम्भा के स्थपति ने भारतीय संस्कृति की मूल अवधारणाओं को 15वीं शताब्दी के सांस्कृतिक जीवन से अभिन्न रूप से जोड़ दिया है। इस्लाम के कट्टर दृष्टिकोण के फलस्वरूप 250 वर्षों में इस संस्कृति को जो क्षति पहुँची थी, उसका पुनरुद्धार और पुनर्स्थापना करके उसमें नवीन प्राणों का सञ्चार करना अत्यत्न आवश्यक था। यह कीर्तिस्तम्भ इस प्रकार एक मन्दिर, एक अद्भुत कलाकृति और इस काल की कला प्रवृत्तियों का परिचायक ही नही है, यह मध्यकालीन भारतीय पुनर्जागरण और पुनरुद्धार का अनूठा स्मारक भी है। यह सांस्कृतिक विचारधारा और अवधारणाओं का अनन्य कोष भी है और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए अक्षय प्रेरणा-स्रोत भी। वास्तव में कीर्तिस्तम्भ भारतीय संस्कृति का बृहत् प्रतीक है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र–एक विश्लेषण

डॉ. मीतू गौड़

वेदोऽखिलो धर्म मूलम्।[1] वेद सभी धर्मों का मूल स्रोत है। भारतीय चिन्तनधारा के आदि स्रोत के रूप में वेद ही सभी शास्त्रों के मूलाधार हैं। चार वेदों के चार उपवेद प्रसिद्ध हैं। यथा–ऋग्वेद का **आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद**, सामवेद का **गान्धर्व वेद**, और अथर्ववेद का **स्थापत्य वेद।** स्थापत्य वेद का अभिप्राय निवास योग्य स्थापना से सम्बन्धित ज्ञान-संग्रह से है। परवर्ती काल में स्थापत्य वेद ही 'वास्तु-शास्त्र' के रूप में परिणत हुआ और 'पुराण' काल में इसका पूर्ण विकास हुआ।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में 'पुराण' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। छान्दोग्य उपनिषद में इन्हें **पंचम वेद** कहा गया है।[2] वैदिक वाङ्मय भारतीय संस्कृति का परिचायक है, परन्तु सामान्य जनों के लिए जिससे वे वेदों के गूढ़ तथ्य को ग्रहण कर स्वयं के कर्त्तव्यों का ज्ञान कर सकें इस उद्देश्य से उन्हें परमतत्त्व का बोध करवाने हेतु महर्षि व्यास ने पुराणों की रचना की। व्यास जी ने पुराणों में वेदों की ही कथा रूप में व्याख्या की है। अतः वेदों के गूढ़ विषय को जनसाधारण तक पहुँचाने का श्रेय पुराण-वाङ्मय को ही प्राप्त होता है। पुराण का मूल अर्थ है–प्राचीन। अमरकोष[3] के अनुसार 'पुराण' पुरातन का पर्याय है। यास्काचार्य ने कहा है– **पुरापि नवं भवति**[4] अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया है, वह 'पुराण' है। वायु पुराण के अनुसार– **यस्मात् पुरा हि अनति इदं पुराणम्**[5] अर्थात् जो प्राचीन समय में सजीव था, वह 'पुराण' है। स्पष्ट है कि 'पुराण' मूलतः 'पुरातन' का वाचक है।

---

1. वेदोहऽखिलोधनं मूलमाचार, मत्स्य पुराण-52/7
2. छान्दोग्य उपनिषद–7/1/4
3. पुराणं प्रतनप्रत्नपुरातनचिरंतनाः, अमरसिंहः –अमरकोषः- 3/1/77
4. निरुक्त–3/4/24
5. वायुपुराण–1/203

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुराण संख्या

पुराणों की संख्या 18 मानी गई है। ये हैं– ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ तथा ब्रह्माण्ड।[6] इनके अतिरिक्त अनेक उपपुराण भी प्राप्त होते हैं।

इन अष्टादश महापुराणों में अग्निपुराण का महत्त्व सभी पुराणों में सर्वाधिक है। अग्नि पुराण को **'आग्नेय'** पुराण भी कहा जाता है। आग्नेय पुराण का अभिप्राय है–अग्नि से सम्बन्धित अथवा अग्नि देव द्वारा प्रोक्त। अग्नि पुराण के वक्ता अग्निदेव हैं, इसीलिए इसे **अग्नि अथवा आग्नेय**[7] पुराण कहा गया है।

अग्निपुराण में मत्स्य–कूर्मादि अवतार वर्णन, रामावतार, कृष्णावतार, महाभारात की संक्षिप्त कथा, बुद्ध, कल्कि अवतार, सृष्टि, मनु काश्यप–वंश वर्णन, देवताओं की पूजा–विधि, कुण्ड आदि का वर्णन, मन्त्र साधन, देवालय निर्माण, प्रासाद लक्षण, श्राद्ध वर्णन, ज्योतिष शास्त्र आदि विविध विषयों का वर्णन है। अग्नि पुराण में **वास्तु विद्या** का वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होता है।

वास्तु शब्द 'वस्' निवासे धातु में 'तुण्' प्रत्यय के योग होने से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है–**वसन्ति लोका अत्र**, अर्थात् वह स्थान विशेष जहाँ प्राणी निवास करते हैं, **वास्तु**[8] कहलाता है। अत एव भूमि के शुभाशुभ परीक्षण एवं गृह तथा भवनादि निर्माण विधि को प्रतिपादित करने वाला शास्त्र ही **वास्तुशास्त्र** है। अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र के सन्दर्भ में प्रमुख रूप से वास्तुपुरुष, वास्तुपदविन्यास, वास्तुपूजन, प्रासादवास्तु, शिलान्यास, प्रासाद निर्माण, प्रासाद भेद, प्रासाद द्वार तथा नगरवास्तु आदि विविध विषयों का उल्लेख मिलता है। इनका विवेचन इस प्रकार है।

(1) वास्तु पुरुष

अग्नि पुराण के अनुसार पूर्वकाल में सम्पूर्ण भूत–प्राणियों को भय से त्रस्त करने वाला एक भयंकर महाभूत था, जिसे देवताओं ने भूमि में निहित कर दिया। उसी को **वास्तु–पुरुष** कहा गया।

पूर्वमासीन्महद्भूतं सर्वभूतभयङ्करम्,
तद्देवैर्निहितं भूमौ स वास्तुपुरुषः स्मृतः।[9]

---

6. क. अग्निपुराण–अध्याय 272
   ख. नारदपुराण–अध्याय 26–29
7. अग्निनोक्तं पुराणं यदाग्नेयं वेदसम्मितम्।
   –अग्निपुराण– 1/10
8. आप्टे, वामन शिवराम–संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 923
9. अग्निपुराण–40/1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(2) वास्तु पद विन्यास

वास्तुपुरुष के जिस अंग को जिस देवता ने पकड़कर पृथ्वी पर अधोमुख किया, वे देवता वास्तुपुरुष के उस अंग में पूज्य हुए। अतः इन अंग देवताओं के साथ-साथ वास्तुदेव की पूजा का विधान भी किया गया है। इन देवताओं की पूजा हेतु ही पद् विन्यास किया गया है। यथा–एकोनपंचाशत्पद् (49) वास्तु, चतुषष्टिपद् (64) वास्तु, एकाशीतिपद् (81) वास्तु, शतपद् (100) वास्तु इत्यादि। अग्नि पुराण में मूल रूप से **चतुषष्टिपद् वास्तु** का वर्णन प्राप्त होता है।[10] चतुषष्टिपद् वास्तु से तात्पर्य उस वास्तु से है, जिसके अन्तर्गत वास्तु भूमि को 64 (8x8) भागों में बाँट दिया जाता है तथा प्रत्येक भाग का एक पृथक् देव निर्धारित होता है। अग्नि पुराण में चतुषष्टिपद् वास्तु का विस्तार से वर्णन है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति को भवन के निर्माण-कार्य से पूर्व सर्वप्रथम चतुषष्टिपदीय वास्तु के विविध देवगणों को भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थों, के साथ बलि तथा अर्घ्यादि देकर उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। यथा–अर्धकोण में स्थित ईश को घृत एवं अक्षत से, एक पद में स्थित पर्जन्यादि को कमल तथा जल से, दो पदों में स्थित जयन्तादि को पताका से, और इसके पश्चात् सत्य, भृश, व्योम, अग्नि आदि विविध देवों को प्रसन्न करते हुए अन्ततः ईशान आदि दिक्पालों को लाल उड़द से सन्तुष्ट करना चाहिए, किन्तु इन सभी के अभाव में अक्षतों से सभी की पूजा करनी चाहिए।[12] इस प्रकार अग्निपुराण में वास्तुमण्डलवर्ती देवताओं के स्थापन, अर्घ्य, दान तथा बलिदान आदि की विधि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

(3) वास्तु पूजन

अग्निपुराण के अनुसार भूस्वामी को सर्वप्रथम वास्तुभूमि पर स्थित देवताओं को वास्तु-होम एवं बलि-दान आदि से तृप्त करना चाहिए। इन्हें सन्तुष्ट किए बिना कोई भी व्यक्ति प्रासाद आदि का निर्माण कदापि न करें।[13] इनको तृप्त करने के पश्चात् ही ब्रह्मा के स्थान में श्रीहरि, श्री लक्ष्मी तथा गण-देवता की पूजा करने के अनन्तर भूमि, वास्तुपुरुष एवं वर्धनीयुक्त कलश का पूजन करें। कलश के मध्य में ब्रह्मा तथा दिक्पालों का यजन कर स्वस्तिवाचन एवं प्रणाम कर पूर्णाहुति देने के पश्चात् हाथ में छिद्रयुक्त जलपात्र लेकर विधिपूर्वक दक्षिणावर्त मण्डल बनाते हुए सूत्रमार्ग से जलधारा को घुमायें।[14] फिर उसी मार्ग से सात बीजों का वपन तथा खात (गड्ढे) का आरम्भ कर, मध्य भाग में एक हाथ लम्बा; एक हाथ चौड़ा एवं एक हाथ गहरा गर्त खोद कर उसके चारों ओर चार अंगुल नीचे लीपकर सर्वप्रथम चतुर्भुजधारी श्री विष्णु भगवान का ध्यान कर उन्हें कलश से

---

10. चतुःषष्टिपदे क्षेत्रे ईशं...., अग्निपुराण–40/2
11. अग्निपुराण–40/22-3
12. अग्निपुराण–40/4-20
13. अहुत्वैतानसन्तर्प्य प्रासादादीन्न कारयेत्। अग्निपुराण– 40/22
14. अग्निपुराण–40/23-24

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्घ्य प्रदान कर पूजन प्रारम्भ करें।[15] तत्पश्चात् छिद्रयुक्त जलपात्र से गर्त को भरकर उसमें श्वेत पुष्प डालें तथा उसे बीज एवं मृत्तिका से भर दें। इस प्रकार अर्घ्यदान का कार्य निष्पन्न कर आचार्य को गौ-वस्त्रादि का दान करें तथा ज्योतिषी एवं स्थपति (राजमिस्त्री) का यथोचित सत्कार कर विष्णुभक्त और सूर्य का पूजन करें।[16] इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति को प्रासाद, गृहादि निर्माण हेतु उपयुक्त भूमि का चुनाव कर, वास्तु-मण्डलीय देवताओं को अर्घ्यदानादि प्रदान कर वास्तु पूजा करने के पश्चात् ही प्रासाद, गृहादि का निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। इसमें सर्वप्रथम प्रासाद वास्तु का विवेचन इस प्रकार है–

प्रासाद वास्तु

प्रासाद का सामान्य अर्थ है–महल अथवा मन्दिर।[17] वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ बृहत्संहिता में प्रासाद का अर्थ **देवमन्दिर** ग्रहण कर उसके निर्माण की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि उद्यान एवं सरोवर निर्माण के अनन्तर यश एवं धर्म की वृद्धि हेतु देव प्रासाद की स्थापना करना ही देवतुल्य कार्य है।[18] इष्ट (यज्ञादि) करने एवं पूर्त (वापी, कूप, तडाग आदि) बनाने से जो लोक प्राप्ति होती है, उन दोनों की कामना करने वाले मनुष्य को देव प्रासाद का निर्माण करना चाहिए क्योंकि इसी में दोनों लोक दिखाई देते हैं।[19] अग्नि पुराण में प्रासाद शब्द **'मन्दिर'** के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अग्निपुराण में वर्णन आता है कि देवस्थापना सदैव नगराभिमुख तथा कुरुक्षेत्र, गया आदि पवित्र स्थलों अथवा नदी के समीप (तट पर) होनी चाहिए।[20] इसमें ब्रह्मा इन्द्र; अग्नि एवं मातृकाओं; भूतों एवं यम; चण्डिका, पितर, दैत्य, वरुण, वायु एवं नाग, यक्ष एवं गुह तथा शिव के मन्दिर क्रमशः नगर के मध्य, पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर तथा ईशान कोण में बनाना उत्तम होता है। वहीं विष्णु का प्रासाद चारों दिशाओं में से किसी भी दिशा में हो सकता है।[21] किन्तु प्रासाद निर्माण के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि बुद्धिमान पुरुष पहले

---

15. अग्निपुराण–40/25-27
16. कर्कर्या पूरयेच्छ्वभ्रं शुक्लपुष्पाणि च न्यसेत्।
    दक्षिणावर्तकं श्रेष्ठं बीजैर्मृद्भिश्च पूरयेत्।।
    अर्घ्यदानं विनिष्पाद्य गोवस्त्रादीन् ददेद् गुरौ।
    कालज्ञाय स्थपतये वैष्णवादित्यपूजनम्।। अग्निपुराण–40/28-29
17. आप्टे, वामन शिवराम–संस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ-693
18. कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान् विनिवेश्य च।
    देवतायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये।। –बृहत्संहिता- प्रासादलक्षणाध्यायः, श्लोक-1, पृष्ठ 380
19. इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
    देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते।। –बृहत्संहिता- प्रासादलक्षणाध्यायः, श्लोक-2, पृष्ठ 380
20. अग्निपुराण– 39/9-10
21. अग्निपुराण– 39/10-13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से स्थापित प्रसाद को संकुचित करके लघु, मध्यम अथवा विशाल प्रासाद का निर्माण न करे अपितु दो मन्दिरों की ऊँचाई के समान दुगुनी सीमा छोड़कर भूमि का शोधन करने के पश्चात् भूमि-परिग्रह कर तदनन्तर प्रासाद की चार दीवारी की सीमा तक हरिद्राचूर्ण, खील, दही तथा सत्तू से भूतबलि प्रदान कर अष्टाक्षर मन्त्र से आठों दिशाओं में सत्तू बिखेरते हुए नवीन देव प्रासाद के निर्माण का संकल्प लें।[22]

शिलान्यास

प्रासाद निर्माण हेतु उपयुक्त भूखण्ड का चुनाव कर, उस पर वास्तुपूजन करने के पश्चात् प्रासाद का शिलान्यास किया जाता है। गृह-भवनादि के निर्माण का मुहूर्त्त ही **'शिलान्यास'** कहलाता है। अग्निपुराण के 41वें अध्याय में शिलान्यास विधि का वर्णन है। अग्निपुराण के अनुसार प्रासाद के शिलान्यास हेतु एक हाथ लम्बी शिला उपयुक्त होती है। शिलान्यास के लिए बारह अंगुल लम्बी एवं चार अंगुल मोटी भलीभांति पकी हुई ईंटों एवं तांबे अथवा मिट्टी से निर्मित नव कलशों की आवश्यकता होती है। शिलान्यास के लिए भूमि के अग्र भाग में एक मण्डप एवं चार कुण्ड बनवाने चाहिये। उसके पश्चात् उन नव कलशों को पंच कषाय सर्वौषधि मिले जल से पूर्ण कर चन्दन, पुष्प, गन्ध आदि से उनकी भली-भांति पूजा कर, **'आपो हिष्ठा'** इत्यादि विभिन्न मन्त्रों से शिलाओं एवं ईंटों का अभिषेक करना चाहिए।[23] फिर उन्हें नींव में स्थापित कर मण्डप के भीतर एक शय्या पर पूर्वमण्डल में भगवान् श्री विष्णु का पूजन कर अष्टाक्षर मन्त्र से आठ आहुतियाँ देकर 'ऊँ. भूः स्वाहा', 'ऊँ. भुवः स्वाहा', 'ऊँ. स्वः स्वाहा'– इन तीन व्याहृतियों से क्रमशः लोकेश्वर अग्नि, सोम ग्रह एवं भगवान पुरुषोत्तम के निमित्त हवन करें। इसके पश्चात् प्रायश्चित संज्ञक हवन कर, आठ दिशाओं में स्थापित कलशों पर पद्म, महापद्म आदि नव देवताओं की स्थापना कर उनके निकट पूर्वादि क्रम से ईशान कोण तक एक-एक ईंट रख मुनिवर अङ्गिरा की सुपुत्री **इष्टका'** देवी की आरधना करें।[24] इस प्रकार इष्टकान्यास कर एकचित्त होकर मध्यस्थान में वास्तु के गर्भ आधान हेतु एक कुण्ड की स्थापना करें। लोहा आदि से बने गर्भभाग में अस्त्र एवं ताम्रपात्र से पृथ्वी की पूजा कर वास्तुकुण्ड का गोमूत्र से सिंचन करें तथा कुण्ड में गर्भ को स्थापित करें।[25] इस प्रकार अग्निपुराण में शिलान्यास विधि का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रासाद निर्माण

अग्निपुराण में प्रासाद के निर्माण की विधि भी वर्णित है। इसमें कहा गया है कि प्रासाद के लिए निर्धारित भूभाग को 16 भागों में विभक्त कर मध्य के 4 भाग गर्भ हेतु निश्चित कर शेष

22. अग्निपुराण– 29/14-18
23. अग्निपुराण– 41/1-8
24. अग्निपुराण– 41/9-17
25. अग्निपुराण– 41/18-21, 28-30

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

12 भागों को दीवार बनाने हेतु नियत करना चाहिए। इन चार दीवारों की ऊँचाई मध्य के चार भागों की लम्बाई के समान, शिखर की ऊँचाई प्रासाद की दीवारों की ऊँचाई से दुगुनी, प्रासाद के सामने का भूभाग शिखर की ऊँचाई के समान अथवा दोगुना तथा प्रासाद के आगे का सभामण्डप गर्भसूत्र से दुगुना होना चाहिए एवं पाद-स्तम्भ भित्ति के समान लम्बे तथा मध्यवर्ती स्तम्भों से विभूषित होने चाहिए।[26] अग्निपुराण में सर्वसाधारण प्रासाद का लक्षण बताने के पश्चात् प्रतिमा के माप से बनाये जाने वाले प्रासादों का भी उल्लेख है, जिसके अनुसार प्रतिमा की लम्बाई के समान सुन्दर पिण्डी होनी चाहिए तथा पिण्डी के अर्ध-मान से गर्भ का निर्माण कर गर्भ के मानानुसार ही भित्तियाँ बनानी चाहिए। भिती की ऊँचाई से दुगुनी शिखर की ऊँचाई एवं उसकी चौथाई समान प्रदक्षिणा तथा इसी प्रमाण का मुखमण्डप होना चाहिए। इसके पश्चात् शिखर के अर्द्ध भाग में सिंह की प्रतिमा का निर्माण कर उसके ऊपर शुकनासा तत्पश्चात् वेदी तथा वेदी के ऊपर आसनसार नामक कण्ठसहित कलश का निर्माण करना चाहिए।[27]

प्रासाद-भेद

अग्निपुराण में पाँच प्रकार के प्रासादों का उल्लेख है–(क) वैराज, (ख) पुष्पक, (ग) कैलास, (घ) मणिक, एवं (ङ) त्रिविष्टिप।

इनमें से वैराज एवं पुष्पक प्रासाद चतुरस्त्र, कैलास गोलाकार, मणिक वृत्ताकार तथा त्रिविष्टिप प्रासाद अष्टभुजाकार होता है। इनमें प्रत्येक के नव भेद से कुल 45 भेद हैं।[28] इनका विवेचन इस प्रकार है।

(क) **वैराज** : मेरू, मन्दर, विमान, सर्वतोभद्र, चरूक, नन्दिक, नन्दि, वर्धमान, श्रीवत्स।

(ख) **पुष्पक** : वलभी, गृहराज, शालागृह, मन्दिर, विशाल-चमस, ब्रह्म-मन्दिर, भुवन, प्रभव तथा शिविकावेश।

(ग) **कैलास** : वलय, दुन्दुभि, पद्म, महापद्म, वर्धनी, उष्णीष, शङ्ख, कलश, तथा रववृक्ष।

(घ) **मणिक** : गज, वृषभ, हंस, गुरुत्मान्, ऋक्षनायक, भूषण, भूधर, श्रीजय, तथा पृथ्वीधर।

(ङ) **त्रिविष्टिप** : वज्र, चक्र, स्वस्तिक, वज्रस्वस्तिक, चित्र, स्वस्तिकखड्ग, गदा श्रीकण्ठ, विजय।[29]

---

26. अग्निपुराण– 42/1-6
27. अग्निपुराण– 421/10-12, 16-17
28. अग्निपुराण– 104/11-13
29. अग्निपुराण– 104/14-21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस प्रकार अग्निपुराण में 45 प्रकार के प्रसादों का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रासाद द्वार

अग्निपुराण में प्रासाद के 'द्वार' का वर्णन भी प्राप्त होता है। अग्निपुराण के अनुसार गाँव के मध्य, पूर्व अथवा सभी दिक्कोणों में बने हुए मन्दिर के द्वार पश्चिमाभिमुख किन्तु दक्षिण, उत्तर एवं पश्चिम में बने हुए मन्दिरों के द्वार पूर्व की ओर होने चाहिए। इनकी चौड़ाई से दुगुनी इनकी ऊँचाई होनी चाहिए। द्वार सुन्दर एवं शोभासम्पन्न होने चाहिये तथा उनके ऊपरी भाग में सुन्दर मंगलमय वस्तुओं के साथ गूलर की दो शाखाएँ स्थापित होनी चाहिए। द्वार के चतुर्थांश में चण्ड, प्रचण्ड, विष्वक्सेन एवं वत्सदण्ड नामक चार द्वारपालों की मूर्तियों का निर्माण कर, गूलर की शाखाओं के अर्ध भाग में सुन्दर स्वरूप वाली, हस्त में कमल धारण किए हुए लक्ष्मी के श्रीविग्रह को अंकित करना चाहिए।[30]

स्पष्टतः अग्निपुराण में प्रासाद वास्तु के अन्तर्गत प्रासाद निर्माण विधि, प्रासादों के प्रकार, उनके द्वारादि का उल्लेख ही नहीं, अपितु उसमें प्रतिष्ठित की जाने वाली देव प्रतिमाओं के स्वरूप, लक्षण, निर्माण-विधि आदि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसमें सर्वप्रथम देव-प्रतिमाओं का विवेचन इस प्रकार है।

देव प्रतिमा

अग्निपुराण के अनुसार भगवान की प्रतिमा मिट्टी, लकड़ी, लोहा, रत्न, पत्थर, चन्दन एवं पुष्प- इन सात वस्तुओं से निर्मित सात प्रकार की मानी जाती है। इनमें पुष्प, मिट्टी तथा चन्दन की बनी हुई प्रतिमाएँ बनने के बाद तुरन्त पूजी जाती है तथा पूजन करने पर ये समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हैं।[31] इन सात वस्तुओं में से 'शिला' से निर्मित प्रतिमाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख अग्निपुराण में मिलता है। अग्निपुराण में वर्णन आता है कि प्रतिमा निर्माण हेतु किसी पर्वत की शिला सर्वोपयुक्त होती है किन्तु इसके अभाव में भूमि के नीचे से निकली शिला का उपयोग करना चाहिए। इसमें ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों हेतु क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण की शिला उत्तम कही गई है। यदि शिला में सफेद रेखा हो तो वह अत्यन्त उत्तम, किन्तु यदि उसमें कोई मण्डल का चिह्न दिखे तो उसे सगर्भा समझकर त्याग देना चाहिए।[32] इस प्रकार उत्तम शिला का चयन करने के पश्चात् प्रतिमा निर्माण से पूर्व वन में जाकर 'वनयाग' आरम्भ करना चाहिए। वहाँ कुण्ड खोदकर एवं उसे लीपकर मण्डप में भगवान विष्णु का पूजन कर उन्हें बलि समर्पित कर कर्म में उपयोगी

30. अग्निपुराण– 42/19-21
31. अग्निपुराण– 43/9-11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शस्त्रों की पूजा करनी चाहिये। तत्पश्चात् शिला को सींचकर, नरसिंह मन्त्र से उसकी रक्षा कर एवं **'ऊँ नमो नारायणाय'** मन्त्र से उसकी पूजा कर पूर्णाहुति होम कर आचार्य को सभी व्यक्त, अव्यक्त का पूजन कर क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए। तदनन्तर शिल्पियों सहित रात्रि में सोते समय- **'ऊँ. हुं फट् विष्णवे स्वाहा'** इस स्वप्न मन्त्र का जप कर, प्रातःकाल शिला पर शस्त्र अर्घ्य देकर कुदाल, टंक आदि के मुख पर मधु एवं घी लगाकर पूजन करने के पश्चात् ही जितेन्द्रिय शिल्पी उस चौकोर शिला को पिण्डिका हेतु न्यून करे। फिर शिला को वस्त्र में लपेटकर शिल्पशाला में जाकर पुनः उसका पूजन करे। उसके पश्चात् ही शिल्पी देव-प्रतिमा निर्मित करें।[33]

देवप्रतिमा के अंग

अग्निपुराण में वर्णन आता है कि शिल्पी को शिला के मध्य में सूत लगाकर उसके नौ भाग कर, पुनः उन नौ भागों को बारह भागों में विभाजित करना चाहिए। इससे बारह भागों में विभक्त प्रत्येक भाग एक अंगुल का होता है।[34] अग्निपुराण में 108 अंगुल माप की देवप्रतिमा के अंगों एवं उपांगों का वर्णन इस प्रकार है।

(क) मुख : तालमात्रं तथा मुखम्[35] अर्थात् देव प्रतिमा के मुख का विस्तार एक ताल (बित्ते) का होना चाहिए। इसमें ललाट, नासिका तथा मुख का विस्तार 4 अंगुल, हनु एवं चिबुक 2 अंगुल, अतः मुख का पूर्ण विस्तार 6 अंगुल का होना चाहिए। ललाट की चौड़ाई, दोनों ओर के शंख, कर्ण, पृथुक, अधरोष्ठ तथा उपरोष्ठ क्रमशः 8, 2, 2, 1, 1/2 अंगुल तथा नासिका की ऊँचाई 1 अंगुल, नेत्र का विस्तार 2 अंगुल एवं द्रोणी आधे अंगुल की होनी चाहिए एवं इतना ही प्रमाण भौंहों का तथा मस्तक का पूर्ण घेरा 26 अथवा 32 अंगुल का होना चाहिए।[36]

(ख) ग्रीवा : देव प्रतिमा की ग्रीवा की चौड़ाई, लम्बाई एवं वेष्टन (चारों ओर का घेरा) क्रमशः 10, 8 तथा 30 अंगुल एवं ग्रीवा तथा छाती के मध्य का अन्तर ग्रीवा के तिगुने विस्तार

---

32. अग्निपुराण– 43/12, 14-15
33. अग्निपुराण– 43/16-19, 22, 26-29
34. संस्थाप्य पूज्य च बलिं दत्त्वाथो मध्यसूत्रकम्।
    शिलां शिल्पी तु नवधा विभज्य नवमेंऽशके।।
    सूर्यभक्ते शिलायां तु भागं स्वाङ्गुलमुच्यते।
    द्वयङ्गुलं गोलकं नाम्ना कलानेत्रं तदुच्यते।। अग्निपुराण– 44/2-3
35. मुकुटं तालमात्रं स्यात् तालमात्रं तथा मुखम्।
    तालेनैकेन कण्ठं तु तालेन हृदयं तथा। अग्निपुराण– 44/5
36. अग्निपुराण– 44/12-15, 17, 19, 23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

का होना चाहिए।[37]

(ग) कन्धे : प्रतिमा के दोनों ओर के कन्धे 8 अंगुल एवं सुन्दर अंश 3 अंगुल के होने चाहिए।[38]

(घ) बाहु : प्रतिमा की बाहों एवं प्रबाहों की लम्बाई क्रमशः 14 एवं 16 अंगुल तथा चौड़ाई 6 अंगुल होनी चाहिए। कोहनी का घेरा 16 अंगुल, हाथ के अग्र भाग का विस्तार 12 अंगुल तथा उसके बीच करतल का विस्तार 6 अंगुल का होना चाहिए। हाथ की मध्यमा, तर्जनी, अनामिका, कनिष्ठा तथा अंगूठे की लम्बाई क्रमशः 5, $4^1/_2$, $4^1/_2$, 4 एवं 4 अंगुल की होनी चाहिए।[39]

(ङ) धड़ : अग्निपुराण के अनुसार प्रतिमा की छाती एवं उदर की माप एक समान होनी चाहिए। छाती एवं कमर का घेरा क्रमशः 64 एवं 54 अंगुल होना चाहिए।[40]

(च) उरु : प्रतिमा की उरुओं के मूल का विस्तार 12 अंगुल, इसके ऊपर मध्य भाग का विस्तार अधिक तथा मध्य भाग से नीचे के अंगों का विस्तार क्रमशः कम होना चाहिए। घुटनों का विस्तार आठ अंगुल का होना चाहिए।[41]

(छ) चरण : प्रतिमा के चरण 1 ताल लम्बे, 4 अंगुल ऊँचे तथा 6 अंगुल चौड़े होने चाहिए।[42]

स्पष्ट है कि अग्निपुराण में प्रासाद के केवल बाह्य स्वरूप का ही नहीं अपितु उसमें प्रतिष्ठित की जाने वाली विभिन्न देव-प्रतिमाओं के निर्माण की विधि का भी विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।

नगर वास्तु :

अग्निपुराण में **नगर वास्तु** का वर्णन भी प्राप्त होता है। पुराणकार के अनुसार वास्तुसम्मत नगर निर्माण से राज्यादि की अभिवृद्धि होती है। अतः नगर-निर्माण हेतु सर्वप्रथम एक अथवा अर्द्ध योजन भूमि का चुनाव करना चाहिए। तत्पश्चात् नगर वास्तु देव की पूजा कर उसको प्राकार से संयुक्त कर नगर की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर–इन चारों दिशाओं के क्रमशः सूर्य, गन्धर्व, वरुण एवं सोम पद में चार विस्तृत द्वार बनाने चाहिए। नगर के बाजार भी विशाल होने चाहिए।

---

37. अग्निपुराण– 44/24-25
38. ग्रीवात्रिगुणमायामं ग्रीवावक्षोन्तरं भवेत्।
    स्कन्धावष्टाङ्गुलौ कार्यौ त्रिकालवंशकौ शुभौ।। अग्निपुराण– 44/26-27, 29-31
39. अग्निपुराण– 44/26-27, 29-31
40. अग्निपुराण– 44/37-38
41. अग्निपुराण–
42. त्रिगुणः परिधिश्चास्य जङ्घाग्रं पंच विस्तरात्। त्रिगुणः परिधिश्चास्य पादौ तालप्रमाणकौ।।
    आयामादुत्थितौ पादौ चतुरङ्गुलमेव च। गुल्फात्पूर्वं तु कर्त्तव्यं प्रमाणाच्चतुरङ्गुलम्।।
    अग्निपुराण– 44/39-40

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यदि नगर छिन्नकर्ण, भग्न, अर्धचन्द्राकार, अथवा वज्रसूचीमुख हो तो 'अशुभ' परन्तु यदि वह धनुषाकार अथवा वज्रनागाभ हो तो 'शान्तिप्रद' होता है। नगर में धन-धान्यादि की वृद्धि तथा उसकी रक्षाहेतु इसके पूर्वी द्वार पर लक्ष्मी एवं कुबेर तथा त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश) की तरूमूर्तियों की स्थापना करनी चाहिए क्योंकि जो नगर ग्राम देवताओं की प्रतिमाओं से युक्त होते हैं, वे विजय, भोग एवं मोक्षदायक होते हैं।[44]

इस प्रकार अग्निपुराण के 106वें अध्याय में नगर-वास्तु का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु पुराणकार ने 'नगरादिकवास्तुकथनम्' नामक इस अध्याय में नगर के केवल बाह्य वास्तु का ही नहीं अपितु नगर में निवास करने वाले राजा के भवन तथा अन्य सामान्य जनों के निवास गृह हेतु उपयुक्त दिशाओं का वर्णन भी विस्तार से किया है। इसमें सर्वप्रथम **राजभवन** का वर्णन इस प्रकार है।

(क) राजभवन : पुराणकार के अनुसार नगर में चतुःशाल, त्रिशाल, द्विशाल अथवा एकशाल राजभवन का निर्माण करना चाहिए। ये राजभवन 'शाला' तथा 'आलिन्दक' आदि के भेद से अनेकानेक प्रकार के भी हो सकते हैं।

इन राजभवनों में पूर्व दिशा की ओर कोशागार, दक्षिण-पूर्व की ओर पाकशाला, दक्षिण में शयनकक्ष, दक्षिण-पश्चिम की ओर अस्त्रागार, पश्चिम में भोजनालय, पश्चिमोत्तर की ओर धान्यागार, उत्तर की ओर द्रव्यागार तथा पूवोत्तर की ओर देवालय का निर्माण करना उत्तम होता है।[45]

(ख) सामान्यजन गृह : अग्निपुराण में वर्णन आता है कि नगर निवासियों को उनके कर्म एवं जाति के आधार पर नगर की निम्न दिशाओं में बसाना चाहिए।

(क) आग्नेय : स्वर्णकार, लोहार एवं विविध सैन्य कर्मी। **(ख)** दक्षिण : नृत्योपजीविनी वाराङ्नायें, अन्तःपुर के अध्यक्ष, वैश्य श्मशान आदि स्थल। **(ग)** नैऋत्य : नट, भाट, मल्लाह, काण्डार जाति। **(घ)** पश्चिम : रथकार, आयुधकार, योद्धा, प्रधानसचिव, कोषपाल, शिल्पी, शूद्र एवं गोशाला। **(ङ)** वायव्य : राजकीय कर्मचारी। **(च)** उत्तर : ब्राह्मण, यति, सिद्ध एवं तपस्वी, दण्डाध्यक्ष, सरदार (नायक) तथा कृषक। **(छ)** ईशान : फल तथा अन्य खाद्य पदार्थों के विक्रय कर्त्ता। **(ज)** पूर्व : सेनापति, क्षत्रिय एवं गुप्तचर।

किन्तु उपर्युक्त विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पुराणकार ने वैद्य, अश्व तथा सेना को नगर के चारों ओर बसाना श्रेष्ठ कहा है।[46]

इस प्रकार से स्पष्ट है कि अग्निपुराण में 'वास्तुशास्त्र' सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है।

---

43. अग्निपुराण– 106/1-3
44. अग्निपुराण– 106/5, 14-17
45. अग्निपुराण– 106/18-24
46. अग्निपुराण– 106/6-13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तराखण्डस्थ मन्दिरों के प्रकार एवं विन्यास

डॉ. सर्वेन्द्र कुमार

भारत देश के धार्मिक इतिहास में उत्तराञ्चल प्रदेश का विशेष महत्व है। गंगा-यमुना के उद्गम स्थलों एवं बद्रीनाथ-केदारनाथ जैसे प्रमुख हिन्दू-तीर्थों से युक्त यह प्रान्त आद्यकाल से तीर्थ-यात्रियों को आकर्षित करता रहा है। महाकाव्यों तथा पुराणों में ऐसे बहुत से आख्यान आते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तराञ्चल में कई शताब्दी ईसा पूर्व से तीर्थ-स्थल विकसित हो गए थे।[1] तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में कालसी (जिला-देहरादून) मानव की गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा था। इसीलिए अशोक-महान ने यहाँ अपने 14 शिलालेखों को उत्कीर्ण कराया था।[2] देवप्रयाग के ब्राह्मी अभिलेखों से उत्तराञ्चल में कम से कम तृतीय-चतुर्थ ई० सदी से तीर्थ-यात्रियों के आगमन के संकेत मिलते हैं।[3] अभिलेखीय साक्ष्यों, विशेष रूप से लाखामण्डल (जनपद देहरादून) से प्राप्त रानी ईश्वरा की प्रशस्ति[4], गणपतिनाग के गोपेश्वर त्रिशूल अभिलेख[5] और पौरव वर्मनों के तालेश्वर ताम्रपात्रों[6] से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तराञ्चल में 6ठी-7वीं सदी में मन्दिरों का निर्माण कार्य किया जा चुका था। यह उल्लेखनीय है कि उत्तराञ्चल में शुंग, कुषाण एवं गुप्तकालीन कला के अवशेष प्राप्त हो चुके हैं। सक्षेपतः उपरोक्त सूचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तराञ्चल में मन्दिरों के अस्तित्व के संकेत ईसा से कई शताब्दी पूर्व

---

1 Uttaranchal (Kumaon-Garhwal) Himalaya: An Essay in Historical Anthropology, Mahesh Prasad Joshi, pp. 7-8

2 (i) Ashok and the Decline of the Maurya's, R.Thapar, pp. 231-32
(ii) Indian Archaeology – A Review, 1972-73, p. 73
(Archaeological Survey of India, New Delhi)

3 "Devprayag Brahmi Inscriptions" – Epigraphia Indica xxx,1953-54, pp. 133-35,

4 "The Praœasti of the temple of Lakhamandal at Madha, in Jaunsar Bawar", pigraphia Indica, I: 10-15, G. Buhler. – 1892

5 Indian Archaeology – A Review, Archaeological Survey of India, New Delhi, 1966-67: 45

6 "Two Talesvara Copper Plates" Epigraphia Indica, xiii: 109-21, Y.R. Gupte, 1917-18.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्धारित किये जा सकते हैं, परन्तु वर्तमान में ज्ञात प्राचीनतम विद्यमान मन्दिर सातवीं शताब्दी ई० पूर्व के नहीं हैं।

निर्माण सामग्री

उत्तराञ्चल में विद्यमान अधिकांश प्राचीन मन्दिर प्रस्तर के हैं; परन्तु यह भी निश्चित है कि किसी समय यहाँ लकड़ी के मन्दिरों का व्यापक प्रचलन था। इसका प्रमुख कारण हिमालय प्रदेश उत्तराञ्चल में लकड़ी की बाहुल्यता का होना है। इस विषय में यह स्थापित सत्य है कि उत्तराञ्चल के स्थानीय आवास-गृहों के निर्माण में स्वतन्त्रता से पूर्व लकड़ी का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता था। उत्तरकाशी में वर्तमान में भी लकड़ी के प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं।[7] जानकारी के लिए उत्तराञ्चल से सटे हिमाचल प्रदेश[8] और नेपाल[9] में आज भी लकड़ी के अनेक कलात्मक प्राचीन मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें से कुछ कला शैली की दृष्टि से लगभग 7वीं शताब्दी ई० तक प्राचीन माने जा सकते हैं। स्वयं उत्तराञ्चल के कटारमल मन्दिर समूह (जिला-अल्मोड़ा) के नवीं सदी ई० के काष्ठ निर्मित मन्दिर-स्तम्भ और 14वीं-15वीं सदी के द्वार[10] राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में प्रदर्शित हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिरों के शिखर के ऊपर वर्षा तथा हिमपात से सुरक्षा के लिए निर्मित किये गये छत-युक्त अलंकृत लकड़ी के ढाँचे अधिकांश प्राचीन मन्दिरों में विद्यमान हैं, जो मन्दिरों में लकड़ी प्रयोग के परिचायक हैं। लकड़ी के अलावा ईटों का प्रयोग भी मन्दिर निर्माण के लिए किया गया था। इसके साक्ष्य वीरभद्र[11], मोरध्वज[12], काशीपुर[13] आदि उत्खननों से मिलते हैं।

उत्तराञ्चल में अधिकांश मन्दिर प्रस्तर खण्डों के हैं। इनका निर्माण स्थानीय पत्थरों से किया गया है। ये पत्थर खानों से खोदकर प्राप्त किये जाते थे तथा इनको आवश्यकतानुरूप तराशकर प्रयोग किया जाता था। चिनाई में किसी प्रकार के गारे या सीमेन्ट प्रयोग के साक्ष्य नहीं

---

7 (i) मध्यहिमालय का पुरातत्व, पृ० 19
(ii) सर्वेक्षण रिपोर्ट - 1984, राकेश तिवारी, चित्र 30-31, पृ० 39-40
(गढ़वाल-कुमाऊँ मण्डल) - 1981-82-83, उ०प्र० - पुरातत्व संगठन लखनऊ

8 The Early Wooden Temples of Chambá.

9 The Temples of Nepal, An Introductory Study, Chapter-III, pp. 16-17.

10 The Katarmal Temples of Kumaon, Vishweshwaranand Indological Journal, 1976, Vol. xvi(i): 99-106.

11 A Note on the "Excavation at Virabhadra" Puratatva-8: 180-81, 1975-76.
(ii) पहाड़, 3:1-13, सम्पादक व प्रकाशक शेखर पाठक, पहाड़ नैनीताल।

13 Indian Archaeology – A Review, Archaeological Survey of India, New Delhi, 1965-66: 53-54.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मिलते, बल्कि ये शिलाखण्ड, जो कि आकार में बहुत बड़े हैं, एक-दूसरे से लौह शलाकाओं से जोड़े जाते थे। लौह-शलाकाओं के बन्धन से ये पत्थर बहुत सुदृढ़ हो जाते थे। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि भूकम्पग्रस्त हिमालययी प्रदेश उत्तराञ्चल में ये मन्दिर शताब्दियों से अपने मूल रूप में विद्यमान हैं।

मन्दिर-विभाजन का आधार

पूर्व एवं उत्तर-मध्यकाल में उत्तराञ्चल में मन्दिरों के निर्माण में द्रव्य, रचना एवं रूप की दृष्टियों से अनेक प्रकार के प्रयोग हुए।

द्रव्य के अनुसार - यहाँ तीन प्रकार के मन्दिर मिलते हैं -

1. काष्ठ प्रासाद - ये हिमाचल प्रदेश के चम्बा, मण्डी, कुल्लू, किन्नौर आदि क्षेत्रों में, यमुना टोन्स की उपरी उपत्यकाओं में तथा नेपाल में निर्मित किए गये।

2. इष्टका प्रासाद - इष्टका मन्दिरों का एकमात्र उदाहरण दुगई आगार का सूर्य मन्दिर अविशिष्ट रह सका है।

3. प्रस्तर प्रासाद - प्रस्तर-देवालयों का क्षेत्र तो सम्पूर्ण उत्तराञ्चल ही है। साथ ही छत्र रेखा-शिखर, शुद्ध रेखा शिखर एवं अपने अनेक उपवर्गों में प्राप्त होते हैं।

रचना के अनुसार - रचना के अनुसार उत्तराञ्चल में दो प्रकार के मन्दिर मिलते हैं-

1. संरचनात्मक मन्दिर - प्राय: सम्पूर्ण मन्दिरों का निर्माण संरचनात्मक रूप में हुआ है।

2. एकाश्मक मन्दिर - एकाश्मक मन्दिरों के निर्माण के मात्र दो उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा - उत्तराञ्चल का एक हथिया देवाल एवं काँगडा का मसरूर मन्दिर (800 ई०)।[14]

द्रव्य एवं रचना के अनुसार मन्दिर भेद

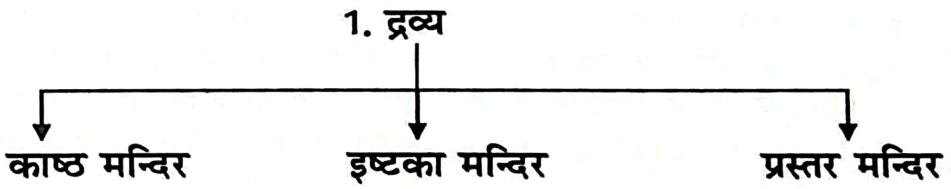

14 मध्यहिमालय की कला, पृ० 27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

2. रचना

संरचनात्मक मन्दिर | **एकाश्मक मन्दिर**

यह विभाजन केवल परिचयात्मक है। हिन्दू-मन्दिर विभाजन का मुख्य आधार 'स्थापत्यीय रूप' रहा है। स्थापत्यीय अर्थात् आकार के आधार पर विभाजन की परम्परा उत्तराञ्चल में सम्भवतः गुप्त-पूर्व काल से ही आरम्भ हो चुकी थी। भारतीय वास्तुशिल्प के आधुनिक मर्मज्ञों का निष्कर्ष है कि नागर, द्राविड़ एवं बेसर मन्दिर-भेदत्रयी[15] दक्षिण भारतीय शिल्पशास्त्रों की है तथा वह वहाँ भी काफी समय बाद में शास्त्रबद्ध हुई है। दूसरी ओर उत्तर-भारतीय परम्परा के शिल्पशास्त्र आकार के अनुसार 'वैराजादि' मन्दिर भेद प्रारम्भिक गुप्तकाल से ही करते आये हैं। अग्निपुराण, गरुड़-पुराण, समराङ्गणसूत्रधार आदि उत्तरभारतीय वास्तुग्रन्थों में जिन 'पञ्चविमानों' से 45 अथवा 64 प्रकार के मन्दिर गृहीत किये गये हैं, वे चतुरस्र, आयतास्र, वृत्त, वृत्तायत एवं अष्टास्र आकार के कहे गये हैं। उत्तरी मन्दिरों के यही पञ्च आधारभूत आकार माने गये हैं। अतएव उत्तर भारत के मन्दिर केवल चतुरस्र ही नहीं होते थे।[16] 'अग्निपुराण' में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि "ये 45 प्रासाद शिखर, कण्ठ एवं आमलक के आकार के अनुसार विभाजित हैं"[17] तथा "इनका नाम नागर एवं लाट प्रासाद है।"[18] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'शिखर का आकार' ही नागर प्रासादों के विभाजन का मूल आधार है। विभाजन का यह आधार समराङ्गणसूत्रधार (11वीं शती ई० मध्य) के काल तक ही नहीं, अपितु प्रासादमण्डनम् (15वीं शती ई०) के काल तक भी उत्तरी भारत में सर्वमान्य था। इसीलिए डॉ० कठोच ने उत्तराञ्चल के मन्दिरों का वर्गीकरण उनके कला को देखते हुए किया है।[19]

---

15 (i) Hindu Temple, pp. 292-94
(ii) The Canons of Indian Art, Third Ed., Chapter-14, pp. 163-165

16 मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता, विश्वकर्मप्रकाश तथा समराङ्गणसूत्रधार में 'प्रासाद विंशति' विभाजन दिया गया है जो 6ठी शती ई० में तो विद्यमान था ही, इससे पहले भी प्रचलित रहा हो, इसमें गज, गुहराज, समुद्र, वर्तुल, चतुरस्र आदि नाम आये हैं, जो स्पष्टतः मन्दिर-आकार हैं। अतएव कहा जा सकता है कि यह भी आकार के अनुसार विभाजन रहा होगा। बाद में इन्हीं 20 प्रासादों को 'नागर प्रासाद' कहा गया है। समराङ्गणसूत्रधार - अध्याय-63, इससे भी प्रमाणित होता है कि उत्तरी परम्परा के प्रासाद वृत्तादि विभिन्न आकार के थे।

17 अग्निपुराण, 104/10-11, पृ० 237

18 अग्निपुराण 104/22, पृ० 237

19 मध्यहिमालय की कला, खण्ड-2, पृ० 28

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थापत्त्यीय रूप (आकार के अनुसार)–

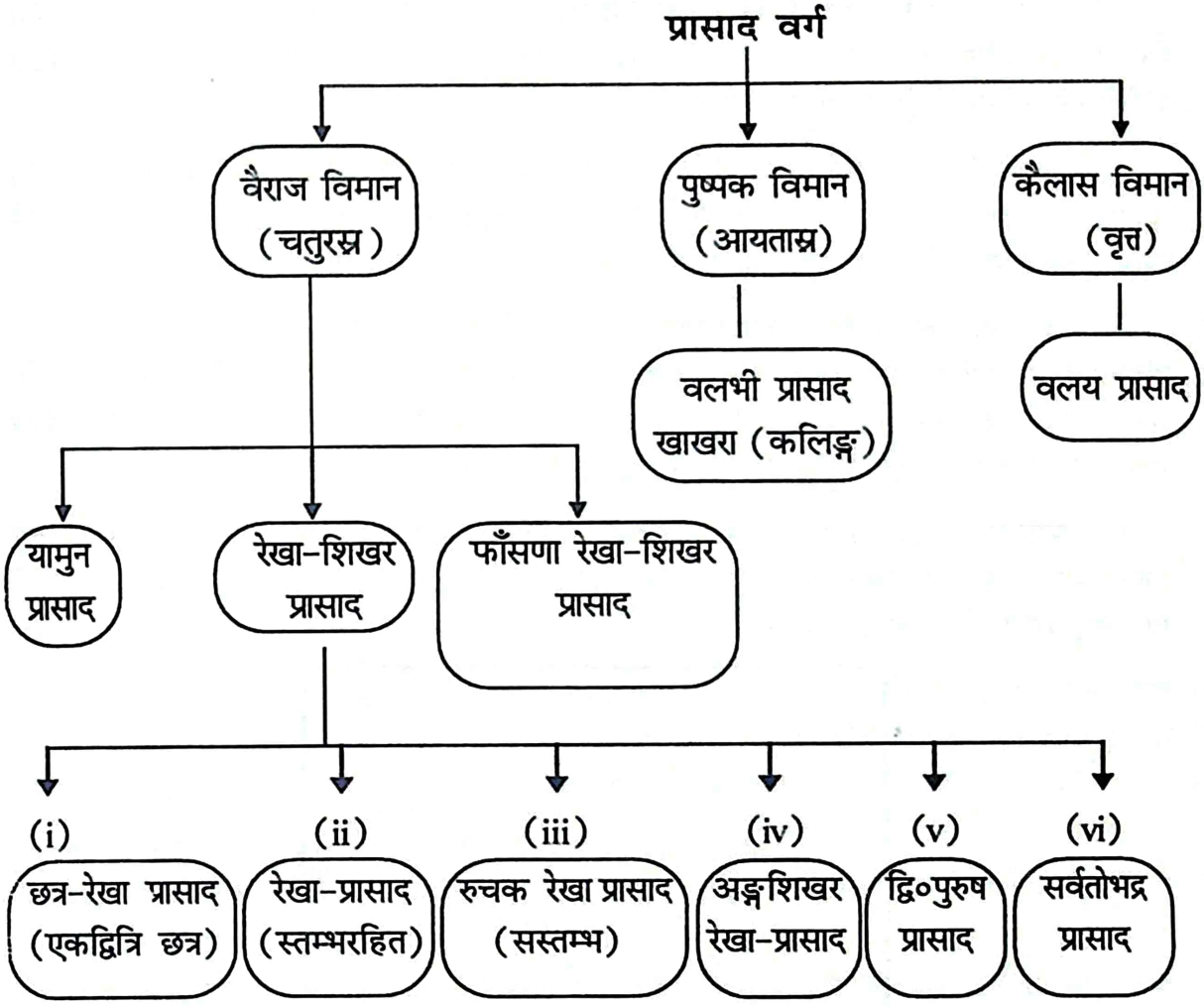

1. वैराज विमान

1.1 यामुन प्रासाद – पैगोडा प्रकार के काष्ठ प्रासादों का क्षेत्र लद्दाख से लेकर नेपाल पर्यन्त है। इसी क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तराञ्चल प्रदेश आता है, जिसमें हिमाचल प्रदेश के कुल्लू, किन्नौर, शिमला आदि क्षेत्र एवं उत्तराञ्चल के यमुना–टोन्स उपत्यका के पहाड़ी क्षेत्र समाविष्ट हैं। भीषण हिमपात, वर्षा तथा काष्ठ की सहज उपलब्धता की भौगोलिक पारिस्थितिकी के कारण यहाँ प्राचीन काल से ही जिन विशिष्ट काष्ठ–मन्दिरों का विकास हुआ उसे ही वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यामुन शैली[20] का नाम दिया गया है। इस शैली के काष्ठ मन्दिरों के कुछ उदाहरण यथा -

(1) महासू देवता मन्दिर-हनोल (देहरादून)। (2) महासू मन्दिर - पुजेली (उत्तरकाशी)। (3) शिव मन्दिर, गैर (उत्तरकाशी)। (4) सोमेश्वर महादेव मन्दिर, खरसाली (उत्तरकाशी)। (5) कपिलमुनि मन्दिर (गुंदियाटगाँव) आदि।

शिल्पशास्त्रों में काष्ठ-मन्दिरों का वर्णन मिलता है। अपराजितपृच्छा[21] के चतुर्दश जाति प्रासादों में 'दारुज' की गणना है। इनमें पत्थर से भिन्न द्रव्य का प्रयोग हुआ, इसी कारण इन्हें विभिन्न अभिधान भी दिये गये, किन्तु उन्हें नागर आदि से पृथक् शैली का नहीं माना गया है।

छाद्य के आकार के अनुसार यामुन प्रासादों के भी दो वर्ग हैं - (1) प्रस्तर या काष्ठ पट्टिकाओं से छादित ढालू छाद्य वाले जनावास शैली के मन्दिर यथा - उत्तरकाशी में खरसाली, मोल्डा तथा देवलसारी के मन्दिर इसी वर्ग हैं। सोमेश्वर मन्दिर खरसाली तथा भद्रकाली मन्दिर मोल्डा त्रि-तलीय हैं एवं प्रस्तर पट्टिकाओं द्वारा छादित हैं।

पैगोडा वर्ग के छत्र मन्दिर - जिनमें सामान्यतः एक दूसरे के ऊपर वृत्ताकार त्रि-छत्र (तीन भँवरी) होते हैं। शिवमन्दिर गैर (उत्तरकाशी), पुजेली, थान के मन्दिर इसी वर्ग के हैं, जो कि यामुनशैली के प्रतिनिधि प्रासाद हैं।

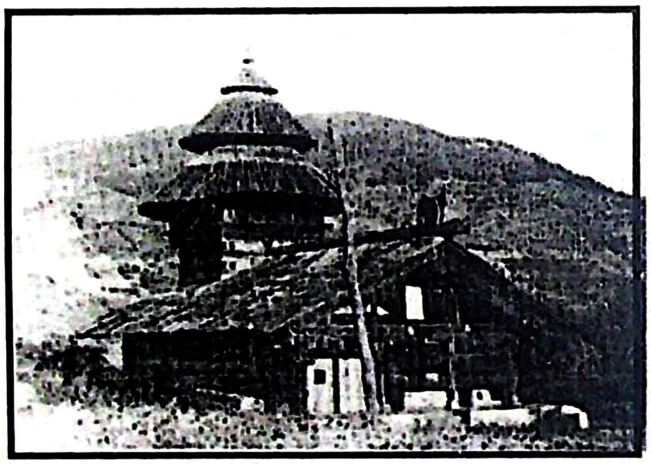

चित्र संख्या 1
काष्ठ निर्मित महासू मन्दिर, पुजेली (उत्तरकाशी)
पैगोड़ा वर्ग का छत्र मन्दिर

20 A Study of Hindu Art and Architecture, p. 196
21 अपराजितपृच्छा, सूत्र-105/38, पृ० 264

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

1.2 रेखा-शिखर प्रासाद

1.2.1 छत्र रेखा-प्रासाद - उत्तरगुप्तकाल के आसपास उत्तराञ्चल में मन्दिरों के निर्माण के लिए प्रस्तर का भी प्रयोग होने लगा। इस काल से यहाँ उत्तर भारतीय नागर शैली के बहुविध यथा रथ-रहित, त्रिरथ और पञ्चरथ प्रासादों का निर्माण हुआ परन्तु प्रधान एवं बहुमानित मन्दिरों की शीर्षरचना वही पैगोडा प्रकार की बनी रही। स्कन्ध के ऊपर, विशाल आमलक को ढकते हुए इस समय में एकाधिक ढालू काष्ठ-छत्र बनाये गये। उदाहरणार्थ - लाखामण्डल का (7वीं शती ई०) मूल इष्टका प्रासाद त्रि-छत्र ही रहा था। कालान्तर में जिसके अनुकरण पर विद्यमान मन्दिर निर्मित किया गया। इसके साथ ही एक छत्र रेखा मन्दिर इस शृंखला में पश्चवर्ती हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि छत्र संख्या इन मन्दिरों के काल निर्णय के लिए उचित निरूपण तत्त्व है।

छत्र रेखा-प्रासादों के **तलछन्द** में मुख्यरूप रूप से दो अङ्ग हैं - (1) प्रक्षेपों द्वारा बना त्रिरथ अथवा पञ्चरथ चतुरस्र मूल प्रासाद। (2) प्रक्षेपों द्वारा निर्मित त्रिरथ अथवा पञ्चरथ चतुरस्र मूलप्रासाद तथा उसके आगे प्रक्षिप्त कपिली। इस प्रकार ये 'निरन्धार प्रासाद' हैं। ऊर्ध्वछन्द में सामान्यतः इनके तीन अङ्ग हैं - (1) त्रि अङ्ग कटि, (2) भूमि आमलकों द्वारा भूमियों में विभक्त एकाण्डक रेखा शिखर। (3) आमलक शिला को ढकता एवं कलश-मण्डित काष्ठ छत्र-युक्त मस्तक।

इन प्रासादों के अन्तर्गत ही उत्तराञ्चल के दो विशिष्ट शैव मन्दिर-तुङ्गनाथ तथा दण्डेश्वर प्रमुख हैं। इनकी विशिष्टता यह है कि ये तलछन्द तथा ऊर्ध्वछन्द में रथहीन हैं, इनमें शिखर की भूमियाँ भूमि आमलकों द्वारा नहीं प्रत्युत्त हल्के-अन्तरपट्टों द्वारा विभक्त हैं। इस पृथक् एवं सरल रूप विधान से ये मन्दिर छत्र रेखा-प्रासाद से कुछ भिन्न अवधारणा वाले प्रतीत होते हैं। डॉ० यशवन्त कठोच के मत से यह अवधारणा प्रतीहार प्रभाव से पूर्वकालीन स्थानीय परम्परा का ही अवशेष है।[22]

छत्र रेखा-प्रासादों में 'गूढ़मण्डप' परवर्ती वृद्धियाँ हैं, जो उपासकों-दर्शनार्थियों की सुविधा के लिए निर्मित किये गये। मूल प्रासादों से इनका मूल रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। केदारनाथ, गोपेश्वर, तुङ्गनाथ, जागेश्वर आदि मन्दिरों के गूढ़मण्डप इसके उदाहरण हैं। इनमें से कुछ बाह्यतः त्रिरथ हैं, तो कुछ में अग्रभाग के द्वार के अतिरिक्त दो पार्श्व द्वार भी निर्मित हैं।

12वीं शती के बाद छत्र रेखा-प्रासाद तथा स्तम्भरहित रेखा शिखर-प्रासाद के मूल मन्दिरों के शिखर लम्बोत्तरे तथा ऊपर की ओर पतले आकार के होते गये हैं। उनमें शुकनासा सादी तथा पुराने अलंकरण अभिप्रायों का अभाव हो गया। छत्र रेखा-प्रासादों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

22 मध्यहिमालय की कला, पृ० 33

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(क) रथ संयुक्त -

1. रुद्रमहालय, गोपेश्वर (त्रिरथ, एक छत्र, - 8वीं शती ई०)।
2. विनसर महादेव, चौथान (त्रिरथ, कटि से ऊपर जीर्णोद्धार, प्रायः 9वीं शती ई०)।
3. मृत्युञ्जय मन्दिर, जागेश्वर (त्रिरथ, एक छत्र, प्रायः 810 शती ई०)।
4. सूर्य मन्दिर, कटारमल (त्रिरथ, प्रायः 12वीं शती ई०)।
5. केदारनाथ मन्दिर, चमोली (पञ्चरथ, एक छत्र - पँवारकालीन जीर्णोद्धार)।
6. जागनाथ मन्दिर, जागेश्वर (त्रिरथ, एक छत्र, प्रायः 950 ई०)।
7. भरत मन्दिर, ऋषिकेश (पञ्चरथ)।
8. शिवमन्दिर, लाखामण्डल (त्रिरथ, त्रिछत्र, प्रायः 10वीं - 11वीं शती का प्रारम्भ।)।
9. रघुनाथ मन्दिर, देवप्रयाग (त्रिरथ, पँवारकालीन)।
10. नारायण मन्दिर, त्रियुगीनारायण (पँवारकालीन) आदि।

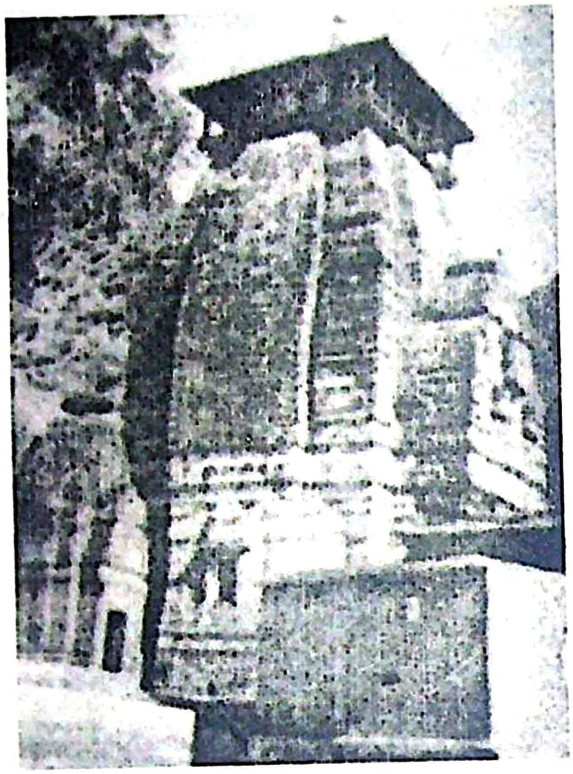

चित्र संख्या 2
रघुनाथ मन्दिर, देवप्रयाग (रथ संयुक्त) छत्र रेखा-प्रासाद

(ख) रथ विहीन (एकाङ्ग)

1. तुङ्गनाथ मन्दिर (प्रायः 9वीं शती ई०), चार अन्तरपट्टों द्वारा विभक्त पञ्चभूम शिखर, एक छत्र)।
2. दण्डेश्वर मन्दिर, जागेश्वर, (प्रायः 10वीं शताब्दी ई०), दो अन्तरपट्टों द्वारा विभक्त त्रिभूम शिखर, जङ्घा पर एक-एक रथिका।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

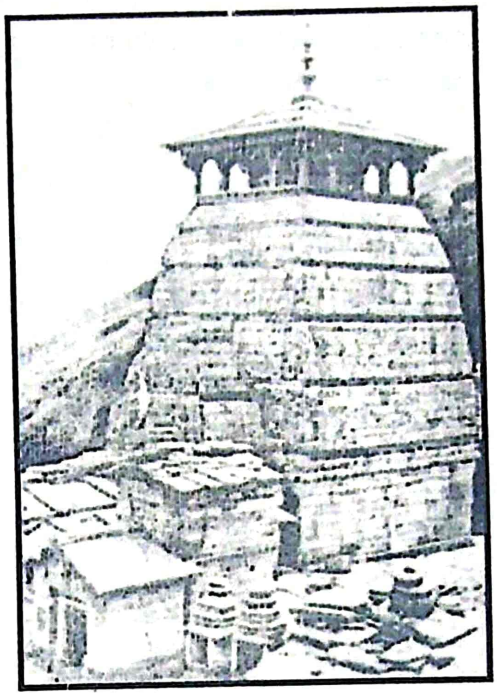

चित्र संख्या 3
तुङ्गनाथ मन्दिर, रुद्रप्रयाग
रथविहीन (एकाङ्ग)।

चित्र संख्या 4
दण्डेश्वर मन्दिर, जागेश्वर
(त्रिभूम शिखर एवं जङ्घा पर एक-एक रथिका)।

3. ओंकारेश्वर मन्दिर, ऊखीमठ, (पञ्चरथ, पंवारकालीन)।

4. वासुदेव मन्दिर, जोशीमठ, (त्रिरथ, 17वीं शती ई० के आसपास पञ्चरथ मन्दिर के स्थान पर पंवारकालीन पूर्व जीर्णोद्धार) आदि।

1.2.2 रेखा-शिखर प्रासाद (स्तम्भ रहित) - रेखा-शिखर प्रासादों में रुचक की तरह स्तम्भ रहित रेखा-शिखर प्रासाद भी लघु आकार वाले हैं। अत एव तलछन्द में इनके मात्र दो भाग हैं - (1) **गर्भगृह** (2) **अन्तराल**। कुमाऊँ मण्डल में बदरीनाथ मन्दिर द्वारहाट, सूर्य मन्दिर चौपाता, खण्डित मन्दिर धामी ग्राम इत्यादि अनेक मन्दिर स्तम्भ रहित रेखा-प्रासाद ही हैं। बदरीनाथ मन्दिर, द्वाराहाट कत्यूरी राजा सुधारदेव द्वारा संवत् 1240 में निर्मित बताया जाता है। पञ्चरथ तथा पञ्चभूम इस मन्दिर के गर्भगृह-द्वार के ललाट पर चतुर्भुज गणेश चित्रित हैं। अन्तराल-द्वार सादा

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है और उसका उपरि प्रस्तर दो सादे कोष्ठकों पर आधारित है। 'कटि' इस काल में भी वर्ह। त्रिअङ्ग प्रकार की है तथा जङ्घा के ऊपर कपोतपाली बाहर को प्रक्षिप्त एवं ढालू रूप में विन्यस्त है। कटि पर अलंकृत स्तम्भयुक्त रथिकाएँ निर्मित हैं। मन्दिर शुकनासा द्विखण्डीय है: **अधोखण्ड** - दोनों पार्श्वों पर लम्बवत् और अग्रभाग पर भित्ति के समान सादा सपाट निर्मित है।

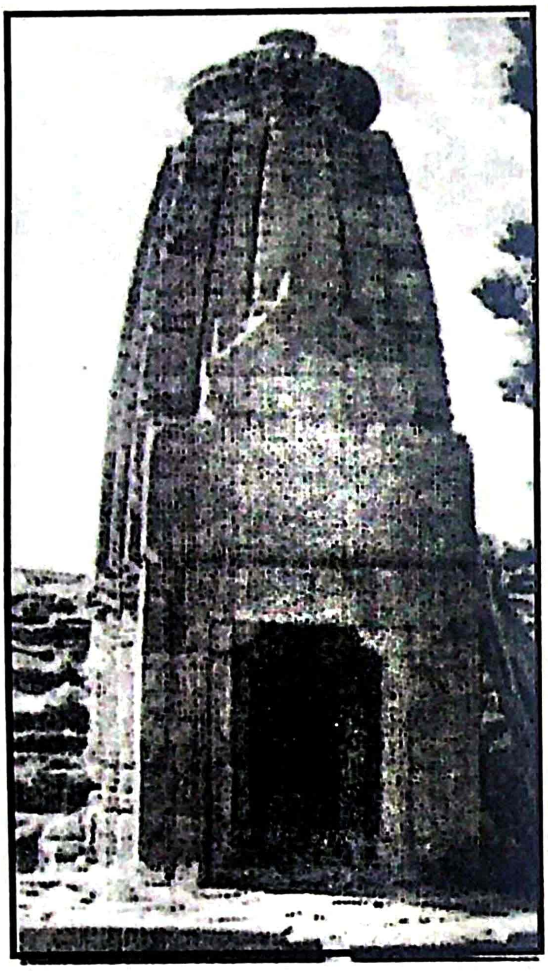

चित्र संख्या 5
बदरीनाथ मन्दिर, द्वाराहाट
(स्तम्भ-रहित रेखा-शिखर प्रासाद)

उपरिखण्ड - पञ्चरथ सा प्रक्षिप्त, सादा तथा पार्श्वों पर सोपानीय बना है। आमलक के ऊपर चन्द्रिका तथा उसके ऊपर लघु अमलसारिका स्थापित है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जोशीमठ के परिवार मन्दिरों तथा सिमली के वैष्णव मन्दिरों के कलश चक्र-रूप में बने हैं।

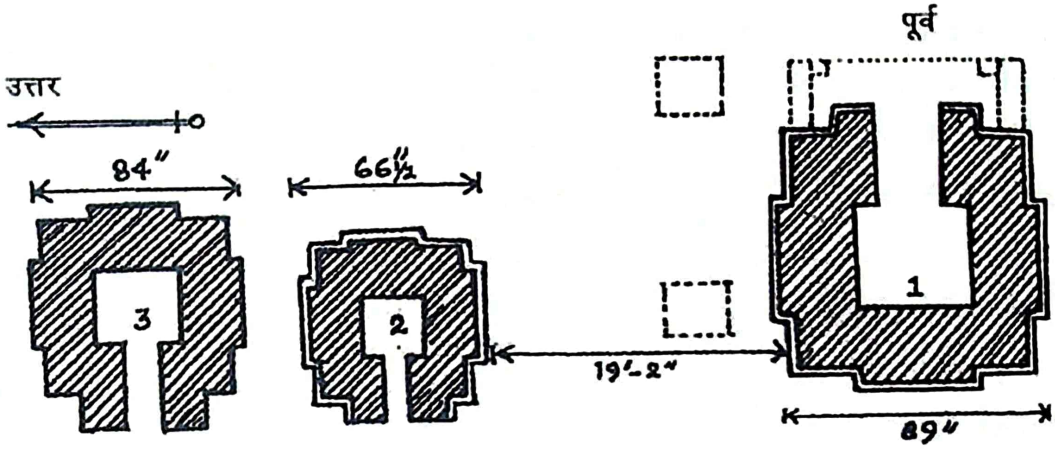

तलछन्द, गोविन्द देवालय समूह, सिमली

(1. प्रधान गोविन्द देवालय, 2. गोविन्द गुणसाईं मन्दिर, 3. ध्वस्त)[23]

1.2.3 रुचक रेखा-प्रासाद (सस्तम्भ) - छत्र रेखा-प्रासादों के उत्तरवर्ती काल में और उसके उपरान्त प्राय: 900 ई० के बाद समान्तर काल में उत्तराञ्चल में ऐसे मन्दिरों का निर्माण हुआ जिन्हें 'रुचक रेखा-प्रासाद' कहते हैं। ये वैराज (चतुरस्र) प्रासाद हैं और **'समराङ्गणसूत्रधार'** में वर्णित मेर्वादिविंशिका में से एक हैं।[24] द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल[25] ने इन्हें 'विशिष्ट नागर' प्रासाद माना है। समराङ्गणसूत्रधार[26] के आधार पर प्रो० कैमरिश ने (The Hindu Temple)[27] में रुचक प्रासादों के तीन प्रमुख लक्षण बताए हैं - (अ) ये शिखर-युक्त लघु मन्दिर होते हैं। (इ) ये मन्दिर निरन्धार हैं। (अ) इनमें 'आगे सस्तम्भ प्राग्ग्रीव ही इनका मण्डप है। इनके अधश्छन्द में भित्तियों की मोटाई, गर्भगृह और प्रासाद-विस्तार का अनुपात 1:2:4 होता है। भित्ति-ऊँचाई में ¼ भाग अधिक होने से

23 मध्यहिमालय की कला, खण्ड-2, पृ० 35

24 समराङ्गणसूत्रधार - अध्याय-72/163-171, द्वितीय खण्ड, तृतीय पटल, पृ० 97

25 भारतीय स्थापत्य, पृ० 275

26 समराङ्गणसूत्रधार - अध्याय-68/44-50, द्वितीय खण्ड, द्वितीय पटल, पृ० 37

27 The Hindu Temple, पृ० 246, परन्तु समराङ्गणसूत्रधार के (49, 25-28) 64 प्रासादों में प्रथम 'रुचक' प्रासाद इससे भिन्न वर्ग का है। उसमें शिखर के स्थान पर 'छाद्यत्रयम्' का विन्यास होता है, यद्यपि तलछन्द में दोनों समान होते हैं। तत्रैव, पृ० 283

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

'पूर्ण घन' का निर्माण नहीं करती जैसा प्रारम्भिक प्रासादों का लक्षण है। अस्तु एक निरन्धार प्रासाद, यथा रुचक की लम्ब भित्तियाँ उसके विस्तार (मानसूत्र) से अधिक ऊँची हो सकती हैं।[28]

तलछन्द में इनके (अ) वर्गाकार गर्भगृह, (इ) लघु कपिली तथा (उ) सस्तम्भ एवं सपाट छत-युक्त प्राग्ग्रीव (अग्रमण्डप) तीन भाग हैं। ऊर्ध्वछन्द में इसके तीन मुख्य भाग होते हैं - (अ) पीठ (इ) सस्तम्भ प्राग्ग्रीव-संयुक्त कटि (उ) लतिन शिखर। शिखर के ऊपर-ग्रीवा, आमलक और कलश तीन मुख्य अङ्ग हैं। विरल रूप में आमलक एवं कलश के बीच में 'चन्द्रिका' भी पायी जाती है। कलश के बहुत रूप मिलते हैं।

रुचक प्रासादों के विषय में कुछ सामान्य तथ्य -

(1) समराङ्गणसूत्रधार[29] में रुचक प्रासाद विष्णु से सम्बन्धित बताये गये हैं। आदिबदरी, भेंत आदि मन्दिर विष्णु को समर्पित हैं।

(2) रुचक प्रासाद निर्माणकाल दृष्ट्या फाँसणा एवं वलभी शिखर प्रासादों की अपेक्षा परवर्तीकाल के हैं।

रुचक मन्दिरों के उदाहरण -

(क) **समूह में** - आदिबदरी (10वीं शती), धुनारघाट, भेंत, द्यूल (सितोनस्यूँ) सुमाड़ी, बैजनाथ (11वीं शती), इत्यादि।

(ख) **परिवार-मन्दिर रूप में** ' जोशीमठ, बागेश्वर, कटारमल, जागेश्वर।

(ग) **स्वतन्त्र मन्दिर** - विश्वनाथ मन्दिर (उरगम), एक-हथिया-देवाल (अल्मियाँ)।

रुचक मन्दिरों की रचना में देश-काल के अनुसार भिन्नता के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए इस वर्ग के अधिकांश मन्दिर-प्राग्ग्रीव की 'छाद्य-पट्टिका' सादी समतल होती है। परन्तु 12वीं-13वीं शताब्दी का मात्र 'एक हथिया देवाल' मन्दिर में प्राग्ग्रीव के ऊपर चार पिढ़ों से निर्मित पिढ़ा-शिखर और उसके ऊपर आमलक नवीन प्रयोग है।

1.2.4-6 अङ्ग-शिखर, द्वि-पुरुष एवं सर्वतोभद्र प्रासाद - रेखा-शिखर प्रासाद के अन्तर्गत अङ्ग-शिखर प्रासाद, द्वि-पुरुष-प्रासाद तथा सर्वतोभद्र-प्रासाद नामक तीन उपभेद भी उत्तराञ्चल प्रदेश में मिलते हैं। इस प्रदेश में ये तीन प्रकार क्षेत्रीय अभिलक्षणों से दूर, क्षेत्रीय परम्परा, प्रमुख प्रवृत्तियों तथा मुख्यधारा से हटकर उत्तर मध्यकाल में निर्मित हुए जो कि अपवादिक प्रकार के हैं।

---

28 तत्रैव, पृ० 251

29 समराङ्गणसूत्रधार - अध्याय-70/8, द्वितीय खण्ड, तृतीय पटल, पृ० 67

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

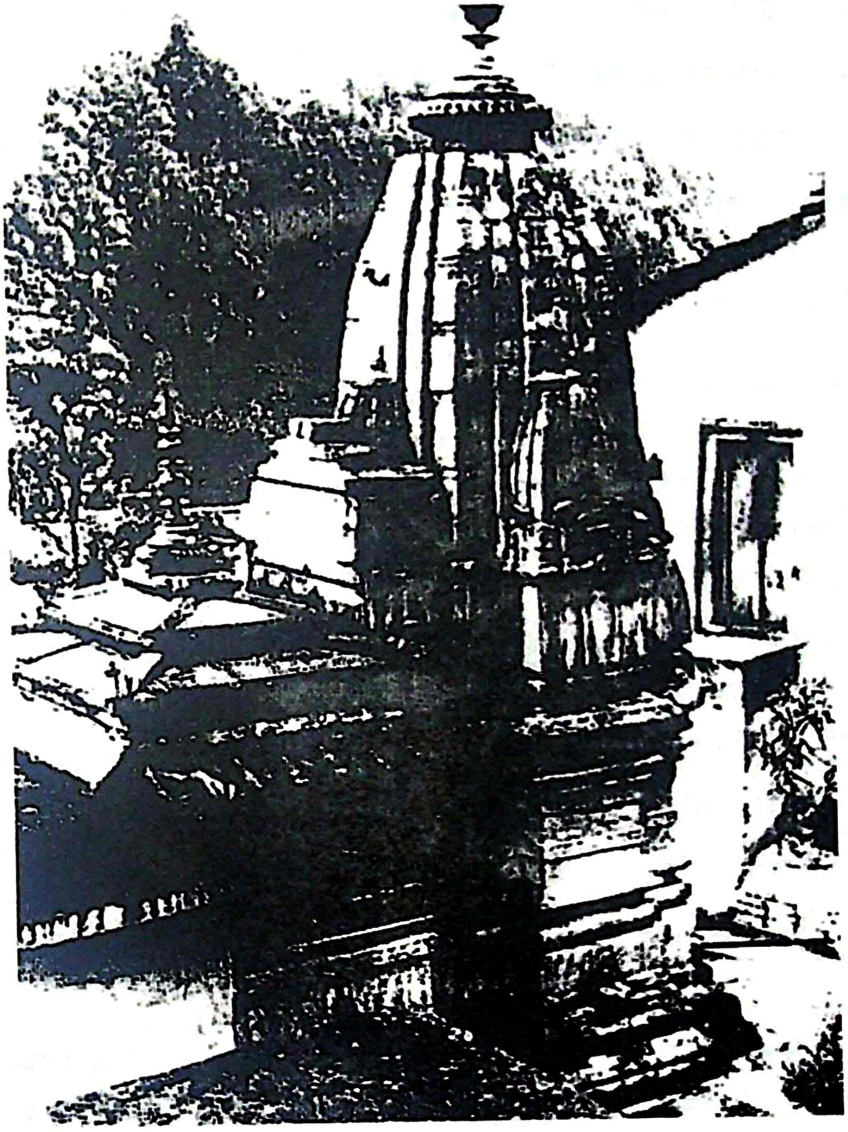

चित्र संख्या 6
नारायण मन्दिर, उमानारायण, गढ़वाल
(अङ्ग-शिखर प्रासाद)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इन तीन प्रकार के मन्दिरों के उदाहरण -

(1) द्वाराहाट तथा वैतरणी (गोपेश्वर) के अङ्ग-शिखर मन्दिर ।

(2) चम्पावत के तीन द्वि-पुरुष मन्दिर ।

(3) दण्डेश्वर (जागेश्वर), नारायणकाली आदि लघु सर्वतोभद्र मन्दिर ।

चम्पावत जनपद में बालीश्वर-सुग्रीवेश्वर एवं चम्पावती रत्नेश्वर मन्दिर दो प्रधान द्वि-पुरुष मन्दिर हैं। ये दोनों मन्दिर तलछन्द योजना में, एक धुरी के दोनों किनारों पर एक-एक गर्भगृह, प्रत्येक गर्भगृह से संलग्न एक-एक 'मण्डप' तथा इनको जोड़ता मध्य में एक मुखमण्डप निर्मित है। बालीश्वर-सुग्रीवेश्वर मन्दिर गूजर देवाल के समान रूप वाले हैं, पञ्चरथ एवं प्रधान शिखर के चारों ओर अङ्ग-शिखर-युक्त है। इसका मण्डप त्रिरथ-विन्यास का है। अतएव इसे शेखरी शैली का द्वि-पुरुष-प्रासाद कह सकते हैं। ये दोनों द्वि-पुरुष-प्रासाद ऊँची जगती-पीठ पर स्थित हैं। परन्तु शैली के आधार पर बालीश्वर-सुग्रीवेश्वर मन्दिर मध्य भारतीय शैली के निकट हैं और चम्पावती-रत्नेश्वर मन्दिर उत्तरी रेखा-प्रासादों के निकट है। साथ ही शैली दृष्ट्या ये मन्दिर 14वीं शती ई० से पूर्ववती नहीं हैं।[30]

स्मरणीय है कि द्वि-पुरुष एवं त्रि-पुरुष प्रासाद कोई पृथक् शैली नहीं, अपितु दो या तीन आराध्य देवताओं की सम्मिलित प्रार्थना (पूजा-अर्चना) के लिए रेखा-शिखर प्रासाद या किसी क्षेत्रीय शैली के अन्तर्गत एक सुविधापूर्ण प्रयोग है।

1.3 फाँसणा-शिखर प्रासाद -

फाँसणा-शिखर मन्दिरों की प्रमुख दो विशिष्टताएँ हैं-

(1) तलछन्द में इस शैली के देवालय रथविहीन तथा चतुरस्र 'गर्भगृह' एवं 'अन्तराल' युक्त होते हैं।

(2) ऊर्ध्वछन्द में इस शैली के देवालय अनेक क्षैतिज पट्टियों से निर्मित, पिरामिडरूप 'शिखर' जो विधिपूर्वक वक्ररेखीय तथा आमलक द्वारा मण्डित होता हैं। उड़ीसा के शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में शिखर की इन क्षैतिज पट्टियों को 'पिढ़ा' कहते हैं। उत्तराञ्चल में 'पिढ़ा' प्रकार कुछ-एक स्थलों पर प्रधान प्रासाद के रूप में दिखायी देता है। पिढ़ा-शिखर मन्दिरों में शिखर पर पिढ़ों का आकार उत्तरोत्तर क्रम से घटता जाता है। शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार शीर्ष-पिढ़ा निम्नतम पिढ़ा का आधा होता है, परन्तु शिखर रेखा-द्यूल के समान 'क्रॉस सेक्सन' में चतुरस्र ही रहता है। इस प्रदेश में फाँसणा-शिखर प्रासाद अपने शुद्ध रूप में न होकर मिश्रित रूप में हैं।

30 मध्यहिमालय की कला, खण्ड-2, पृ० 38

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस वर्ग के मन्दिर यहाँ आरम्भिक काल से लेकर मध्यकाल तक विभिन्न रूपों में निर्मित होते रहे। इसके प्रमुख उदाहरण आरम्भिक कालीन (प्रायः 7वीं शती ई०) पलेठी के मन्दिर 'पिढ़ा वर्ग' के हैं। कुछ उदाहरण - निम्नवत् हैं -

(अ) प्रासाद रूप में -

(1) सूर्य मन्दिर, पलेठी, (12 पिढ़ा[31], बाह्य-विस्तार 10-8" = 3.45 मी० चतुरस्र, काल-प्रायः 650-700 ई०)।

(2) कपिलेश्वर मन्दिर, सैंज (18 पिढ़ा, बाह्य विस्तार 5.40 मी० चतुरस्र, शिखर तीन भूमियों में विभाजित, काल-8वीं शती ई०)।

(3) सत्यनारायण एवं वीर भद्र मन्दिर, भेंत, - (12 पिढ़ा, काल-9वीं शती ई० का अन्त)।

(4) नारायण मन्दिर, नारायणकाली, (20 पिढ़ा, बाह्य विस्तार 2.60 मी०, चतुरस्र, कटि पर शूरसेन युक्त रथिकाएँ)।

(5) महालक्ष्मी मन्दिर, कालीमठ - (12 पिढ़ा, जङ्घा एवं शिखर रथ-रहित, शिखर के भद्रों पर लतिन जैसी सादी पट्टी एवं कर्णों पर पिढ़ा)।

(ब) परिवार-मन्दिर रूप में -

(1) शिवमन्दिर, पलेठी, (10 पिढ़ा, काल-प्रायः 7वीं शती ई०)।

(2) शिवमन्दिर, माणखी (चमोली) - (10 पिढ़ा, गर्भगृह तथा अन्तराल, जङ्घा पर भद्र-रथिकाएँ)।

(3) लकुलीश मन्दिर, जागेश्वर - (10 पिढ़ा, काल-प्रायः 8वीं शती का अन्तिम या 9वीं शती ई० का आरम्भ)।

(4) कटारमल के कुछ लघु मन्दिर - काल-प्रायः 12वीं से 13वीं शती ई०)।

2 पुष्पक विमान

वलभी प्रासाद - वलभी प्रासाद चतुरस्र प्रासादों से भिन्न अनेक उपभेदों वाले होते हैं। ये प्रासाद अग्निपुराण[32] तथा समराङ्गणसूत्रधार[33] में आयतास्र 'पुष्पकविमान'

---

31 मध्यहिमालय की कला, पृ० 39

32 अग्निपुराण, अध्याय-104, पृ० 237-38

33 समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय-63/7-8, द्वितीय खण्ड, प्रथम पटल, पृ० 5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के अन्तर्गत वर्णित हैं। अपने गजपृष्ठाकार या ढोलाकार पृष्ठतल के कारण इन्हें उत्तरी-परम्परा में 'वलभी' या 'वलभीछन्द' एवं दक्षिणी-परम्परा के वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में 'शाल-शिखर' देवालय कहा गया है। राजसिंह वास्तुशास्त्र में वलभी 14 प्रासाद-जाति में वर्णित हैं; जिसका लक्षण "चतुरस्रायाततलछन्द, त्रितल एवं गजपृष्ठाकार छाद्य" है।[34]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण (तृतीयकाण्ड)[35] में 100 या 101 प्रासादों का वर्णन मिलता है। इन्हें रूप-विधान दृष्ट्या 8 प्रधान परिवारों में विभाजित किया गया है। इनमें तृतीय परिवार का प्रथम प्रासाद वलभी नाम से जाना जाता है। इसमें 'कटि' के ऊपर 'कूट' के स्थान पर वलभी होती है।[36] इस परिवार के अन्य प्रासादों के नाम हैं - यथेष्ठ, त्रिगुण, शिखर, तथा कुञ्जर।

वलभी प्रासाद के लक्षण - (i) कूट के स्थान पर पृष्ठ, जिसका ढाल चारों ओर या केवल दो पार्श्वों में होता है। (ii) पृष्ठ पर तीन आमलसारक। (iii) पृष्ठ के दोनों तरफ चन्द्रशालाएँ। (iv) विन्यास चतुरस्रायत (चौड़ाई से तीन गुनी लम्बाई)। 'नागर-प्रासाद विंशति' में 'गज' (कुञ्जर), **'गृहराज'**, वलभीछन्द एवं समराङ्गणसूत्रधार[37] में वर्णित 64 प्रासादों में गजपृष्ठ, वलभी तथा कुञ्जर नाम पृथक्तः आने के कारण प्रतीत होता है कि वे वलभी परिवार के भेद हैं।

वलभी प्रासादों की अवस्थिति - सम्भवतया वलभी देवालयों की 'अवस्थिति' 'प्रधान देवालय के साथ निश्चित थी। **प्रथम** - ये अष्टायतन देवालयों के साथ निश्चित रूप से सम्बद्ध होते थे। **द्वितीय** - इनमें से जो नवदुर्गा या सप्तमातृका या देवी के लिए समर्पित होता था, उसे अधिकतर मूल देवालय के बांये भाग में निर्मित करने का विधान था। उत्तराञ्चल प्रदेश के जोशीमठ का वासुदेव मन्दिर लगभग (लगभग 9वीं शती ई०) अष्टायतन है और इसमें तीनों वलभी मन्दिरों की अवस्थिति एक समान है। मातृकाओं को समर्पित रुद्रमहालय, गोपेश्वर के वलभी मन्दिर की अवस्थिति तो दक्षिण-पूर्व में है, परन्तु माता को समर्पित वलभी मन्दिर की अवस्थिति मुख्य प्रासाद के बाँये भाग में है। अतः इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वर्ग के मन्दिरों की **'अष्टायतनविनिवेश'** के लिए विहित व्यवस्था तो थी ही, साथ ही मन्दिर-समूहों में ये परिवार-मन्दिरों के रूप में भी निर्मित किये जाते थे।

भारतीय हिन्दू स्थापत्य में चतुरस्र ही देवालय की मूल तथा प्रधान योजना है। **'प्रासादमण्डनम्'** ग्रन्थ तो आयतास्र गर्भगृह को एक दोष के रूप में स्वीकार करता है - **"दोषदं गर्भमायतम्"**[38]

34 राजसिंह वास्तुशास्त्र, अध्याय-1

35 विष्णुधर्मोत्तर पुराण - तृतीयकाण्ड, अध्याय-86, पृ० 350

36 वही, पृ० 350

37 समराङ्गणसूत्रधार - अध्याय-70-71, द्वितीय खण्ड, द्वितीय पटल, पृ० 67-73

38 प्रासादमण्डनम् - 3.33, पृ० 56

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लेकिन आयतास्र भी चतुरस्र-विन्यास का ही रूपान्तरण है। आयतास्र गर्भगृह की रचना का एक विशिष्ट प्रयोजन था। **प्रो० स्ट्रैला क्रैमरिश** के कथनानुसार "आयतास्र गर्भगृह चतुरस्र का ही निश्चित प्रयोजनों के लिए एक प्रयोग है। उदाहरण के लिए जब एक से अधिक अर्चा के लिए (पूजा के लिए) प्रतिमाएँ होती हैं।[39] गोपेश्वर, जोशीमठ एवं जागेश्वर के परिवार-मन्दिरों में मातृका व नवदुर्गाओं की प्रतिष्ठा को देखते हुए डॉ० क्रैमरिश की यह धारणा सुसङ्गत लगती है।

वलभी मन्दिर-समर्पण - विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा मत्स्यपुराण के अनुसार सभा आकार के 'वलभीछन्द' एवं 'गृह' नामक देवालय गौरी या देवी के लिए समर्पित होते हैं।[40] धारा नरेश भोजकृत 'समराङ्गणसूत्रधार' में भी वलभी मन्दिर चण्डी को समर्पित बताया गया है।[41] 'मानसार' में आकार के अनुसार मन्दिरों के 'पुरुष' तथा 'स्त्री' संज्ञक दो प्रकार वर्णित है। समकोण वाले या वृत्त मन्दिर 'पुरुष मन्दिर' एवं आयतास्र मन्दिर 'स्त्री मन्दिर' कहलाते हैं। पुरुष मन्दिरों में देवता और स्त्री मन्दिरों में देवियाँ स्थापित होती हैं।[42] प्रो० आचार्य ने भी कहा है कि देवीमूर्तियाँ पुरुष-मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जा सकती हैं।[43] अपराजितपृच्छा में भी वलभी मन्दिर 'स्त्री-संज्ञक' तथा गौरी आदि देवियों से सम्बद्ध बताया गया है।[44]

वलभी मन्दिरों की कुछ सामान्य विशिष्टताएँ -

(i) उत्तराञ्चल प्रदेश में वलभी मन्दिर छत्र रेखा-शिखर मन्दिरों की तुलना में महत्वपूर्ण नहीं हैं, और न ही रुचक मन्दिरों की तुलना में बहुसंख्यक हैं। इनका निर्माण लगभग 1000 ई० तक विशुद्ध रूप में होता रहा।

(ii) प्रमुख रूप से ये मन्दिर परिवार-मन्दिरों के रूप में प्राप्त होते हैं, कभी-अष्टायतन विन्यास में, कभी मन्दिर समूहों में मिलते हैं। इनमें जो वर्तमान में मूल मन्दिर के रूप में दिखाई देते हैं उनमें अनेक या तो कभी किसी काल-विशेष में प्रधान प्रासाद के परिवार-मन्दिर रहे होंगे।

---

39 The Rectangular Garbhgrha is an application of the square for difinite Purpose, when for instance more than one image is the cult object, in temples of the Avátaras of visnu.... or in those of the mother's (The Hindu Temple, Vol. I, p. 150, note 52).

40 विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं मत्स्यपुराण - अध्याय-269

41 समराङ्गणसूत्रधार - अध्याय-70/12-13 1/2, द्वितीय खण्ड, द्वितीय पटल, पृ० 67

42 मानसार-अध्याय-19, उद्धृत- Indian Architecture (According to Manasara Shilpshastra), p. 49

43 Indian Architecture, 1979, p. 49

44 अपराजितपृच्छा - सूत्र-105/34-35, पृ० 264

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(iii) मुख्यतया ये वलभी मन्दिर 'शक्ति' (देवी) को समर्पित हैं। ...

(iv) वलभी मन्दिर ऊर्ध्व एवं तलछन्द में आयतास्र हैं, आकर की दृष्टि से लघु शरीर वाले हैं। सभी का प्रवेश द्वार लम्बाई की ओर है और इनका वलभी शिखर एक कन्धर द्वारा विभक्त दो-खण्डों वाला है।

वलभी मन्दिरों के उदाहरण -

(अ) मूल मन्दिर

(1) वाराही देवी मन्दिर, देवीधुरा (पिथौरागढ़, निर्माणकाल - 9वीं शती ई०)।

(2) चण्डिका मन्दिर, पातालभुवनेश्वर (पिथौरागढ़, शिखर-लतिन भद्र-सा, भद्रों पर खत्तक)।

(3) वृद्ध भरसार-मन्दिर (गढ़वाल, निर्माणकाल 11वीं शती ई०)।

(4) भगवती मन्दिर (चमोली-गढ़वाल, निर्माणकाल 9वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध)।

(ब) परिवार मन्दिर -

(1) माता मन्दिर एवं मातृका मन्दिर - (गोपेश्वर, निर्माणकाल 8वीं शती ई० पूर्वार्द्ध)।

(2) नवदुर्गा मन्दिर जोशीमठ - (अष्टायतन वासुदेव मन्दिर के परिवार मन्दिर, निर्माणकाल 9वीं शती ई० मध्य)।

(3) नन्दादेवी मन्दिर, बजिंगा (टिहरी-गढ़वाल, निर्माणकाल 9वीं शती मध्य)।

(4) उमामहेश्वर मन्दिर, मद्महेश्वर - (रुद्रप्रयाग) आदि।

विकासमूलक स्थापत्त्यीय विभिन्नताएँ -

वलभी मन्दिर के सामान्य लक्षणों की दृष्टि से सभी में समानता देखने को मिलती है। परन्तु अपनी विकास यात्रा के पथ पर उनके रूप-विधान में कुछ विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं यथा -

(i) मातामन्दिर (गोपेश्वर), नन्दादेवी मन्दिर (बजिंगा-टिहरी गढ़०), भगवती मन्दिर, बमन-सुआल (अल्मोड़ा), नवदुर्गा, कालिका एवं पुष्टि मन्दिर (जागेश्वर) तल एवं ऊर्ध्वछन्द में रथ-रहित हैं। अतः इनकी जङ्घा सादी हैं। जबकि जागेश्वर और पातालभुवनेश्वर के चण्डिका मन्दिर त्रिरथ विन्यासयुक्त हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(ii) शुकनास-मण्डित 'कपिली' आरम्भ से अन्त तक प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए 8वीं शती ई० में निर्मित माता मन्दिर, गोपेश्वर तथा भगवती मन्दिर, बमन-सुआल- (अल्मोड़ा) में यह विद्यमान नहीं है। तथापि 9वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में निर्मित नन्दादेवी मन्दिर (बजिंगा-टि०ग०) तथा नवदुर्गा मन्दिर, जागेश्वर के प्रारम्भिक वलभी मन्दिरों में यह प्राप्त नहीं होती।

(iii) नवदुर्गामन्दिर, जागेश्वर में प्रवेश-द्वार पर दो घटपल्लव रुचक स्तम्भों का लक्षण अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

चित्र संख्या 7
नवदुर्गा मन्दिर, जागेश्वर
(प्रवेश-द्वार पर दो घटपल्लव)

(iv) शिखर के अधोखण्ड के आधार पर तथा चारों भद्र-प्रक्षेपों के ऊपर 'आमलक' तथा भद्रों पर उद्गम मण्डित रथिकाएँ, ये दोनों लक्षण भी परवर्ती हैं और चण्डिका मन्दिर (जागेश्वर) तथा पातालभुवनेश्वर (पिथौरागढ़) इत्यादि मन्दिरों में विकासमूलक स्थापत्यीय विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3 कैलास विमान

3.1 वलय प्रसाद - वलय अथवा वृत्ताकार प्रासाद उत्तरी-परम्परा के वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित 'कैलास-विमान' के अन्तर्गत आते हैं। उत्तराञ्चल में वलय प्रासाद का एकमात्र उदाहरण पाण्डुकेश्वर का 'योगबदरी मन्दिर' है। लेकिन इस प्रकार के प्रासाद उत्तर प्रदेश के मैदानी भूभाग में परौली, कुररि, तिण्डुलि में और मध्यप्रदेश के गुर्गी मसौन व चन्द्रेहे में पाये जाते हैं। इन सभी देवालयों में अत्यधिक समानताएँ हैं, फिर भी इनमें वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से एक अन्तर विशेषतः दिखायी देता है जो इस प्रकार है -

(1) उत्तराञ्चल प्रदेश के पाण्डुकेश्वर में स्थित योगबदरी मन्दिर - अधश्छन्द में बाहर-भीतर चतुरस्र, ऊर्ध्वछन्द में रथ-विहीन बेलनाकार वृत्तशिखर।

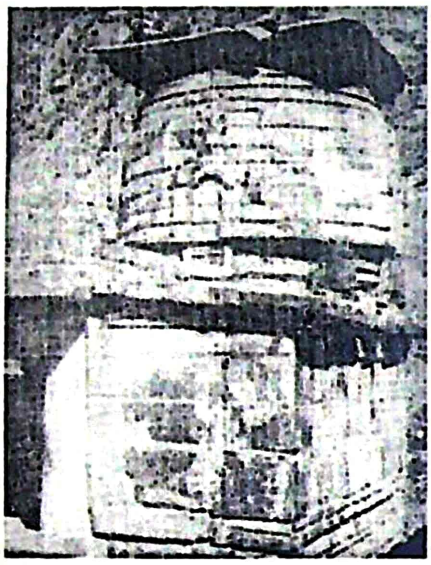

चित्र संख्या 8
योगबदरी मन्दिर, पाण्डुकेश्वर
(बेलनाकार वृत्त-शिखर युक्त)

(2) उत्तर प्रदेश के कुररि (इष्टका) देवालय-अधश्छन्द में गर्भगृह अन्दर चतुरस्र तथा बाहर बहुकोणीय द्वारा वृत्ताकार।

(3) मध्य प्रदेश के चन्द्रेहे शिव मन्दिर - अधश्छन्द में गर्भगृह बाहर-भीतर 16 भद्रों द्वारा वृत्ताकार, ऊर्ध्वछन्द में 16 भद्र-युक्त और आमलक-मण्डित रेखा शिखर।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिर नियोजन तथा वास्तु शिल्प

उत्तराञ्चल के मन्दिर निरन्धार हैं अर्थात् यहाँ के कुछ एक मन्दिरों को छोड़कर अधिकतर मन्दिरों में कोई प्रदक्षिणापथ नहीं बनाया गया है। ये स्वयं में एक सम्पूर्ण संरचना हैं। इनमें न तो कोई पृथक् तोरण पाया जाता है, न कोई बाड़े की प्राचीर। यहाँ के अधिकांश आदि मन्दिर जगती विहीन हैं और भूमि की सतह से सीधे उठाये गये हैं। अधिकतर मन्दिरों में लतिन एवं फाँसणा शिखर-युक्त मूलप्रासाद हैं तथा इससे मिला हुआ कपिली एवं प्राग्ग्रीव। कुछ में प्राग्ग्रीव के स्थान पर गूढ़मण्डप तथा कुछ में इनसे सटा मुखमण्डप भी निर्मित किया गया है।

उत्तराञ्चल के कुछ मन्दिर पञ्चायतन भी हैं, जिनमें मुख्य मन्दिर के साथ चार कोनों में चार कर्णप्रासाद बने हैं। पञ्चायतन शैली के अन्तर्गत ही एक ही पंक्ति में एक साथ संयुक्त मण्डोवर एवं मण्डपयुक्त पाँच मूलप्रासादों का निर्माण भी पाया जाता है। यह स्थानीय विशिष्टता कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्दिर भी हैं, जिनमें संयुक्त मण्डोवर एवं मण्डपयुक्त दो मूलप्रासाद भी हैं। कुछ लघु देवालय सर्वतोभद्र अर्थात् चतुर्मुख संरचनाएँ हैं, जिनमें चारों दिशाओं में पूजा (अर्चना) की जा सकती है।

1. तलछन्द - उत्तराञ्चल के मन्दिरों के मूलप्रासाद का तलछन्द बिना किसी अपवाद के चतुर्भुजाकार है। यहाँ के रेखाशिखर-युक्त अधिकांश मन्दिर त्रिरथ हैं, जिनमें केवल 'भद्र' और "कर्ण रथ" बनाये गये हैं। अतः ये द्वि-अंग हैं। पञ्चरथ मूलप्रासाद के कुछ उदाहरण भी उत्तराञ्चल में मिलते हैं, जिनमें 'भद्र', 'प्रतिरथ' तथा 'कर्णरथ' बनाये गये हैं। अतः ये त्रि-अंग हैं। फाँसणा एवं वलभी शिखर-युक्त देवालयों के तलछन्द में कुछ अपवादों को छोड़कर 'भद्ररथ' निर्मित नहीं है। स्मरणीय तथ्य यह है कि 'भद्र' प्रक्षेप केवल बाहर की ओर ही बनाए जाते हैं। मूलप्रासाद का आन्तरिक तलछन्द चतुर्भुजाकार या वर्गाकार होता है। उत्तराञ्चल के देवालयों का गूढमण्डप चतुर्भुजाकार है। द्वारहाट का गूजर देवाल, जागेश्वर का जागेश्वर मन्दिर तथा चम्पावत का बालेश्वर-सुग्रीवेश्वर मन्दिर कुछ ऐसे प्रमुख उदाहरण हैं, जिनका मण्डप त्रिरथ है अर्थात् इनमें 'भद्र' प्रक्षेप निर्मित हैं। जागेश्वर मन्दिर के गूढ़मण्डप में सामने की ओर के प्रवेश द्वार के अतिरिक्त दांयी ओर एक और प्रवेश द्वार है।

2. ऊर्ध्वछन्द - उत्तराञ्चल के मन्दिरों का ऊर्ध्वछन्द योजनाबद्ध है तथा तलछन्द एवं शिखर शैली के अनुसार भिन्न-भिन्न है। साधारणरूप से ऊर्ध्वछन्द में यहाँ के देवालयों में तीन प्रमुख भाग पाये जाते हैं यथा - मण्डोवर, शिखर तथा मस्तक। कुछ मन्दिरों में जगती या पीठ का भी प्रावधान है, लेकिन द्वाराहाट के गूजरदेवाल तथा चम्पावत के बालेश्वर-सुग्रीवेश्वर एवं चम्पादेवी रत्नेश्वर देवालयों को छोड़कर उत्तराञ्चल के किसी भी मन्दिर में पूर्ण विकसित पीठ नहीं पायी जाती।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

3. मण्डोवर - ये तीन भागों में निर्मित है, जो नीचे से ऊपर को क्रमशः ये वेदीबन्ध, जङ्घा तथा वरण्डिका नाम से जाने जाते हैं। वेदीबन्ध का निर्माण विभिन्न प्रकार की क्षितिजाकार पट्टिकाओं से किया जाता है, जो नीचे से ऊपर को क्रमशः खुर, कुम्भ, कन्धर/कलश तथा कपोतपाली कहलाती हैं। कुछ उदाहरणों में कपोतपाली के ऊपर पट्टिका या अलंकृत पट्टिका भी निर्मित है।

वेदीबन्ध के ऊपर जङ्घा भाग आता है, जो गर्भगृह की मुख्य दीवारों से निर्मित होता है। उत्तराञ्चल के मन्दिरों के मूलप्रासाद का जङ्घा भाग या तो अलंकरण रहित है या फिर इसके विभिन्न कोनों में 'घटपल्लव, अर्द्धपदम्, कीर्तिमुख एवं ज्यामितीय अभिप्रायों से अलंकृत रुचक कूट निर्मित किये गये हैं। ऐसे मन्दिरों की संख्या भी कम नहीं है, जिनके 'भद्र' में उद्गमयुक्त' रथिका बनाये गये हैं। कुछ उदाहरणों में उद्गम को रुचक कूटों' का आधार दिया गया है। इसके अतिरिक्त अर्द्धपद्म, चैत्यगवाक्ष, गवाक्ष, कीर्तिमुख तथा ज्यामितीय अभिप्राय भी अलंकृत हैं। रथिकाओं में बहुधा पार्श्वदेवता भी पाये जाते हैं। जङ्घा के ऊपर वरण्डिका भाग नियोजित किया जाता है, जो पुनः विभिन्न क्षितिजाकर पट्टिकाओं से निर्मित है; यथा वेदिका, कपोतपाली, तुला आदि। स्मरणीय बात यह है कि ये पट्टिकाएँ प्रत्येक मूलप्रासाद में पृथक्-पृथक् संख्या और आकार-प्रकार में पायी जाती हैं।

उत्तराञ्चल के देवालयों के शिखर भाग का ऊर्ध्वछन्द इनकी शैलियों पर आधारित है। रेखा-शिखर शैली का शिखर द्वि-अंग होने पर एक, तथा त्रिअंग होने पर तीन लताओं से युक्त होता है। इसके आवृत्त लिए बाहरी भाग या कर्ण में बीच-बीच में भूमि आमलक पाये जाते हैं। जिनकी संख्या-विशेष के आधार पर देवालय के तल ज्ञात किये जाते हैं। बहुधा इनकी संख्या 4 या 5 होती है, परन्तु छोटे-देवालयों में दो या तीन भी पाये जाते हैं। ये लक्षण एकाण्डक शिखर में होते हैं। **अनेकाण्डक शिखर** में मूल शिखर के आधार के चारों ओर शिखरों का समूह तथा प्रमुख दिशाओं में उरःशृंग, प्रत्यंग एवं कूट, कक्षकूट व तिलक अलंकरण पाया जाता है। इसका एक मात्र उदाहरण द्वाराहाट का **'गूजरदेवाल का मन्दिर'** है।

फाँसणा शिखर का ऊर्ध्वछन्द क्षितिजाकार पट्टिकाओं से निर्मित किया गया है। इसकी प्रक्षेपित पट्टिकाएँ कपोत या सूर्प आकार में हैं। प्रारम्भिक उदाहरणों में ये साधारण पट्टिका सदृश हैं।

वलभी शिखर का ऊर्ध्वछन्द दो आवृत्त लिए हुए चरणों में उठाया जा गया है। इसका निचला चरण सूर्प या कपोत सदृश स्कन्ध वेदी से बना है, जिसके ऊपर कलश और उसके ऊपर वलभी शिखर है। सामने से वलभी शिखर के पार्श्व छोर सीधे तथा छत धुरीदार दिखायी देती है, परन्तु पार्श्व से देखने पर यह शूरसेनक सदृश त्रिपर्णी आकार की है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रूप में धुरीदार छत के दोनों छोरों में बाहर की ओर मुख किये एक-एक सिंह/गजाक्रान्त सिंह को रखा गया था। वर्तमान में नवदुर्गामन्दिर, जागेश्वर तथा भगवती मन्दिर, बमन-सुआल मन्दिरों में से सिंह मूलरूप में विद्यमान हैं। मूलप्रासाद का मस्तक वलभी शैली को छोड़कर अन्य सभी शैलियों में एक जैसा है। यह शिखर के स्कन्ध के ऊपर क्रमशः ग्रीवा या कण्ठ, आमलक, कर्परी या चन्द्रिका, कलश और आयुध भागों से निर्मित है। कुछ मन्दिरों में स्कन्ध के ऊपर मस्तक भाग को ढकते हुए वेदिकायुक्त मण्डप सदृश काष्ठ-छत्र निर्मित है, जो कि स्थानीय देवालयों की हिमपात से सुरक्षा के लिए बनाया गया है।

मूलप्रासाद का सामने का भाग जिसमें गर्भगृह का प्रवेश द्वार होता है कुछ अपवादों को छोड़कर सभी शैलियों में एक समान है। यह कपिली में बनाया गया है। सामान्यतया इसमें तीन भाग होते है यथा - उदुम्बर, पेद्या तथा उतरंग। पेद्या कई शाखाओं में विभाजित होती है, जिनकी संख्या 3,4,5,7 तक पायी जाती है। प्रत्येक शाखा में एक-एक अभिप्राय अलंकृत होता है जैसे - पत्र, पुष्प, फुल्लावती, नाग, ज्यामितीय अभिप्राय आदि। इसके अतिरिक्त पेद्या के मूल में दैवी-आकृतियाँ गंगा-यमुना द्वारपाल के रूप में तथा ऊर्ध्वपट्टिका में विभिन्न दैवी-आकृतियाँ एवं ललाटबिम्ब में गणेश, गजलक्ष्मी, शिव आदि पाये जाते हैं।

द्वारशाखा के ऊपर सादा या अलंकृत शूरसेनक निर्मित किया गया है, जिसके ऊपर वलभी शैली की धुरीदार छत पर सिंह या गजाक्रान्त सिंह रखा गया है। शूरसेनक के निचले भाग में विभिन्न देवी-देवता तथा ऊपरी भाग में त्रिमुखी-शिव (रुद्र शिव)[45] का अंकन काफी लोकप्रिय रहा है।

उत्तराञ्चल के मन्दिरों के गूढमण्डप का ऊर्ध्वछन्द मूलप्रासाद के वेदीबन्ध या जङ्घा भाग के स्तर तक एक समान है, परन्तु इनकी छत कुछ उदाहरणों में फाँसणा और कुछ में चौरस पायी जाती है। फाँसणा में भी दो प्रकार हैं -

(1) चारों ओर से सीढ़ी के आकार में क्रमशः घटते आकार की सादी-दण्डछाद्य सदृश पट्टिकाओं से निर्मित।

(2) दो या तीन क्षोणी सदृश पट्टिकायुक्त धुरीदारछत।

चम्पावत के बालेश्वर-सुग्रीवेश्वर देवालय के गूढ़मण्डप एवं मुखमण्डप की छत गुम्बदाकार है, जबकि इसका निर्माण फाँसणा शैली की तरह किया गया है।

इस प्रदेश में कुछ मन्दिर ऐसे भी हैं जिनमें प्राग्ग्रीव के ऊपर धुरीदार छतयुक्त शुकनासा

---

45 "A New Interpretation of Three- Headed Siva", 1976 b.Rtm, II-VI: 125-29.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है और कुछ में फाँसणा अर्थात् चौरस छत है। यहाँ के मन्दिरों में मुखमण्डप के बहुत कम उदाहरण देखने को मिलते हैं। मुखमण्डप बहुधा सपाटछत युक्त हैं।

उत्तराञ्चल में मन्दिर वास्तुशिल्प का विकासक्रम

प्रो० स्ट्रैला क्रैमरिश के अनुसार भारतीय मन्दिर वास्तुशिल्प जटिल ज्यामितीय एवं शास्त्रीय पद्धति पर आधारित है।[46] उत्तराञ्चल में जटिल ज्यामितीय तथा शास्त्रीय पद्धति पर आधारित वास्तुशिल्प के प्राचीनतम उदाहरण अश्वमेध यज्ञ की स्येनचित अर्थात् गरुड़ाकार वेदिकाएँ हैं, जो कि प्रथम शती ई०[47] तथा तृतीय शती ई०[48] में निर्मित हैं। इन वेदिकाओं की विद्यमानता यह सिद्ध करती है कि उत्तराञ्चल के शिल्पी वास्तुशिल्प में प्रचुर दक्षता प्राप्त कर चुके थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराञ्चल में सातवीं सदी (7वीं शती ई०) तक ईंट और लकड़ी के मन्दिर निर्मित होते रहे, जो वर्तमान में नष्ट हो चुके हैं। अपने आरम्भिक काल में ये मन्दिर सादे, शिखर रहित रहे थे, क्योंकि आज भी लोक देवताओं के मन्दिर डॉलमैन (Dolmen) की तरह तीन ओर से तीन खड़े और इनके ऊपर इनको ढकते हुए एक चौरस, शिलापट्टों से निर्मित हैं। सपाट छत वाले चतुर्भुजाकार मन्दिर गुप्तयुग में पर्याप्त लोकप्रिय थे। उत्तराञ्चल में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, परन्तु ये 7वीं शती और उसके बाद के हैं। कालान्तर में इन सपाट छत-युक्त प्रस्तर के मन्दिरों से रेखा, फाँसणा और वलभी शिखरों का विकास हुआ। प्रो० स्ट्रैला क्रैमरिश के अनुसार फाँसणा शैली का विकास डॉलमेन में खोजा जा सकता है।[49]

उत्तरभारतीय वास्तुशिल्प में 7वीं-9वीं शती ई० का काल विशिष्ट महत्वपूर्ण है। जब विभिन्न शिखर शैलियों के निर्माण ने परिपक्वता प्राप्त कर ली थी।[50] अवशिष्ट पुरावशेष निश्चित रूप से यह संकेत देते हैं कि उत्तराञ्चल में भी नयी शिखर शैलियों के विकास के प्रयत्न इस काल में किये गये। सीमित साधनों के कारण ये प्रयास एक सीमा तक ही विकास की गति को प्राप्त कर सका और यहाँ के स्थापत्य में रूढ़िवादिता आ गई। परिणाम स्वरूप यहाँ के देवालयों का विकास और तिथि निर्धारण एक कठिन प्रयास है, अपितु कला-शैली की दृष्टि से उत्तराञ्चल के मन्दिरों का निर्माण तीन चरणों में निर्धारित किया जा सकता है -

---

46 The Hindu Temple, Vol. I, V-VII.

47 "उत्तराखण्ड का पुरातत्व नई दृष्टि, नयी दिशाएँ", 1989: 11

48 Indian Archaeology – A Review, 1953-54, 10-12.
(Archaeological; Survey of India, New Delhi)

49 The Hindu Temple (Prof. Stella Kramrich, 190 F.N. 19)] 1946

50 Encyclopaedia of Indian Temple Architecture, North India (Period of early Maturity, A.D., 700-900), Plate 303

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(1) आद्य युग - (लगभग - 600-700 ई०)।

(2) परिपक्व युग - (लगभग 700-900 ई०)।

(3) रूढ़िवादी युग - (लगभग - 900 ई० के बाद)।

1. **आद्ययुग - (लगभग 600-700 ई०)** - आद्ययुग से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें वर्तमान में विद्यमान प्राचीनतम ज्ञात मन्दिरों के स्थापत्य के विकास को खोजा जा सके। इस दृष्टि से यहाँ दो महत्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं जो कि फाँसणा शैली के हैं। इनमें प्रथम सिमल्टी ग्राम (जनपद अल्मोड़ा) के निकट कपिलेश्वर मन्दिर[51] तथा द्वितीय पलेठी का सूर्य मन्दिर (जनपद-पौड़ी-गढ़वाल) है।[52] अभिलेखीय साक्ष्य एवं कला-शैली की दृष्टि से 'कृष्णदेव' ने पलेठी के मन्दिर का काल लगभग-675-700 शती ई० निर्धारित किया है।[53] पलेठी का मन्दिर 12 कपोतपाली पीढ़ाओं से थोड़ा सा आवृत्त ऊपर उठाया गया है। जबकि कपिलेश्वर मन्दिर 17 दण्डछाद्य सदृश पीढ़ाओं से अपेक्षाकृत कम आवृत्त ऊपर उठाया गया है तथा उसमें अलंकृत आकृतियाँ गुप्तकालीन कला के अधिक निकट हैं। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि कपिलेश्वर मन्दिर अधिक प्राचीन है, जिसका काल लगभग 650-700 शती ई० में निर्धारित किया जा सकता है। इन दोनों ही मन्दिरों का गर्भगृह वर्गाकार है तथा दोनों में भव्य अलंकरणयुक्त द्वारशाखा और शूरसेनक निर्मित किये गये हैं। कपिलेश्वर मन्दिर की प्राचीनता का द्योतक मन्दिर के उत्तरंग में सात गृहों के अंकन है। जबकि पलेठी मन्दिर में श्री वृक्ष अलंकरणयुक्त द्वारशाखा है।

सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही निर्मित रेखा-शिखर का प्राचीन उदाहरण कटारमल का प्रमुख मन्दिर है, जिसका समय-समय पर परवर्तीकाल में कई बार जीर्णोद्धार किया जा चुका है।[54] फिर भी इस मन्दिर के तल एवं ऊर्ध्वछन्द में कुछ ऐसे तत्व विद्यमान हैं, जो कि गुप्तकालीन मन्दिर वास्तुकला का स्मरण कराते हैं। उदाहरण के लिए - मूलप्रासाद का बाह्य भाग भूमि की सतह से 2.40 मी० ऊँचे एवं 9.60 मी० चौड़े तथा 10.20 मी० लम्बे जगती सदृश मञ्च के ऊपर उठाया गया है, जबकि गर्भगृह और कपिली भूमि की सतह से लगभग 40 सेन्टी मी० ऊँचाई पर स्थित है। गर्भगृह के अन्दर मूर्ति की स्थापना हेतु 2.10 मी०-30 सेन्टी०मी० ऊँचा वर्गाकार मञ्च

---

51 Joshi, Maheswar Prasad – Kapilesvar Temple, 1986a.

52 पलेठी के प्राचीन देवलाय - ध्यानम्, द्वितीय अंक - 31-34, 1982

53 "Styles of Common Lineage : Himâcala style, Phase I, C. Eight-Ninth Centuries, A.D. Hill dynasties" Krishna Deva-1991, Pi. 212, pp. 102-03 in Michael W. Miester and M.A. Dhaky (eds.) Encyclopeadia of Indian Temple Architecture, North-India-Period of Early Maturity C.A.D. 700-900, 93-118, Pls. 196-248.

54 "The Katarmal Temple of Kumaon", Indological Journal, XVI (i), 99-106, 1976a.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्मित किया गया है। इसकी स्थिति बीच में होने के कारण गर्भगृह के अन्दर एक आन्तरिक प्रदक्षिणापथ बन गया है। यद्यपि मूलप्रासाद का तलछन्द द्वि-अंग है, परन्तु मण्डोवर में भद्र और उद्गम-युक्त रथिका सतही प्रक्षेप में बनाये गये हैं और कर्ण में एक-एक वलभी कूट। वरण्डिका को चैत्य सदृश अभिप्राय से अलंकृत किया गया है। गर्भगृह के लिए प्रवेश द्वार कपिली में बनाया गया है जिसके ऊपर अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई पर वलभी छत-युक्त शुकनास निर्मित है। शुकनास के निचले भाग में फाँसणा एवं लतिन शैली के मिश्रक कूट मध्य में तथा इसके दोनों ओर एक-एक लघु वलभी कूट सतही प्रक्षेप में बनाए गये हैं। इसी तरह पार्श्व में दोनों ओर एक-एक सादी रथिका निर्मित है। मन्दिर के गर्भगृह की वितान प्रस्तर की दो विशालकाय वलिकाओं के ऊपर प्रस्तरपट्टों को रखकर बनायी गयी है। इससे ज्ञात होता है कि स्थानीय शिल्पियों ने एक ऊँचा शिखरयुक्त मन्दिर बनाने हेतु पूर्व से चली आ रही काष्ठ-शिल्प की तकनीकी से प्रेरणा ली थी, क्योंकि परवर्तीकाल में वलिकाओं के स्थान पर नाभिछन्द प्रक्रिया से वितान बनाये जाने लगे थे।

7वीं शती का ही एक अन्य मन्दिर नारायणकाली, जनपद-अल्मोड़ा में विद्यमान है। यह एक सपाट छत-युक्त संरचना है जिसका मण्डोवर दो सादे भिट्ट पट्टिकाओं के ऊपर उठाया गया है। इस वर्गाकार मन्दिर का प्रवेश द्वार पत्र, नाग एवं पुष्प शाखाओं से निर्मित है। मण्डोवर की दीवार चारों ओर से घटपल्लव अलंकरणयुक्त रुचक कूटों के मध्य बनाई गयी है, जिसके ऊपर दण्डछाद्य पर आधारित कपोतछाद्य-युक्त वर्गाकार एकाश्म सपाट छत है। लगभग 2मी० ऊँचे मन्दिर की सपाट छत के ऊपर क्रमशः - कण्ठ, आमलक और आकाशलिङ्ग सुशोभित हैं। प्रवेश द्वार की पेद्या में नीचे की ओर मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना का अंकन है। निःसन्देह यह मन्दिर गुप्तकालीन सपाट छत-युक्त मन्दिरों से प्रभावित है।

2. **परिपक्व युग - (लगभग-700-900 ई० शती तक)** - इस काल के मन्दिरों में परिपक्वता दिखायी देती है। इसके कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं - शिखर तथा मण्डोवर के आकार-प्रकार में रुचिकर सन्तुलन, मूलप्रासाद के विभिन्न भागों में सुनियोजित अलंकरण फाँसणा और रेखा में आकर्षक आवृत्तयुक्त उठान, रेखा-शिखरों के निर्माण में कुछ नये प्रयोग जिनके अन्तर्गत वलभी एवं मिश्रक शिखरयुक्त मन्दिर निर्मित किये गये, और साथ ही मूलप्रासाद के वेदीबन्ध में विभिन्न प्रकार की क्षितिजाकार पट्टिकाओं का प्रावधान किया गया। साथ ही साथ इस काल में अलंकरण के अभिप्रायों में भी नाना प्रकार के पत्र, पुष्प और ज्यामितीय अलंकरण तथा दैवी-आकृतियों आदि का अंकन प्राप्त होता है। इस काल के प्रमुख मन्दिरों के उदाहरण निम्नलिखित है - जागेश्वर का मृत्युञ्जय मन्दिर, पैठाणी (जनपद पौड़ी) का शिवमन्दिर, लाखामण्डल का शिवमन्दिर आदि। इन सभी मन्दिरों का काल 8वीं शती है। इनकी मुख्य विशेषताएँ सादी भिट्ट पट्टिकाएँ अथवा खुर, कुम्भ, कलश, कन्धर एवं कपोतपाली-युक्त वेदीबन्ध, घटपल्लव, अर्द्धकमल तथा कीर्तिमुख अलंकरणयुक्त रुचक कूट, उद्गमयुक्त रथिका लिए जङ्घा,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मण्डोवर के ऊपर सादी या वेदी अभिप्राययुक्त वरण्डिका तथा लतिन शैली का चैत्य अलंकरणयुक्त त्रिरथ शिखर हैं। इनकी तीन या पाँच शाखाओं से युक्त अलंकृत द्वार शाखा तथा कपिली के ऊपर धुरीदार छतयुक्त अलंकृत शूरसेनक भी प्रमुख आकर्षण हैं। जागेश्वर मन्दिर, जागेश्वर भी इसी श्रेणी में आता है, परन्तु इसके त्रिरथ-शिखर में चैत्य अलंकरण केवल प्रथम भूमि आमलक तक तथा सीमित संख्या में बनाए गये हैं। इस मन्दिर के शिखर में एक अन्य प्रयोग इसके 'भद्र' को तृतीय भूमि आमलक के स्तर तक सतही प्रक्षेप में विशाल शूरसेनक सदृश बनाया जाता है, जिसके मध्य में द्वितीय भूमि आमलक के स्तर तक फाँसणा कूट बनया गया है। साथ ही प्रथम भूमि आमलक के स्तर तक 'भद्र' में भी भूमि आमलक स्थित है, जो आन्तरिक वेणुकोश तथा बालपञ्जर का स्मरण कराते हैं।

9वीं शती के लतिन शैली के मन्दिरों के वेदीबन्ध तथा जङ्घा 8वीं शती के मन्दिरों के समान हैं। परन्तु इनके शूरसेनक अपेक्षाकृत कम अलंकृत हैं। साथ ही इनमें से कई मन्दिरों के शिखर भारी-भरकम प्रतीत होते हैं। इसके प्रमुख उदाहरण-बैजनाथ (अल्मोड़ा). शिवमन्दिर, गोपेश्वर हैं।

इस कालखण्ड में ही उत्तराञ्चल के कई स्थलों पर फाँसणा शैली के कुछ परिपक्व तथा आकर्षक उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। इनमें प्रमुख-बालेश्वर एवं केदार मन्दिर जागेश्वर, नारायणकोटि (जनपद चमोली) के वीरभद्र तथा वासुदेव मन्दिर हैं।

इन मन्दिरों के वेदीबन्ध समकालीन लतिन शैली के उपरोक्त मन्दिर सदृश हैं, परन्तु जङ्घा भाग में उद्गमयुक्त रथिका और कुछ उदाहरणों में रुचक कूट उदाहरण भी बनाए गये हैं। इन मन्दिरों की कपिली में अलंकृत प्रवेशद्वार और उसके ऊपर शुकनास में अलंकृत शूरसेनक बनाया गया है। इन मन्दिरों का शिखर घटते आकार के कपोतपाली पीढ़ाओं से थोड़ा आवृत्त लिए उठाया गया है, और इसको जङ्घा भाग के साथ रुचिकर अनुपातों में बनाया गया है। फलस्वरूप इन मन्दिरों के विभिन्न भाग मनमोहक अनुपात में दिखायी देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि 8वीं शती की फाँसणा शैली के सभी मन्दिर आकार में अपेक्षाकृत मध्यम ऊँचाई के हैं तथा लगभग 5 मी० ऊँचे हैं।

फाँसणा शैली में निर्मित 9वीं शती के मन्दिर अपेक्षाकृत कम अलंकरणयुक्त हैं। इनके अनेक उदाहरणों में शिखर की क्षितिजाकार प्रक्षेपित पट्टिकाएँ सामान्य प्रक्षेप में निर्मित की गयी हैं, उदाहरण के लिए - विष्णु मन्दिर, नारायणकाली (जिला-अल्मोड़ा) और बौणसि मन्दिर, तिलाड़ी ग्राम (जनपद-अल्मोड़ा)। इसी शैली मे 9वीं शती में एक अन्य प्रयोग शिखर की प्रक्षेपित पट्टिकाओं में अर्द्धकमल/चन्द्रशाला सदृश अभिप्रायों का अंकन, प्राग्ग्रीव के ऊपर शुकनासा का निर्माण है जो कि कटारमल एवं खूँट (जनपद-अल्मोड़ा) के कुछ एक मन्दिरों में देखा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

8वीं शती के वलभी शैली के मन्दिरों में नन्दादेवी मन्दिर, बजिंगा (टिहरी-गढ़वाल) सबसे प्राचीन है।[55] यह एक अत्यन्त साधारण और अलंकरण रहित संरचना है। इसका वेदीबन्ध जगती, कन्धर एवं कपोतपाली-युक्त है। जङ्घा सादी हैं एवं दो आवृत्तों में उठाया गया वलभी शिखर दण्डछाद्य पर आधारित है। मन्दिर का प्रवेश द्वार त्रिशाखायुक्त है, परन्तु इसमें अलंकरण नहीं है। मन्दिर की धुरीदार छत में आमलसारक है। **'आचार्य कृष्णदेव'** इसका काल 8वीं शती का पूर्वार्द्ध बताते हैं। इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि उत्तराञ्चल के मन्दिर स्थापत्य में अत्यधिक रूढ़वादिता पायी जाती है। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस मन्दिर का निर्माण 10वीं-11वीं शती में हुआ हो। अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर 8वीं शती के वलभी शैली के मन्दिरों में नवदेवी मन्दिर, जागेश्वर तथा भगवती मन्दिर, बमन-सुआल (जनपद-अल्मोड़ा) हैं। इन दोनों में नवदेवी मन्दिर अधिक प्राचीन है। इस मन्दिर का वेदीबन्ध खुर-कुम्भ, कन्धर एवं कपोतपाली युक्त है। इसका जङ्घा भाग घटपल्लव अलंकरणयुक्त रुचक कूटों के बीच अलंकरण रहित सादी कटि से बना है, जिसके ऊपर सादी पट्टिका बनायी गयी है। प्रवेश चौड़ाई की तरफ से दो रूचकों के बीच दिया गया है। रूचकों का माला स्थान कीर्तिमुख, अर्द्धरत्न एवं अर्द्धपद्म अभिप्रायों से अलंकृत है। उत्तरंग में तुलापंक्ति, वरण्डिका में दो तुलापीठों के मध्य कपोतपाली बनी है, जिसके ऊपर दो चरणों में उठाया गया शिखर है। शिखर का निचला भाग सूर्पाकार पीढ़ा एवं ऊपरी भाग वलभी से निर्मित है। मन्दिर की धुरीदार छत पर मध्य में आमलसारक और दो छोरों पर बाहर की ओर मुख किए एक-एक गजाक्रान्त सिंह रखे गये हैं। सामने की तरफ से शिखर सादा है, परन्तु दोनों पार्श्वों में शूरसेनक सदृश अलंकरण है। देवीधुरा का देवी मन्दिर (जनपद-पिथौरागढ़) नवदेवी मन्दिर, जागेश्वर के सदृश है।

भगवती मन्दिर, बमन-सुआल एवं पुष्टिदेवी मन्दिर, जागेश्वर भी 8वीं शती की कलाकृतियाँ हैं। भगवती मन्दिर में 8वीं शती की सिद्धमात्रिका लिपि में **"भट भवदतस्य"** उत्कीर्ण है।[56] इस मन्दिर का जङ्घा भाग और सामने की ओर से शिखर भाग सादा है, परन्तु शिखर के पार्श्व में अलंकृत शूरसेनक सदृश अभिप्राय है। जिसके निचले भाग में चन्द्रशालाओं के जाल के मध्य में शिवलिङ्ग और ऊपरी भाग में त्रिमुखी शिव का अंकन है। वलभी शैली के मन्दिरों में यही एकमात्र मन्दिर है, जिसमें कपिली और गूढ़मण्डप का विधान है।

पुष्टिदेवी मन्दिर नवदेवी सदृश है, परन्तु इसके जङ्घा भाग के तीनों ओर घटपल्लव अलंकरण युक्त रूचक कूटों पर आधारित एक-एक उद्गम निर्मित है, और अलंकृत पंचशाखायुक्त

---

55 Krishna Deva – 1991 "Styles of Common lineage : Himâcala sytle, Phase-I, C. Eight-Ninth Centuries A.D. Hill Dynasties" in Michael W. Miester and M.A. Dhaky (eds) Encyclopaedia of Indian temple Architecture; North India : Period of Early Maturity C.A.D. 700-900 : 93-118; Pls – 196-248.

56 Krishna Deva, 1991: 106.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रवेशद्वार एवं शुकनासा कपिली में बना है। इस मन्दिर से भी वरण्डिका दो तुलापीठों के मध्य कपोतपाली से बनी है और शिखर के दोनों पार्श्वों में अलंकृत शूरसेनक सदृश अभिप्राय बनाए गये हैं, जो नवदेवी मन्दिर सदृश हैं।

वलभी शैली की 9वीं सदी की कलाकृतियों में चण्डिका मन्दिर प्रमुख है। इसका वेदीबन्ध दो सादे भिट्ट पट्टिकाओं के ऊपर खुर, कुम्भ, कलश, कपोतपाली और पट्टिका से निर्मित है। इसकी जङ्घा अलंकरण विहीन है, जिसके भद्र एवं कर्ण में रूचक कूट बने हैं तथा जङ्घा का आवरण सादी पट्टिका द्वारा किया गया है। इसका वलभी शिखर दो आवृत्तों में उठाया गया है। निचले आवृत्त तक भद्र प्रक्षेप हैं। जिनमें जालयुक्त फाँसणा-लतिन मिश्रक कूट दर्शाया गया है तथा कर्ण में एक-एक भूमि आमलक बनाया गया है। इस भूमि आमलक के नीचे गवाक्ष अभिप्राय युक्त तीन कपोतपाली पिढ़ायें बनायी गयी हैं। मन्दिर का प्रवेशद्वार कपिली में बनाया गया है जो कि अलंकरण रहित है। परन्तु इसके ऊपर अलंकृत शूरसेनक है, जिसके ऊपरी भाग में भद्रमुख अंकित है। इस छोटे से मन्दिर के सभी भाग समुचित अनुपात में निर्मित हैं। साथ ही इसके तल एवं ऊर्ध्वछन्द में 'भद्र' विधान एवं शिखर में मिश्रक शिखर कूट का अंकन स्थानीय शिल्पी के नूतन प्रयोगों के साथ-साथ उसके स्थापत्त्यीय ज्ञान की परिपक्वता को भी दर्शाता है। चण्डिका मन्दिर के बाद वलभी शैली का 9वीं शती का अन्य मन्दिर कालिका मन्दिर, जागेश्वर है। इस मन्दिर का वेदीबन्ध खुर-कुम्भ, कन्धर तथा कपोतपाली से निर्मित है, जिसके ऊपर अलंकरण रहित जङ्घा है जो कि कपोतछाद्य से ढ़की है। इसके ऊपर दो आवृतों में उठाया गया शिखर है जो कि पार्श्व में शूरसेनक समान अलंकरण से युक्त है। मन्दिर का सादा प्रवेशद्वार कपिली में निर्मित है। इसके ऊपर सादा क्षतिग्रस्त शुकनासा है। धुरीदार शिखर के शीर्ष में बाहर की ओर मुख किये हुए दो बैठे हुए सिंह विद्यमान हैं। इस छोटे से मन्दिर में रूढ़िवादिता का प्रारम्भिक चरण देखा जा सकता है। यह मन्दिर 9वीं शती के अन्त में निर्मित प्रतीत होता है।

उत्तराञ्चल के शिल्पियों ने 8वीं-9वीं शती में न केवल मन्दिर स्थापत्य में परिपक्वता प्राप्त की, अपितु शिखरों के निर्माण में कुछ नये प्रयोग भी किये। इनके विशिष्ट उदाहरण के रूप में जागेश्वर का **'दण्डेश्वर मन्दिर'**, और चमोली का **'तुङ्गनाथ मन्दिर'**, **'योगबद्री मन्दिर'** पाण्डुकेश्वर मन्दिर हैं। इनका जङ्घा भाग अन्य मन्दिरों की तरह ही है, परन्तु शिखर भाग में असामान्य लक्षण हैं - यथा दण्डेश्वर एवं तुङ्गनाथ मन्दिरों के शिखर क्रमशः तीन और चार कुम्भ सदृश क्षितिजाकार पीढ़ाओं से निर्मित हैं, जिनके मध्य में एक-एक कन्धर दिये गये हैं। इस प्रकार इन मन्दिरों में गुप्तकालीन सपाट छत के ऊपर फाँसणा सदृश शिखर के लक्षणों का समावेश है। 'योगबदरी मन्दिर' का शिखर भाग तलछन्द में वृत्ताकार है।

3. रूढ़िवादी युग (लगभग 900 ई० - के बाद) - उत्तराञ्चल के मन्दिर स्थापत्य के लगभग 900 ई० के बाद रूढ़िवादिता के लक्षण दिखायी देते हैं। इसके परिणामस्वरूप

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यद्यपि विभिन्न शैली के शिखरयुक्त मन्दिरों का निर्माण होता रहा, परन्तु उनके निर्माण में कुछ अपवादों को छोड़कर कोई नये प्रयोग नहीं किये गये। यही नहीं इस काल के मन्दिरों के अलंकरण में जहाँ कुछ नये अभिप्राय - विशेष रूप से ज्यामितीय नमूने-प्रकट हुए वहीं पूर्वकालीन अभिप्राय-विशेष रूप से घटपल्लव एवं चैत्यगवाक्ष अत्यन्त सीमित रह गये।

रूढ़िवादी युग के प्रारम्भिक चरणों में लतिन, फाँसणा एवं वलभी तीनों ही शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ, परन्तु लगभग 11वीं शती से वलभी शैली लुप्त हो गई तथा फाँसणा शैली भी लुप्तप्राय हो गई। इस सन्दर्भ में एक विशेष बात यह भी है कि इस युग के प्रारम्भिक चरणों में मूलप्रासाद के कपिली/प्राग्ग्रीव के ऊपर अलंकृत शूरसेनक बनाया जाता था। कालान्तर में इसके स्थान पर सादा शुकनासा दिखाई देता है। ये परम्परा लगभग 11वीं शती के उत्तरार्द्ध से आरम्भ हुई और आगे तक चलती रही, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी देखे जा सकते हैं। इस काल का स्थापत्य रूढ़िवादी होने के कारण एक जैसे लक्षणयुक्त है। चाहे वह 11वीं शती की कलाकृति हो या फिर 15वीं शती की। यही नहीं कुछ उदाहरणों को देखने से पता चलता है कि परिपक्व युग के मन्दिरों की प्रतिलिपि बनाये जाने के गम्भीर प्रयास किये गये हैं, परन्तु इनके अलंकरण में थोड़ा भौड़ापन है। इस काल के मन्दिर उत्तराञ्चल में सर्वत्र देखे जा सकते हैं। इनमें कई स्थलों में ये मन्दिर 'समूह' में निर्मित हैं, यथा - द्वाराहाट, कटारमल, जागेश्वर (जनपद-अल्मोड़ा), नारायणकोटि एवं आदिबद्री मन्दिर (जनपद-चमोली)। सर्वप्रथम स्मरणीय है कि रूढ़िवादिता के बाद भी इस युग में शेखरी, पञ्चायतन एवं द्वि-आयतन शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ, परन्तु सीमित मात्रा में, साथ ही नये लक्षण भी प्रकट हुए।

इस काल के फाँसणा शैली के मन्दिरों में 'कटारमल' के कुछ लघु मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इनका वेदीबन्ध सीमित मात्रा में ज्यामितीय अभिप्राय से अलंकृत है और प्राग्ग्रीव में मिश्रक स्तम्भ हैं, जिनके ऊपर सादा शुकनासा है। इन मन्दिरों की काल गणना 10वीं शती के उत्तरार्द्ध में की जा सकती है। लगभग समकालीन द्वाराहाट का बनदेवाल एवं बनकोट (जनपद पिथौरागढ़) का एकमात्र प्राचीन मन्दिर है। बनदेवाल का वेदीबन्ध; जङ्घा तथा द्वारशाखा अलंकरण रहित हैं। शुकनासा के ऊपरी भाग में एक खत्तिका के अन्दर त्रिमुखी-शिव का शीर्ष भाग रखा है। मन्दिर के शिखर को दण्डछाद्य सदृश पीढ़ाओं को सतही प्रक्षेप में रखकर बनाया गया है। बनकोट का मन्दिर भी अलंकरण रहित है, परन्तु इसकी जङ्घा में उद्गमयुक्त रथिका बनाई गयी है। शुकनासा का ऊपरी भाग खण्डित है।

इस काल के वलभी शैली के मन्दिरों में अलंकरण का सीमित प्रयोग किया है। मूलप्रासाद के तलछन्द में भद्र प्रक्षेप है जो कि ऊर्ध्वछन्द में जङ्घा या शिखर भाग तक उठाये गये हैं एवं दो आवृत्तों में उठाया गया वलभी शिखर अलंकरण विहीन दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ - 10वीं शती के उत्तरार्द्ध में निर्मित काली मन्दिर, पाताल भुवनेश्वर (पिथौरागढ़), भस्मासुर मन्दिर,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नारायणकोटि (चमोली) मन्दिर हैं। इस काल के अधिकतर मन्दिर रेखा-शिखरयुक्त हैं और लतिन श्रेणी के हैं। इनका वेदीबन्ध बहुधा जगती, कुम्भ, कन्धर, कलश, कपोतपाली और कुछ में बसन्त पट्टिका-युक्त है। अलंकरण में ज्यामितीय अभिप्रायों की अधिकता है। द्वारशाखा सादी है, पेद्या और ललाटबिम्ब में बहुधा दैवी-आकृतियाँ बनी हैं।

10वीं शती के मन्दिरों में सादे शुकनासा के ऊपरी भाग में सादी रथिका/खत्तिका में त्रिमुखी शिव का शीर्ष भाग रखा गया है - उदाहरणार्थ-द्वाराहाट, कटारमल, जागेश्वर, बैजनाथ, आदिबद्री तथा नारायणकोटि आदि मन्दिर दर्शनीय हैं।

लतिन शैली के 11वीं शती तथा उसके उपरान्त निर्मित मन्दिरों में अलंकरण का बहुत कम प्रयोग किया गया है। कुछ मन्दिरों में पेद्या तथा ललाटबिम्ब में दैवी-आकृतियाँ विद्यमान हैं एवं जङ्घा भाग में अलंकृत पट्टिका यथा - बामनी मन्दिर, बैजनाथ (अल्मोड़ा)।

11वीं-12वीं शती में मुख्य रूप से द्वाराहाट, बैजनाथ तथा आदिबद्री में कुछ ऐसे मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनके मूलप्रासाद के साथ रंगमण्डप तथा इससे लगा मुखमण्डप निर्मित किया गया है। रंगमण्डप में 'भद्र' प्रक्षेप है एवं वेदीबन्ध स्तर तक इनका ऊर्ध्वछन्द मूलप्रासाद सदृश है। इससे ऊपर 'भद्र' में क्रमशः अलंकरण रहित वेदिका, आसनपट्ट, कक्षासन तथा मिश्रक स्तम्भ पाये जाते हैं। इनके ऊपर दण्डछाद्य है, जो फाँसणा छत को धारण किये है। मन्दिर में प्रवेश हेतु मिश्रक शैली के दो स्तम्भों पर आधारित प्राग्ग्रीव सदृश मुखमण्डप है यथा - लक्ष्मी नारायण मन्दिर, बैजनाथ और आदिबद्री के कुछ मन्दिर। उपर्युक्त मन्दिरों में रूढ़िवादिता के अतिरिक्त वास्तुशिल्प के कुछ नये तत्व भी विद्यमान हैं। परन्तु 11वीं शती के उपरान्त अधिकांश मन्दिर पूर्णरूपेण रूढ़िवादी होने लगे थे। इनके प्रमुख लक्षण मूलप्रासाद का अपेक्षाकृत पतला आकार है, जिसके परिणामस्वरूप मन्दिर मध्यम या लघु होने पर भी लम्बे आकार का लगता था और हल्का प्रतीत होता था। इन मन्दिरों में अलंकरण बहुत कम हैं। इनके मूलप्रासाद के साथ छोटी कपिली/अन्तराल के ऊपर शुकनासा है। ऐसे मन्दिरों की भी कोई कमी नहीं है जिनमें सपाट छत-युक्त प्राग्ग्रीव निर्मित है। इस तरह के मन्दिर उत्तराञ्चल में सर्वत्र देखे जा सकते हैं। इनका निर्माण 12वीं शती से प्रारम्भ होकर 15वीं शती तक होता रहा। इनमें से कई अभिलिखित भी हैं यथा - दिंगास का (पिथौरागढ़) शाके 1027 (ईस्वी संवत्-1105) एक मन्दिर, चम्पावत तथा इस निकटवर्ती क्षेत्र में ज्ञानचन्द्र के काल (1378-1420 ईस्वी) के मन्दिर।

रुढ़िवादी युग में ही उत्तराञ्चल के मन्दिर स्थापत्य में अपवाद स्वरूप कुछ पूर्ण विकसित मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें सबसे महत्वूपर्ण द्वाराहाट का गूजरदेवाल मन्दिर है, जो सम्पूर्ण उत्तराञ्चल में अपनी शैली का एकमात्र उदाहरण है। गूजरदेवाल का निर्माण लगभग 1 मी० ऊँची उठायी गई जगती पर किया गया है जिसकी लम्बाई 23.20 मी० तथा चौड़ाई 16.27 मी० है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इसके चार कोनों में 4 कर्ण प्रासाद बनाये गये थे। अतः ये पञ्चायतन शैली का मन्दिर है। इस जगती के मध्य में मुख्य मन्दिर है जो अब जीर्णावस्था में है। इसकी खण्डित बाह्य दीवारों से स्पष्ट होता है कि मन्दिर में गर्भगृह, छोटी कपिली, भद्रावलोकन-युक्त मण्डप एवं मुखमण्डप बनाए गये थे। मूलप्रासाद का तल तथा ऊर्ध्वछन्द पञ्चरथ है एवं इससे लगे रंगमण्डप का त्रिरथ-विन्यास है।

गूजरदेवाल मन्दिर की महापीठ क्रमशः दो भिट्ट पट्टिका, जाड्यकुम्भ कर्णक, अन्तरपत्र, छाद्यकी, ग्रासपट्टी, गजपीठ तथा नरपीठ से निर्मित है। इसके ऊपर वेदीबन्ध है जो क्रमशः कुम्भ, कलश, अन्तरपत्र तथा कपोतपाली से बना है। कुम्भ में उद्गमयुक्त रथिकाओं के अन्दर भिन्न-भिन्न दैवी-आकृतियाँ और रथिकाओं के मध्य अनुचर बनाये गये हैं। वेदीबन्ध के ऊपर जङ्घा भाग है, जिसमें रथिकाओं के अन्दर देवी-देवताओं और अप्सराओं की आकृतियों की पंक्ति है। मूलप्रासाद का तलछन्द पञ्चरथ है और इसके भद्र एवं प्रतिरथ ऊर्ध्वछन्द में जङ्घा भाग तक पाये जाते हैं, जिनमें उद्गमयुक्त रथिकाओं के अन्दर दैवी-आकृतियाँ हैं।

यद्यपि जङ्घा का शीर्ष भाग गम्भीर रूप से क्षतिग्रस्त हो चुका है तथा इसके ऊपर शिखर खण्डित हो चुका है, परन्तु उपलब्ध क्षतिग्रस्त भाग, जो कि कालान्तर में जङ्घा के ऊपर उठाया गया है उससे इस बात का पता चलता है कि मूल रूप में जङ्घा के ऊपर कपोतपाली, अन्तरपत्र तथा खुरछाद्य के ऊपर शृङ्ग एवं उरःशङ्ग का विधान था।

मूलप्रासाद से लगते रंगमण्डप का ऊर्ध्वछन्द वेदीबन्ध स्तर तक एक समान है, जबकि यह क्षतिग्रस्त है। इसके तलछन्द में 'भद्र' बनाया गया है, जो कि जङ्घा भाग के ऊपर वेदिका, आसनपट्ट, कक्षासन एवं मिश्रक स्तम्भों से निर्मित भद्रावलोकन युक्त प्रतीत होता है। रंगमण्डप से सटा मुखमण्डप भी वेदीबन्ध स्तर तक सुरक्षित है। मूलरूप में यह प्राग्ग्रीव की तरह रहा होगा। मन्दिर का आन्तरिक तलछन्द नष्ट हो चुका है, परन्तु अवशिष्ट साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि गर्भगृह तथा मुखमण्डप चतुर्भुजाकार थे एवं रंगमण्डप वर्गाकार था, जिसमें भद्रावलोकन बनाये गये थे। मन्दिर का सम्पूर्ण बाह्य एवं आन्तरिक भाग अलंकृत था। इस मन्दिर का काल 14वीं शती ई० प्रतीत होता है।

चम्पावत का बालेश्वर-सुग्रीवेश्वर मन्दिर भी द्वाराहाट के गूजर देवाल सदृश है, परन्तु इसके तलछन्द के नियोजन में मौलिकता है। यह एक धुरी के दो छोरों में एक दूसरे की ओर मुँह किए दो मूलप्रासाद, इन मूलप्रासदों से सटे एक-एक रंगमण्डप तथा इन दोनों को मध्य में जोड़ते हुए एक मुखमण्डप-युक्त संरचना है। इसके एक भाग का रंगमण्डप तथा मुखमण्डप अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है। रंगमण्डप में भद्रावलोकन सहित नाभिछन्दयुक्त अलंकृत वितान है। बालेश्वर के समीप ही चम्पादेवी रत्नेश्वर मन्दिर है जो कि अत्यधिक क्षतिग्रस्त हो चुका है। इसकी संरचना बालेश्वर-सुग्रीवेश्वर मन्दिर की तरह ही है, जिसमें गर्भगृह, दो रंगमडप एवं इनको मध्य में जोड़ता एक मुखमण्डप है, परन्तु इसके मूलप्रासादों का तल एवं ऊर्ध्वछन्द त्रिरथ है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऐसा ही एक अन्य मन्दिर चम्पावत से 2 किमी० दूर **'कफलांग'** नामक स्थान पर अवस्थित है। इसका त्रिरथ शिखर जाल अलंकरण-युक्त है तथा इसके जङ्घा भाग में अलंकृत रथिकाओं में दैवी-आकृतियाँ दर्शायी गयी हैं। यह राममन्दिर के नाम से जाना जाता है, परन्तु इसके गर्भगृह में शिवलिङ्ग स्थापित है। इसी प्रकार के, परन्तु एक मूलप्रासाद युक्त मन्दिर चम्पावत में अनेक स्थलों पर विद्यमान हैं, जो 14वीं - 15वीं शती की कलाकृतियाँ हैं। इनमें से कुछ मन्दिरों के शिखर जाल अलंकरणयुक्त हैं तथा कुछ सादा एवं इनके जङ्घा भाग में अलंकृत रथिकाओं में दैवीय-आकृतियाँ प्रदर्शित हैं। रूढ़िवादी युग में 12वीं-14वीं शती के मध्य निर्मित तीन अन्य प्रकार के मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम-थल (पिथौरागढ़) के निकट स्थित **'एक-हथिया देवाल'** है। तलछन्द एवं ऊर्ध्वछन्द में यह एक सामान्य रूढ़िवादी संरचना है, जिसमें रेखा-शिखरयुक्त मूलप्रासाद और मिश्रक स्तम्भों पर आधारित फाँसणा शिखरयुक्त प्राग्ग्रीव है। मूलप्रासाद का वेदीबन्ध तथा जङ्घा अलंकरण रहित है, परन्तु जङ्घा के ऊपर कपोतछाद्य को त्रिभुज - जोड़ा सदृश अभिप्राय से अलंकृत किया गया है। इस मन्दिर की प्रमुख विशेषताएं यह हैं कि इसके त्रिरथ शिखर की 'भद्र लतिन' स्कन्ध से ऊपर आमलक के स्तर तक बनाई गयी है, तथा यह सम्पूर्ण संरचना एकाश्म है एवं एक शैल को काटकर बनायी गयी है। सम्पूर्ण उत्तराञ्चल में इसका दूसरा उदाहरण नहीं है। यह मन्दिर 12वीं-13वीं शती की कलाकृति है।

दो अन्य प्रकार की संरचनाएँ अन्य लतिन मन्दिरों की तरह ही हैं, जिनमें सादे त्रिरथ मूलप्रासाद, उससे लगी लघु कपिली एवं शुकनासा से जुड़े सपाट छतयुक्त प्राग्ग्रीव का विधान है, परन्तु इनकी विशेषता इनके द्वि-आयतन तथा पञ्चायतन नियोजन में है। सादी जगती पर आधारित ये मन्दिर दो या पाँच की संख्या में वरण्डिका स्तर तक संयुक्तरूप से उठाये गये हैं, परन्तु वरण्डिका के ऊपर प्रत्येक में पृथक्-पृथक् लतिन शिखर हैं। गर्भगृह को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए आन्तरिक अंग-भंग का प्रावधान है। मूल-प्रासादों से जुड़ा एक संयुक्त प्राग्ग्रीव सदृश मण्डप है, जो दो शिखरयुक्त संरचना में तीन मिश्रक स्तम्भों तथा पाँच शिखरयुक्त मन्दिर में 6 मिश्रक स्तम्भों पर आधारित है और क्रमशः त्रयचतुष्की व षष्ठचतुष्की का स्मरण कराता है। इन मन्दिरों की द्वारशाखा अलंकरण रहित है, परन्तु कुछ मन्दिरों में ललाटबिम्ब में गणेश या गजलक्ष्मी और पेद्या में दैवीय-द्वारपाल बनाए गये हैं। ऐसे मन्दिर द्वाराहाट तथा कटारमल (अल्मोड़ा) में पाये जाते हैं। कटारमल मन्दिर की ऐसी पञ्चायतन रचना में से एक के मूलप्रासाद के प्रवेशद्वार की पेद्या में दोनों ओर गंगा को मकर में बैठे हुए दिखलाया गया है, जो कि उत्तर भारत के मन्दिरों में अज्ञात है। दक्षिण भारत में भी जहाँ गंगा को दोनों ओर दिखलाया जाता है वह सदैव मकर पर खड़ी दिखलायी जाती है। गंगा का इसीप्रकार का अंकन 'थल' के 'हनुमान मन्दिर' में भी पाया जाता है। भारतीय कला में उत्तराञ्चल के ये दो उदाहरण निःसन्देह विशिष्ट एवं अद्वितीय है।[57]

57 "Some rare Sculptures from Kumaon", Bulletin of Museums and Archaeology in U.P., 1974a, 14:36-37.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिल्लीस्थ ब्रिटिशकालीन स्थापत्य : एक विवेचन

डॉ. राजीव कुमार मिश्र

दिल्ली लगभग छठीं शताब्दी ई.पू. इसी स्थान पर बसाया गया था जैसा कि पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है।[1] दिल्ली सत्तनत के उत्थान के बाद दिल्ली एक समग्र राजनैतिक, सांस्कृतिक और व्यापारिक शहर के रूप में उभरा जिसमें उत्तर-पश्चिम भारत और गंगा के मैदानी क्षेत्रों तक पहुँच के लिये बड़े-बड़े मार्ग बनवाए गए थे।[2] इस स्थान पर अनेक प्राचीन और मध्य कालीन स्मारक तथा पुरातात्त्विक महत्त्व के अवशेष मिले हैं।

जब ब्रिटिश इस्ट इण्डिया कम्पनी का 18वीं और 19वीं शदी के दौरान भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार हो गया तब उसने कलकत्ता को अपनी राजधानी बनाया। जार्ज पंचम द्वारा सन् 1911 में दिल्ली को राजधानी बनाये जाने तक भारत की राजधानी कलकत्ता रही। सन् 1920[3] के दौरान पुरानी दिल्ली के दक्षिण में एक नया नगर राजधानी के रूप में विकसित किया गया जिसे नई दिल्ली नाम दिया गया। जब 1947 में भारत को आजादी मिली तब आजाद भारत ने भी नई दिल्ली को ही अपनी राजधानी घोषित किया। यहाँ पर केन्द्र सरकार के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यालय स्थित हैं। जिसमें देश की संसद भी शामिल है। देश के विभिन्न भागों से अनवरत आगमन के कारण दिल्ली एक बहुत बड़े विश्व शहर के रूप में विकसित हुआ है। इसके तीव्र विकास, शहरीकरण और तुलनात्मक रूप से अत्यधिक ऊँची प्रति व्यक्ति आय ने दिल्ली को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। आज यह भारत वर्ष के सांस्कृति, राजनैतिक और व्यापारिक रूप में स्थापित विश्व का एक भव्य शहर है। भारत की राजधानी दिल्ली का एक लम्बा इतिहास रहा है। दिल्ली विभिन्न राजवंशों की भी राजधानी है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि मौर्य काल (300 ईसा पूर्व) में भी इस स्थान पर बस्तियाँ बसी हुई थीं। सन् 1966[4] में मोर्य शासक अशोक (276-236ई.पू.) के काल का एक शिला लेख श्रीनिवासपुरी से प्राप्त हुआ है। दो बलुए पत्थर के स्तम्भों को जो अशोक के काल के निर्मित हैं दिल्ली में फिरोजशाह तुगलक 14वीं शताब्दी में लेकर आया था। विख्यात लौह स्तम्भ, जो कुतुब मीनार के पास स्थित है, को गुप्त शासक (320-540) कुमार गुप्त ने बनवाया

---

1. डेल्ही वाल्ड: चेंजिंग बाउन्डरीडज, पृ.247
2. एपिग्रैफ्स, स्क्रिप्चर एण्ड आर्किटेक्चर इन द अर्ली सल्तनत ऑफ डेल्हीख पृ. 12-43
3. आर्किटेक्चर पावर एण्ड नेशनल आइडेन्टीटी, पृ. 88
4. डेल्ही एण्ड इट्स नाइवरहुड, पृ. 105

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

था, यह स्तम्भ दशवीं शताब्दी में दिल्ली लाया गया। दिल्ली क्षेत्र में 7 बड़े शहर स्थित थे[1] इनमें से चार तुर्कमान गेट दिल्ली के दक्षिण में स्थित है। वर्तमान शहर विभिन्न राजवंशों के ध्वंशावशेषों को अपने में समेटे हुए है, 'दिल्ली' की स्थापना अनंगपाल तोमर ने की थी इस बात का वर्णन विवुध श्रीधर और अन्य लेखकों ने किया है। तोमरों द्वारा निर्मित 'लाल कोट' का नाम पृथ्वीराज चौहान के बाद 'किला राय पिथौरा' कर दिया गया। एक सात द्वारों वाला किला था। पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का अन्तिम हिन्दू शासक था। 'सीरी' की स्थापना अलाउद्दीन ने सन् 1303 में की थी। 'तुगलकाबाद' की स्थापना गयासुद्दीन तुगलक ने की थी 'जहांपनाह' का निर्माण महम्मद बिन तुगलक ने किया था। 'फिरोजशाह कोटला' की स्थापना फिरोजशाह तुगलक ने की थी। पुराना किला का निर्माण शेरशाहसूरी तथा 'दीनपनाह' को हुमायूँ ने बनवाया था। ये दोनों ही स्थान विख्यात इन्द्रप्रस्थ के समीप में ही हैं। जिसे पाण्डवों का किला भी कहते हैं। 'शाहजहानाबाद' जो एक किलेबन्द शहर था, को शाहजहां ने 1638 से 1659 के मध्य बनवाया था। लाल किला और चाँदनी चौक इसी में स्थित हैं। मुगल शासक शाहजहाँ के शासन काल के दौरान यह मुगलों की राजध ानी रही वर्तमान में इसे पुरानी दिल्ली कहा जाता है। 'नई दिल्ली' की स्थापना अंग्रेजों ने शहर के दक्षिण पश्चिम में की थी।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमिः-

भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार दिल्ली महाभारत काल का इन्द्रप्रस्थ है जो पाण्डवों की राजधानी थी और जिसकी स्थापना लगभग 2500 वर्ष पहले की गई थी।[2] 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली में इन्द्रप्रस्थ नाम का एक गाँव हुआ करता था। जिसे 19वीं शताब्दी के अन्त में अंग्रेजों ने ध्वस्त कर दिया जिससे कि नई दिल्ली पहुँचने के लिए मार्ग का निर्माण किया जा सके। पुरातत्वीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि 'इन्द्रप्रस्थ' ठीक वहीं स्थित था जहाँ पुराना किला है। खुदाई में कुछ भरे रंग के मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े मिले हैं, जो लगभग 1000ई.पू. के माने गए हैं, इन टुकड़ों को पुरातत्त्वविदों ने महाभारत काल से जोड़ा है। दिल्ली शब्द की उत्पत्ति ढिल्लिका से हुई है।[3] यह दिल्ली के पहले मध्य कालीन शहर का नाम था जो वर्तमान दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम में मेहरौली के समीप बसा हुआ था। यह सात मध्यकालीन शहरों में पहला था। इसे 'योगिनीपुर'[4] के नाम से भी जाना जाता था जो योगनियों का एक किला था। इसे पहले पहल तब महत्त्व मिला जब अनंगपाल तोमर का शासन आया। 12वीं शदी में इस शहर पर पृथ्वीराज चौहान का आधिपत्य हो गया।

---

1. अर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, 1, पृ. 187
2. एपिग्राफिरया इण्डिका, 1892, पृ. 93-95
3. महाभारत आदि पर्व, 206, 26-26
4. डेल्ही एण्ड इट्स नाइवरहुड, पृ. 16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अनंगपाल तोमर जो एक चन्द्र वंशी राजपूत था को दिल्ली का संस्थापक माना जाता है जिसने सन् 731 के आस-पास 10किमी. क्षेत्र में किले की चाहरदीवारी बनवायी थी।[1] तोमर राजवंशों ने सन् 736 मे लाल कोट की स्थापना की जो कुतुबमीनार के पास में है। पृथ्वीराज रासो में वर्णित है कि अनंगपाल तोमर ने लालकोट का निर्माण कराया तोमर कालीन किले का वर्णन समकालीन इतिहासकार विबुधश्रीधर ने भी किया है। वह एक वृहद् किले का वर्णन करता है जिसके चारों ओर अनंगताल के अतिरिक्त गहरी खाइयाँ थीं। बाजारों में पर्याप्त सामग्री मिलती थी, उसने यह भी कहा है कि दिल्ली शिक्षा का केन्द्र था जहाँ बहुत सारी भाषाएँ बोली जाती थीं। अजमेर के चौहान राजपूतों ने लालकोट को 1180 में जीत लिया और उसका नाम रायपिथौरा रखा। चौहान राजा पृथ्वीराज को सन् 1192 में अफगान शासक मु. गोरी ने पराजित किया था।[1]

सन् 1206 ई. से दिल्ली गुलामवंश की राजधानी बना दी गई।[2] दिल्ली का पहला सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक जो पहले एक गुलाम था और वह जो सिपाही से पदोन्नत होता हुआ जनरल गर्वनर व अनन्तर दिल्ली का सुल्तान बना। कुतुबुद्दीन ने कुतुबुमीनार का निर्माण आरम्भ कराया जो आज दिल्ली का प्रतीक बन गयी है लेकिन उसका निर्माण पूरा होने के पहले ही वह मर गया। कुतुबुमीनार के परिसर में ही उसने कुव्वत उल-इस्लाम मस्जिद का भी निर्माण कराया जो भारत की प्रारम्भिक मस्जिदों में से एक है। ऐसा कहा जाता है कि उसने इस मस्जिद के निर्माण के लिए सत्ताइस मंदिरों के स्तम्भों व अवशेषों का प्रयोग किया था जिनको आज भी देखा जा सकता है। गुलामवंश के पतन के बाद तुर्की मध्य एशियायी खिलजी, तुगलक, सैयद, और लोदी वंशो का शासन रहा जिन लोगों में क्रमशः किले और शहर बनवाए।[3]

सन् 1398 में तैमूर लंग ने भारत पर इस संदेह से आक्रमण किया कि मुस्लिम सुल्तान दिल्ली की हिन्दू जनता के प्रति बहुत उदार है। तैमूर ने दिल्ली में प्रवेश किया शहर में तोड़-फोड़ की, शहर को नष्ट किया और ध्वंसावशेषों को छोड़ गया।[4] सन् 1526 में पानीपत के प्रथम युद्ध में अफगान के पूर्व शासक बाबर ने अन्तिम लोदी सुल्तान को पराजित किया और मुगल राजवंश की नींव डाली।

16वीं शताब्दी के मध्य में मुगलों के शासन में शेरशाह सूरी ने जबरदस्त हस्तक्षेप किया और हुमायूं को पराजित कर उसे अफगानिस्तान और पर्शिया (ईरान) भागने पर विवश कर दिया।[5] शेरशाह सूरी ने कई अन्य इस्लामी आक्रमणकारियों की भाँति दिल्ली के छठें शहर जिसे पुरानाा शहर के नाम से जाना जाता है के निर्माण का श्रेय लिया जबकि ये शहर बहुत पहले ही बसा दिया

1. हिस्टॉरिक डेल्ही, पृ. 25
2. हिस्टॉरिक डेल्ही, पृ. 31
3. एपिग्रैफ्स, स्क्रिप्चर, एण्ड आर्किटेक्चर इन द अर्ली सल्तनत ऑफ डेल्ही, पृ. 12-43
4. हिस्टॉरिक डेल्ही, पृ. 32-33
5. मध्यकालीन भारत, पृ. 9

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गया था। इसी प्रकार इसने शेरशाह सूरी रोड़ (ग्रांट ट्रैक रोड) का निर्माण कराया। शेरशाह सूरी की मृत्यु के बाद हुमायूँ ने पारस (ईरान) की सहायता से दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया। 17वीं शताब्दी के मध्य में शाहजहाँ ने शाहजहानाबाद नामक शहर का निर्माण कराया जिसे आज पुराना शहर या पुरानी दिल्ली कहते हैं।[1] इस शहर में कई अनेक ऐतिहासिक महत्त्व के निर्माण किए गए जिनमें लाल किला और जामा मस्जिद भी थे। यह पुराना शहर मुगल साम्राज्य का सन् 1638 से राजधानी रहा और बाद में शाहजहाँ ने इसका स्थानान्तरण आगरा में कर दिया था। औरंगजेब सन् ने 1659 में इसी दौरान दिल्ली शालीमार बाग में अपने आप को बादशाह घोषित कर लिया जबकि इसका समारोहपूर्वक राज्यारोहण इसके बाद सन् 1659 में ही हुआ। नादिरशाह ने फरवरी 1739 में मुगलसेना को करनाल के बड़े युद्ध में पराजित किया इसके बाद शहर को अधिकार में लेकर उसने दिल्ली को बुरी तरह लूटा।[2] सन् 1761 में अहमद शाह अब्दाली ने दिल्ली पर आक्रमण किया। 11 सितम्बर, सन् 1803[3] को जनरल लेक के नेतृत्व में अंग्रेजों ने मराठों की सेना को पराजित किया। सन् 1857 में दिल्ली का प्रशासनिक नियंत्रण पूरी तरह से अंग्रेजों के हाथ में आ गया और अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर को रंगून निष्कासित कर दिया गया और पूरे मुगल साम्राज्य को ब्रिटिश भारत का भाग घोषित कर दिया गया।[4] सन् 1857 की क्रान्ति के तुरन्त बाद कलकत्ता को भारत की राजधानी घोषित कर दिया गया लेकिन सन् 1911[5] में पुनः दिल्ली को राजधानी घोषित कर दिया गया। पुरानी दिल्ली के विभिन्न भागों को नई दिल्ली के निर्माण के लिए ध्वस्त कर दिया गया। नई दिल्ली के निर्माण की रूपरेखा प्रसिद्ध अंग्रेज वास्तुकार लुटियन ने तैयार की थी। नई दिल्ली को अधिकारिक रूप से सन् 1947 में भारत की राजधानी घोषित कर दिया गया।

दिल्ली की सर्वप्रथम उपस्थिति इन्दपत्त 'इन्दपत्तन' इन्दपत्थ या इसके संस्कृत रूप इन्द्रप्रस्थ के उद्धरणों के रूप में होती है। यह इन्द्रप्रस्थ नगर पाण्डवों की नवीन स्थापित राजधानी थी। जब पाण्डवों ने कुरु राज्य का आधा भाग और खाण्डवप्रस्थ का जंगली भाग प्राप्त किया[6], तब इस राजधानी की योजना एवं निर्माण दिव्यः शिल्पी विश्वकर्मा ने इन्द्र के आदेश के अनुसार किया। इसलिए इन्द्रप्रस्थ को शक्रप्रस्थ, शक्रपुरी या शतक्रतुप्रस्थ इत्यादि इन्द्र के पर्यायवाची नामों से भी जाना जाता है। महाभारत के आदि पर्व में इसका वर्णन है कि श्रीकृष्ण ने इन्द्र का चिन्तन किया और तब इन्द्र ने यहाँ एक रमणीय नगर बसाने का आदेश दिया। श्रीकृष्ण ने कहा–

---

1. हिस्ट्री ऑफ मुगल आर्किटेक्चर, IV, 1 पृ. 228
2. हिस्टॉरिक डेल्ही, पृ. 353;
3. हिस्टॉरिक डेल्ही, पृ. 385
4. वही, पृ. 403-409
5. वही, पृ. 411
6. महाभारत आदि पर्व, 206.26-29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुरुष्व कुरुराजाय महेन्द्रपुर संनिभम्।
इन्द्रेण कृतनामानमिन्द्रप्रस्थं महापुरम्॥

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुद्वैपायन पुरोगमाः॥

पद्म पुराण[1] में भी इन्द्रप्रस्थ के सीमा का वर्णन है–

इन्द्रप्रस्थमिदं क्षेत्रं क्षेत्रं स्थापितं दैवतैः पुरा
पूर्वपश्चिमयोस्तात एकयोजनविस्तृतम्॥

कालिन्द्या दक्षिणे यावद्योजनानाञ्चतुष्टयम्।
इन्द्रप्रस्थस्य मर्यादा कथितैषामहर्षिभिः॥

इस प्रकार यह इन्द्रप्रस्थ सौन्दर्य का आदर्श था। इसकी शोभा की तुलना पौराणिक नागों के शहर भोगवती से की गई थी। यह सभी प्रकार के शिल्पियों, कलाकारों, व्यापारियों का निवास स्थान था, विद्वान एवं भाषाविद् भी यहाँ प्रचुर मात्रा में थे। विभिन्न झीलें एवं तालाब इसे सुन्दर बनाते थे। विभिन्न प्रकार के वृक्ष, आम, निम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, लकुच, शाल, तमाल, कदम्ब, बकुल, चमेली इत्यादि सभी स्थानों पर अपने सुगन्ध को बिखेरते थे। नगर चारों ओर से गहरी खाई एवं ऊँची दीवारों से आवृत्त था। विष्णु पुराण[2] में दी गई चन्द्रवंशी क्षत्रियों की वंशावली के अनुसार यहाँ पाण्डवों के बाद परीक्षित, जनमेजय तथा क्षेमक आदि 29 राजाओं ने शासन किया। इन्द्रप्रस्थ का महत्त्व 900 ई.पू. माना जाता है। हस्तिनापुर के गंगा के बाढ़ में बह जाने के बाद 900 ई. पू. के लगभग जब पाण्डवों के वंशज कौशाम्बी चले गए तो इन्द्रप्रस्थ का भी महत्त्व प्रायः समाप्त हो गया।[3]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से दिल्ली के प्राचीन पुरातत्वीय साक्ष्यों की साहित्यिक विवरणों के आधार पर निरन्तर खोज जारी है। पुराने किले में (पूर्व-उत्तर भाग में) 1955 में हुई खुदाई के अतिरिक्त, 1961 से 1973 के बीच कई जगह आयोजित उत्खनन हुए।[4] इनमें प्राप्त चित्रित धूसर बर्तनों का समय 1000 ईसा पूर्व का है। यमुना के पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों पर दिल्ली प्रशासन के पुरातत्व विभाग ने सात टीलों को चिह्नित किया है।[5] नन्द नगरी के पास मण्डोली एवं सम्भोली गावों के बीच 8 मी. ऊँचे टीले से बर्तनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो हड़प्पा सभ्यता से सम्बन्ध रखते

1. पद्मपुराण (उत्तरखण्ड) अ. 119-222 पृ. 654-661
2. पौराणिक कोष, परिशिष्ट, 6
3. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ. 71
4. इण्डियन आर्कियोलॉजी-ए रीव्यू, 1954-55 पृ. 13-14; 1969-70, पृ. 4-6; 1970-71, पृ. 8-11; 1971-72, पृ. 7-8; 1972-73, पृ. 8-9
5. जनसत्ता, हिन्दी दैनिक, 30 सित. 1985

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हैं तथा इनका समय 4000 बी.सी हो सकता है। इसी तरह के महत्त्व वाले कुछ अन्य टीले जैसे- झड़ौदा, निमका, मेम का खेड़ा, तिमारपुर, खेड़ाकलां, मोरगढ़/भोरगढ़ और नरेला है।

बिझौलिया शिलालेख (उदयपुर, राजस्थान) सर्वप्रथम ढिल्लिका के नाम से आधुनिक दिल्ली की जानकारी देता है जो प्रथम प्रमुख चह्वान/चह्वमाण सम्राट विग्रहराज के अधीन था; इसे किसी चिह्वान ने सन् 1169-70 में जारी किया था।[1] यथा- **"उसने जाज्जवल्यमान जाबालीपुर को बसाया था। उसने अपने यश को शहर की हर गली और भवन की हर अट्टालिका तक पहुँचा दिया वह ढिल्लिका को अधीन करने के कारण प्रवर्धित था तथा असिका (हन्सी) पर अधिकार करने का सबसे प्रमुख कारण था।"** इस शिलालेख का विग्रहराज वही शासक है जिसने फिरोजशाह कोटला के स्तम्भ पर अपना लेख उत्कीर्ण कराया था और जिसने विन्ध्य और हिमालय के भूमि पर विजय का दावा किया।

1276 में उच्छ पंजाब से आए हुए उद्धार/उद्धरा नामक एक व्यापारी ने पालम वावली का जीर्णोद्धार कराया तथा संस्कृत की अलंकृत शैली में एक शिलालेख लगवाया जिसमें सुल्तान बलवन की लम्बी प्रशंसा की गई है। इसके बारहवें पद्य में राजधानी के रूप का वर्णन किया है। यथा-**"सैकड़ों नगरों के स्वामी का यह महान एवं आकर्षक नगर शत्रुओं के लिए अर्धचन्द्राकार बाण की तरह प्रवर्धमान है, पृथ्वी की तरह यह रत्नगर्भा है, आकाश की तरह आनन्द का स्त्रोत है तथा पाताल की तरह दैत्य निवास है। स्वयं माया की तरह छलने वाली है।"**[2] राजस्थान के लाडनू (जोधपुर) की एक बावली की खुदाई में मिले सन् 1316-17 ई. के शिलालेख में दिल्ली को हरिताना (हरियाना) का एक क्षेत्र कहा गया है। जिसमें यह कहा गया है कि यह तोमर और चाह्वानों के अधीन रहा। शहाबुद्दीन गोरी से लेकर खिलजी तक तुर्की शासकों के लम्बे समय का स्मरण कराते हुए शासकों को सका कहा है।[3] लाडनू का यह शिलालेख इस नगर के नाम की दृष्टि मे बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह स्पष्ट करता है कि फारसी के प्रभाव के कारण ढिल्ली शब्द 'दिल्ली' के रूप में परिवर्तित हो गया। अरबी लिपि में दिल्ली को देहली ही लिखा जा सकता है जिससे एंग्लो-इण्डियन डेल्ही (Delhi) का विकल्प प्राप्त हुआ। मुहम्मद तुगलक के शासन काल (1327) में नद्यान (नारियाना) अभिलेख[4] (1325-57) लगाया गया जो सूचित करता है कि-

1. हरियाणा नामक एक महान एवं गुणशाली प्रान्त है जहाँ श्री कृष्ण ने पार्थ के साथ पापों के नाश के लिए विचरण किया। 2. इसमें दिल्ली नामक एक शहर है जो असंख्य रत्नों से भरा है तथा जहाँ वेदज्ञों के वेदोच्चारण से पाप को समाप्त कर दिया गया है। और जो चमकती हुई नुपूर

1. एपिग्रैफिका इण्डिका, XXIV. 1941-42,, नं. 9, पृ. 48-112
2. दिल्ली सल्तनत के संस्कृत अभिलेख, पृ. 25
3. एपिग्रैफिका इण्डिका, XII 1913-14, नं. 5, पृ. 17-21
4. दिल्ली सल्तनत के संस्कृत अभिलेख, पृ. 25

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के शिञ्जन (झंकार) से युक्त सुन्दरियों के कारण ऐसा प्रिय लगता है जैसे देव नदी (गंगा) हंसो से भरी हो। 3. यहाँ एक प्रसिद्ध एवं दयालु मुहम्मद शाही राजा है जो कि पृथ्वी के सभी शासकों का मुकुटमणि है।

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ का एक अन्य अभिलेख (जो अब लालकिले के संग्रहालय में रखा गया है) जो फरवरी सन् 1328, मु. तुगलक के शासन काल का है, सारवन के पास एक कुएं में पाया गया जो दक्षिणी दिल्ली से लगभग 8 किमी पर है।[1] उसके चार पद्यों (3, 4, 7 और 16) में यह बताता है कि–

क. दिल्ली हरियाणा देश का एक नगर है जो पृथ्वी का स्वर्ग है।
ख. तोमरों ने इसे बसाया।
ग. तोमरों के बाद चाह्वान, गौरी और तुरुस्क (तुर्क) आए।
घ. दिल्ली के अग्रोटक में रहने वाले व्यापारी परिवार ने कुए की खुदाई की।

तुर्क पूर्व दिल्ली का कोई भी विवरण सम्भवतः स्मारकों के अवशेषों के उद्धरणों के बिना अपूर्ण रहेगा। 1966 में अशोक के शिलालेख के खोज तक 10वीं शताब्दी के पूर्व का एक मन्दिर जो सुल्तान गढ़ी के परिसर के पास स्थित है उसे दिल्ली का सबसे पुराना ध्वंसावशेष माना जाता था। भव्य सूर्य मन्दिर एवं बांध के अवशेषों के साथ सूरजकुण्ड सूरजपाल एवं अनंगपाल के क्रियाकलापों से सम्बन्धित है। मेहरौली में स्थित वर्तमान योगमाया मंदिर में योगिनियों के मंदिर की स्मृतियाँ सुरक्षित हैं जो उन 27 मंदिरों में से एक हैं जो मेहरौली में थे। यह दिल्ली के वैकल्पिक नाम योगिनीपुर का भी विश्वास दिलाता है।

राष्ट्रपति भवनः-

भारत का राष्ट्रपति भवन मूलतः ब्रिटिश भारत के वायसराय के निवास के रूप में बनाया गया था। सन् 1950 में भारत में संविधान के लागू हो जाने के बाद नई शासन पद्धति में गवर्नर जनरल का स्थान भारत के राष्ट्रपति ने लिया तब से इसे राष्ट्रपति भवन के रूप में जाना जाता है। इसको बनाने की आवश्यकता भी सन् 1911 में ब्रिटेन के किंग जार्ज पंचम द्वारा भारत की राजधानी नई दिल्ली स्थानान्तरित किए जाने के फलस्वरूप हुई। इस भवन को बनाए जाने का दायित्व नगरीय नियोजन दल से सम्बद्ध एडविन लुटियन (ब्रिटिश वास्तुकार) को सौंपा गया। प्रारम्भ में लुटियन इसे योरोपीय शैली के अनुरुप बनाना चाहता था, परन्तु भारत की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए भारत के तत्कालीन गर्वनर जनरल इसे भारतीय संस्कृति एवं वास्तुशिल्पीय शैली के अनुसार निर्मित कराना चाहते थे अतः इसकी मूल योजना में भारी परिवर्तन करके इसे भारतीय प्रशासनिक शैली पर निर्मित किया गया।[2] इसके निर्माण का स्थल चुनने के लिए

1. वही, पृ. 27-31; एपिग्रैफिका इण्डिका, I, 1892, पृ. 95
2. एंम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 78

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिल्ली के दक्षिण में 'रायसिना पहाड़ी' को चुना गया जिससे यह अपने प्रयोजन के अनुकूल शेष बन रही नई दिल्ली से कुछ ऊँचे स्थान पर बनाया जा सके। रायसीना पहाड़ी को चुनने का एक कारण यह भी था कि पहाड़ी को काटकर समतल किए जाने से भवन के निर्माण के लिए तथा तत्कालीन ब्रिटिश सत्ता के प्रशासनिक भवनों को एक ऊँचा स्थान दिलाने के लिए भी पर्याप्त स्थान मिल जाता। प्रारम्भ में राष्ट्रपति भवन से ही जुड़े हुए सचिवालय भवन का भी निर्माण किया जाना था, जो राष्ट्रपति भवन की ओर जाने वाली सड़क के दोनों ओर इन सचिवालय भवनों को बनाना चाहता था।[1] इस भवन की मूल योजना में 'राष्ट्रपति भवन' पहाड़ी की चोटी पर तथा सचिवालय उसके नीचे बनाया जाना निश्चित था परन्तु बेकर द्वारा सचिवालय भवनों के निर्माण के लिए पहाड़ी की ढलान का चयन करने से तथा इन दोनों भवनों के बीच की सड़क को कुछ डिग्री ऊँचा कर देने से राष्ट्रपति भवन का अग्रभाग स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता अतः राष्ट्रपतिभवन को इसके मूल निर्दिष्ट स्थान से 400 फुट पीछे बनाया गया। चूँकि लुटियन राष्ट्रपति भवन व सचिवालय भवन के बीच एक चौक का निर्माण कराना चाहता था इसलिए भी ऐसा किया गया।

ब्रिटिश साम्राज्य की तीन चौथाई जनता भारत में निवास करती थी अतः भारत का महत्त्व पूरे ब्रिटिश साम्राज्य में मुकुटमणि के सदृश्य था। इससे स्पष्ट है कि भारत के वायसराय का राजनैतिक कद भी साम्राज्य में राजा के पश्चात् सबसे बड़ा था। अतः इस भवन की मूल योजना ब्रिटेन के राजनिवास 'बकिंघम पैलेस' के आयामों के बराबर बनाए जाने की थी। परन्तु ब्रिटेन में 19वीं शदी के प्रारम्भ में राजनीतिज्ञों ने इसका विरोध किया तथा भारत के वायसराय लार्ड हार्डिग द्वारा इसको आवंटित धन राशि को कम कर देने के कारण इसका आकार मूल योजना के सापेक्ष छोटा रखा गया।[2] परन्तु लुटियन ने वायसराय को प्रसन्न करने के लिए इसके अग्रभाग की चौड़ाई 'बकिंघम पैलेस' के आकार के बराबर 360 फुट ही रखी।[3]

जब इस भवन का विचार मान-मस्तिष्क में लाया गया उस समय जार्ज पंचम का उद्भव आरम्भ ही हुआ था और किसी ने भी नहीं सोंचा था कि शीघ्र ही विश्व युद्ध आरम्भ होने वाला है। ब्रिटेन का शासन भारत के साथ-साथ अन्य महाद्वीपों में भी था लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य की सभी जनता का 3/4 भाग केवल भारत में ही रहता था, जिसमें पाकिस्तान, बांग्लादेश और वर्मा भी सम्मिलित था। राजा के प्रतिनिधि के लिए जो भवन बनाया जाना था उसकी योजना शासन के शीर्षस्तर पर बनायी गयी थी।

राष्ट्रपति भवन में चार मंजिलें और लगभग 340 विभिन्न आकार के कमरे हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग दो लाख वर्ग फिट (18580^{2}मीं.) है। लगभग 700 मिलियन ईटों और लगभग 3 मिलियन क्यूबिक फिट पत्थरों का प्रयोग इस भवन के निर्माण में हुआ है। जब इस भवन का

1. वही.
2. वही, पृ. 84
3. वही, पृ. 79

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्माण चरम पर था उस समय लगभग 23000 श्रमिक और लगभग 3000 पत्थर काटने वाले कारीगर कार्य पर लगे हुए थे।[1] दूसरे अन्य निर्माणों के विपरीत राष्ट्रपति भवन का कोई विस्तार नहीं हुआ जो मुख्य भवन के निर्माण के बाद में किया गया हो। लुटियन के शब्दों में यह एक सम्पूर्ण भवन था। वास्तुशिल्पी ने अपनी इस योजना में कभी कोई परिवर्तन नहीं किया उसके पास वायसराय और राजा से बहस करने की छमता थी और अन्ततः वायसराय या राजा को ही झुकना पड़ता था लुटियन नहीं झुकता था[2]। अतः कहा जा सकता है कि यह भवन उसका अपना था जिसमें उसने अपने विचारों को अच्छे अनुमात और संतुनन में प्रकट किया हैं उसने कभी अपने विचारों के साथ किसी तरह का कोई समझौता नहीं किया क्योंकि वह उन लोगों के समुदाय से था जो कभी संतुष्ट नहीं होते थे, लुटियन के लिए ऐसे भवन का कोई प्रयोजन नहीं था जिसका बाहरी भाग भव्य हो और आन्तरिक भाग साधारण। उसके 'H' आकार की संरचना को चुना था जो भवन के आन्तरिक भागों को ज्यमितीय सिद्धान्तों के आधार पर एक-दूसरे से जाड़ती थी। उसका एक मात्र उद्देश्य एक महान और भव्य भवन का निर्माण करना था।

भवन की मुख्य संरचना 640 फुट चौड़ी और इसके किनारे 540फुट गहरे हैं[3] (मोटे तौर पर 195165मी.) धरातल पर इसका क्षेत्र लगभग 1 किमी. लम्बा है इसके ठीक सामने एक बहुत बड़ा मैदान है जो 'T' आकार का है। यह मैदान क्षैतिजाकार है जो भवन के ठीक सामने है। इस मैदान के बीचों-बीच 145 फुट ऊँचा जयपुर स्तम्भ खड़ा हुआ है, जिसके शीर्ष पर एक ताम्बे का कमल और उसके उपर षट्कोणीय कांच का सितारा बना है। इस स्तम्भ का नाम जयपुर स्तम्भ इसलिए रखा गया क्योंकि इसकी लागत का भुगतान जयपुर के राजा ने किया था। इस स्तम्भ के सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि इसके अन्दर ही अन्दर स्टील की एक नली डाली गयी है जो कमल और सितारे को आबद्ध किए हुए है। इसका वजन 5 टन से अधिक है। इसके छड़ के कारण इसकी नीव अत्यधिक मजबूत हो गयी है। इस स्तम्भ के आधार पर कुछ शब्द उत्कीर्ण किए गए हैं जो स्वयं लुटियन के हैं–"अपने विचारों को विश्वास के साथ देखते रहो। अपने कार्यों को साहस के साथ करो। अपने जीवन को बलिदान के साथ जियो, जिससे कि यह दुनिया भारत की महानता को जान सके।"

इस स्तम्भ के दायीं ओर बायीं ओर से लाल बलुए पत्थर के स्तम्भ खड़े हैं जिनके शीर्ष पर शेर बैठे हैं। शेर प्राचीन भारत और ईरान में भव्यता का प्रतीक था और बाद में ब्रिटेन ने भी इसे शाही भव्यता का प्रतीक माना हालांकि छोटे-छोटे शेर अपने आस-पास फैले विशाल खुले क्षेत्र में कुछ खो से गए हैं।

---

1. सटोरी ऑफ द प्रेसिडेन्ट हाउस, पृ. 45
2. द लाइफ ऑफ सर इडविन लुटियन
3. स्टोरी ऑफ द प्रेसिटैन्ट हाउस, पृ. 45

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस भवन के बीचो-बीच एक अलिन्द है जिसमें 20 स्तम्भ हैं इनमें से 12 सामने और 8 पीछे की ओर हैं। इन स्तम्भों तक पहुँचने के लिए 31 सीढ़ियाँ चढनी पड़ती हैं, जिनमें से सबसे निचली लगभग 50 मी. चौड़ी है इस आलिन्द के सभी ओर एक मजबूत दीवार खड़ी हुई है। जिसमें 12 स्तम्भ बने हुए हैं जो ऊँचाई में कुछ छोटे हैं लेकिन उन्हे ऊँचे आधार पर बनाया गया है।[1] इस प्रकार के दूसरे छोटे-छोटे स्तम्भ इस 'H' आकार के भवन के छोटे बाहों जैसे प्रतीत होते हैं। इस भवन के रंगों की योजना ने इसे बहुत भव्य और दर्शनीय बना दिया है।

लुटियन का सम्बन्ध जीवन भर पत्थरों से रहा है और भारतीय शैली और परम्परा से जितना उसका सम्बन्ध था उससे उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि बलुए पत्थर का यहाँ क्या महत्त्व है, जिसे मुगलों ने अपने भवनों में इतने बृहद् रूप में प्रयोग किया था। इसी प्रकार क्रीम रंग का धौलपुरी बलुआ पत्थर का भी राष्ट्रपति भवन के निर्माण में बहुतायत में प्रयोग हुआ है जिसे पहले राजपूतों ने अपने भवन निर्माणों में प्रयोग किया था वे दोनों ही पत्थर दिल्ली के जलवायु में पूरी तरह रच-बस गए हैं। गुलाबी पत्थर के साथ धौलपुर पत्थर का प्रयोग रंगों के विरोधाभास को दर्शाता है जो इस भवन को अत्यधिक आकर्षक बनाता है। गुलाबी पत्थर ऊँचे चबूतरों के निर्माण में प्रयोग हुआ है जबकि दीवारों और स्तम्भों में धौलपुर पत्थर का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार छज्जों में गुलाबी पत्थर का प्रयोग हुआ है और इन छज्जों के आन्तरिक भाग को मुगल शैली में सुन्दरता से सजाया गया है। छज्जों के ऊपर परकोटे बने हैं जो हल्के क्रीमरंग के पत्थर से निर्मित हैं और इनके कोनों पर गुलाबी पत्थरों की छतरियाँ बनी हैं। इन सबके ऊपर गुंबद बना हुआ है जो काले रंग से रंगा गया है। इस गुंबद को तांबे की चादर से ढका गया है जिसने गहरा रंग ले लिया हैं। लुटियन ने इन सभी रंगों और उनके स्वरूप को इतनी सिद्धहस्तता से समायोजित किया है, जिस प्रकार एक महान संगीतज्ञ सात स्वरों को समायोजित करता है।

दरबार हॉल:- आगन्तुकों का स्वागत सदैव दरबार हॉल में किया जाता है जो इस भवन का हृदय है और इसी दरबार हॉल से सभी नागरिक और सैन्य सम्मान महामहिम राष्ट्रपति द्वारा प्रदान किए जाते हैं। इस हॉल तक पहुँचने के लिए आगन्तुकों को 31 सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं, अनेक स्तम्भों को पार करना पड़ता है और तब वे दरबार हाल के द्वार तक पहुँचते हैं जो 6मी. ऊँचा है। दरबार हॉल के आन्तरिक भाग में साज-सज्जा भव्य है और इसमें महान ऐतिहासिक प्रतीकों, मूर्तियों जैसे-अशोक के काल का बैल, का प्रयोग किया गया है। यह बैल एक सुसज्जित आधार पर खड़ा है जो एक बन्द कमल पर बना है। जैसा कि हमें ज्ञात है कि अशोक एक महान और कीर्तिमान सम्राट था जिसका शासन लगभग सम्पूर्ण भारत में फैला था और अशोक के राज चिह्न को ही भारत गणराज्य के राज्य चिह्न के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है।

इस दरबार हॉल में एक शानदान झाड़फानूस लगा है जो छत से लगभग 33मी. नीचे लटका हुआ है इसके अतिरिक्त और दूसरे छोटे-छोटे झाड़ फानूस लटके हुए हैं। दरबार हॉल

1. वही,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अत्यधिक विशाल है इसका केन्द्रीय भाग गुंबद के नीचे स्थित है जिसका व्यास 22मी. है और जो फर्स से 25मी. ऊँचा है लेकिन आगन्तुकों के खड़े होने या बैठने के लिए संगमरमर के स्तम्भों के पीछे पर्याप्त स्थान हैं। दरबार हॉल का प्रवेश इसके सामने स्थित सीढ़ियों से न होकर इसके दाएँ-बाएँ स्थित सीढ़ियों से होता है और इन सीढ़ियों से ऊपर आने के बाद ही लुटियन की इस भव्य शैली की प्रशंसा की जा सकती है।

इसके आन्तरिक छत में किसी प्रकार की सज्जा न होने के कारण यह अपने वास्तविक आकार से कहीं अधिक विशाल दिखाई देता है। इस दरबार हाल का फर्स विभिन्न रंगों के संगमरमर से सजाया गया है। जिनमें से अधिकांश भारत के ही हैं। राष्ट्रपति भवन में 100000 क्यूविक मीटर संगमरमर का प्रयोग किया गया है जिसमें से सफेद संगगरमर मकराना और अलवर से लाया गया था और हरा संगमरमर बड़ौदा और अजमेर से तथा भूरा संगमरमर माखड़ से, पीला जैसलमेर से और गुलाबी संगमरमर अलवर, मकराना और हरिपास से लाया गया था केवल गहरे चाकलेटी रंग के संगमरमर इटली से मंगाये गये थे।[1] वास्तुशिल्पीय साहित्यकारों ने इसके गुंबद की अत्यधिक प्रशंसा की है जिसका शीर्ष सतह से लगभग 54 मी. ऊँचा है। ऐसा लगता हैं कि यह अपने इस विशाल आकार और भार के बाद भी हवा में तैर रहा है। इस गुंबद की मूल योजना कई योजनाओं के अस्वीकृत हो जाने के बाद स्वीकृत की गई थी और इस योजना से भी लुटियन अन्त तक संतुष्ट नहीं था। दरबार हॉल की छत की दूसरी अप्रत्यासित विशेषता इसकी स्थिति है जो गुंबद से कुछ मीटर दूर है। यह गुलाबी पत्थर से निर्मित है जिसमें ऊपर की ओर छूटने वाले फव्वारे लगे हैं जिन्हें बाद के वर्षों में बन्द कर दिया गया था क्योंकि ये अत्यधिक खर्चीले थे।

भूतल में भी इस प्रकार के फव्वारे लगाए गए थे। दरबार हॉल तक पहुँचने वाली दोनों ओर की सीढ़ियों के आस-पास दो छोटे-छोटे जलाशय बने हैं। इनके ऊपर विशेष आधारों पर जार्ज पंचम और क्वीन मैरी की मूर्तियाँ खड़ी थीं जिन्हें अब यहाँ से हटा दिया गया और जो अब संगमरमर भवन में देखे जा सकते हैं। इस गुंबद को केवल बाहर से ही नहीं देखा जा सकता बल्कि राष्ट्रपति भवन के अनेक सभा कक्षों से भी इसे देखा जा सकता है। राजपथ पर चलने का एक आकर्षण यह गुंबद भी है। जब कोई आगन्तुक विजय चौक में प्रवेश करता है तब यह गुंबद वहाँ से दिखाई नहीं देता। उन दिनों जब दिल्ली बहुमंजीली इमारतों का शहर नहीं बना था तब यह गुंबद प्रशासनिक भवनों का केन्द्र हुआ करता था। आज इसकी दर्शनीयता सीमित हो गयी है। क्योंकि लुटियन ने आने वाले समय में होने वाले मशीनी विकास को ध्यान में नहीं रखा था। इस दरबार हॉल को ही अंग्रेंजों ने थ्रोन रूम या राजकीय कक्ष कहा है। मूलरूप में इसमें दो सिंहासन थे जिनमें से एक वायसराय और दूसरा उसकी पत्नी के लिए था। इस दरबार हॉल में बहुत सारे राजदरबार के चित्र देखे जा सकते हैं जो इस हॉल में आयोजित किए गए थे। जिसमें देशी महाराजा और छोटे-बड़े नवाब अपने पूरे साजोसामान के साथ बैठे दिखते हैं। वर्तमान लोकतंत्र के समय में भी

1. एम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 117-18; स्टोरी ऑफ दा प्रेसिडेन्ट हाउस, पृ. 51

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दरबार हॉल में इस प्रकार के समारोह में भाग लेना अपने आप में स्मरणीय है। शाही सिंहासन अभी भी बना है लेकिन अब इसमें एक ही सिंहासन है जो केवल राष्ट्रपति के लिए है।

राष्ट्रपति के सुरक्षा कर्मी जो उसके कद और गरिमा के अनुरूप चुने गए हैं इस दरबार हॉल के किनारे-किनारे लाल पोशाकों में खड़े होते हैं उनकी पगड़ी गहरे नीले सुनहरे और चमकते रंगों की है। सरकार का शपथ समारोह किसी भी देश के लिए एक ऐतिहासिक क्षण होता है जो इसी दरबार हॉल में आयोजित होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति महत्त्वपूर्ण समारोहों में देश के महत्त्वपूर्ण नागरिकों को सम्मानित करते हैं जिन्होंने कला, विज्ञान सामाजिक क्षेत्रों में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान दिया हो, या राष्ट्र की अखण्डता को अपनी वीरता से बचाया हो। इन समारोहों की मशीनी औपचारिकता और अनेक महत्त्वपूर्ण लोगों की अनौपचारिकता एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभास को उत्पन्न करती है।

इस दरबार हॉल में इसके स्थापत्य से अधिक जो चीज लोगों का आकर्षित करती है वह है महामहिम राष्ट्रपति के सिंहासन के पीछे लगी हुई गौतम बुद्ध की मूर्ति, जो मानवता के महान पुजारी थे और जो आज करोड़ों लोगों के आस्था के केन्द्र बने हैं। महात्मा बुद्ध का सम्बन्ध भारतीय इतिहास में स्वर्णकाल के रूप में विख्यात् गुप्त काल से था और इस महान आत्मा ने आत्म विजय और शान्ति को सर्वोच्च स्थान दिया। बुद्ध की यह मूर्ति गुप्त शैली में बनायी गयी थी।[1] दुर्भाग्य से इसका दाहिना हाथ लुप्त है और दाहिना पैर भी टूटा हुआ है। बुद्ध की मूर्ति और अशोक के काल का बैल लुटियन की योजना के अंग नहीं थे ये दोनों भारतीय संग्रहालय से यहाँ कैसे पहुँचीं उसकी भी एक कहानी है। भारतीय कलाकृतियों की एक बहुत बड़ी प्रदर्शिनी सन् 1947-48 में लन्दन के बलिन्गडन हाउस में लगी थी और यह निश्चित किया गया कि भारतीयों को भी ऐसी प्रदर्शनी देखने का अवसर मिलना चाहिए इसी लिए इन सभी कलाकृतियों को दरबार हॉल में प्रदर्शित किया गया था। ये कलाकृतियाँ यहाँ पर तब तक बनी रहीं जब तक सन् 1960 में इसका अपना भवन जनपथ में बनकर तैयार न हो गया। गौतम बुद्ध और बैल की मूर्तियों को इस भवन में ही स्थापित कर दिया गया जबकि अन्य को अपने नए भवन में भेज दिया गया।

राष्ट्रपति भवन का मुख्यद्वार जो इस चाहरदीवारी के बीचों-बीच है लगभग 6 मी. चौड़ा है। लोहे की यह ग्रील काले लैस की तरह प्रतीत होती है। ये अत्यधिक भारी है क्योंकि लोहे से निर्मित है और छोटे-छोटे स्तम्भों के सहारे खड़ी है। इनमें हाथियों की तस्वीरें उत्कीर्ण की गई हैं। दो घोड़े पर सवार रक्षक इस द्वार की सुरक्षा करते हैं। यह द्वार कभी-कभी महत्त्वपूर्ण समारोहों में खुलता है। जैसे कि जब राष्ट्रपति संसद को संबोधित करने जाते हैं या राजपथ में गणतंत्र दिवस की सलामी लेने जाते हैं इसके अलावा यह द्वार तब ही खोला जाता है जब राज्य या सरकारों के प्रमुख राष्ट्रपति से मिलने आते हैं। इसलिए आजकल औपचारिक स्वागत समारोह हवाई अड्डे में न होकर राष्ट्रपति भवन में आयोजित किया जाता है। अगर आगन्तुक राज्याध्यक्ष हो तो उसकी

1. द स्टोरी ऑफ प्रेसिडेण्ट हाउस, पृ. 58

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अगवानी राष्ट्रपति स्वयं करते हैं और अगर आगन्तु सरकार का प्रमुख है तब उसकी अगवानी प्रधानमंत्री करते हैं। इसके बाद यह विशिष्ट अतिथि 'गार्ड ऑफ ऑनर' का निरीक्षण करते हैं और इसके बाद उन्हें मंत्रियों से परिचित कराया जाता है, मंत्रियों, सचिवों, उच्चाधिकारियों और राजप्रमुखों से मिलवाया जाता है और जब राष्ट्रपति भवन के अतिथि कक्ष में ले जाया जाता है। घोड़े में सवार अंगरक्षकों की पंक्तिबद्ध सेना ऐसे समारोहों में जान डाल देती है।

अतिथि प्रकोष्ठ में दो भाग हैं जिनके नाम द्वारका और नालंदा हैं। यह अतिथि कक्ष विशिष्ट अतिथि उनकी पत्नी और निजि कर्मचारियों के लिए था। मूलरूप से यह भाग इस विशाल भवन का वह क्षेत्र है जहाँ वायसराय और उनका परिवार रहता था। कुलीन लोगों के आवासों को निर्मित करने में लुटियन को महारत हासिल थी जो वायसराय के नीजी निवास से स्पष्ट है। लार्ड इरविन जो इसके पहले निवासी थे ने प्रमाणित किया है कि भले ही यह भवन अत्यधिक विशाल है लेकिन निवास के उद्देश्य से यह सर्वाधिक उपयुक्त है। इस विशाल भवन कि आन्तरिक छत, दीवारें, फर्स की शैली और इसके कक्षों में सजाई गई लकड़ियाँ (फर्नीचर) इस भवन को विशिष्ट भवन बना देते हैं। लेकिन किसी भी तरह से यह भवन आडम्बर युक्त नहीं है। लुटियन ने अपनी शानदार विशेषज्ञता इस भवन में सिद्ध की है। जिससे वह जाना जाता है। अन्य महान वास्तुविदों की भाँति लुटियन अपने भवनों में प्रयुक्त होने वाले फर्नीचर का निर्माण स्वयं ही करता था। उस समय इंग्लैण्ड में अत्यधिक पुराना फर्नीचर बहुत ही परिश्रम से चुना जाता था लेकिन वह फर्नीचर भारतीय जलवायु में समायोजित नहीं हो सकता था वे मुलायम या हल्की लकड़ी से बने होते थे जबकि भारत में सागौन, जो दुनिया का सर्वोत्तम फर्नीचर बनाने की लकड़ी है, प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। मिस्त्रियों की यह पूरी टीम लुटियन के भवन में प्रयुक्त होने वाले फर्नीचर के निर्माण में लगी हुई थी, केवल झाड़फानूस ही योरोप से मगाए गए थे।[1] लुटियन का यह प्रस्ताव कि झाड़फानूस चाँदी के ढाँचे में भारत के स्वर्णकारों से बनावाए जाने चाहिए को इसलिए स्वीकार नहीं किया गया था क्योंकि यह अत्यधिक खर्चीला प्रस्ताव था। भवन के पर्दे भी यूरोप से मनाए गए थे लेकिन इस फ्रांसीसी पर्दों में से अधिकांश भारतीय पर्दो में बदल दिए गए थे। भवन के गलीचे भारतीय थे जो देश के विभिन्न भागों में बुने गए थे जिनमें से अधिकांश गलीचों के बनावट की शैली कश्मीरी और पारसी थी। लार्ड माउण्ट बेटेन के भारत छोड़ने के बाद सी राजगोपालाचारी ने उनका स्थान लिया।

अशोक हॉल– प्रतिष्ठा की दृष्टि से अशोक हॉल दरबार हॉल के बाद दूसरे स्थान पर आता है। इस भवन में कई औपचारिक सभाएँ होती हैं जैसे- मंत्रियों का शपथ ग्रहण (जब दरबार हॉल का प्रयोग नहीं किया जाता), राष्ट्रपति द्वारा विदेशी राजदूतों से उनका परिचय प्राप्त करना आगन्तुक अतिथियों के सम्मान में होने वाले सांस्कृतिक समारोह और विभिन्न पुरस्कारों का प्रदर्शन जैसे कि जवाहर लाल नेहरू और इन्दिरा गाँधी के सम्मान में किया गया था। अशोक हॉल एक

1. स्टोरी ऑफ द प्रेसीडेन्ट हाउस, पृ. 65

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

बड़े आभूषणों के बक्से जैसा प्रतीत होता है यह आकार में आयताकार है और 22 मी. लम्बा और 20 मी. चौड़ा है।[1] मूलरूप में इसका निर्माण मनोरंजन कक्ष के रूप में किया गया था जिसका फर्स लकड़ी का है तथा इसमें एक केन्द्रीय नृत्य मंच और तीन प्रवेश द्वार हैं। राष्ट्रपति भवन के अन्य कक्षों और प्रकोष्ठों के विपरीत अशोक भवन की आन्तरिक छत में इरानी शैली में चित्रकारी की गयी है। इन कलाकृतियों में से मुख्य कलाकृति में शाही शिकार का चित्रण किया गया है जबकि छत के कोनों में प्रदर्शित चित्र राजदरबार के दृश्यों का चित्रण करते हैं। इन सभी चित्रों में गहरे रंगों की अधिकता है। क्योंकि ये चित्रकारी चमड़े पर की गई है। इसलिए सफेद रंग ने भी कथई रंग ले लिया है। अशोक हॉल में यह चित्रकारी लेडी विलिंग्डन ने करायी थी जब उसके पति वायसराय थे। इसके अलावा भी कई परिवर्तन लेडी विलिंग्डन ने कराए थे। इसके बाद वाले वायसराय लार्ड लिंग लिथ गो ने लुटियन को यह परिवर्तन दिखाने के लिए आमंत्रित किया था और लुटियन विचित्र चित्रों की हटवा दिया था लेकिन इनमें से एक चित्र को अशोक हाल की आन्तरिक छत में रहने दिया गया था। कला की दृष्टि से यह बहुत विशिष्ट नहीं है लेकिन सजावट की दृष्टि से अच्छे प्रतीत होते हैं। छतों की चित्रकारी से मिलते-जुलते शैली में पारसी या इरानी शैली के गलीचे बिछाए गए थे। ये सभी गलीचे भारत में बनवाए गए थे। छः झाड़फानूस भवन की सीलिंग से लटके हैं जबकि छः अन्य भवन के चारों ओर लगे हैं और ग्यारह आले, जिसमें मोमबत्तियाँ लगी थी, भवन को प्रकाशित करते हैं। इस भवन में अधिकांश प्रकाश पाँच खिड़कियों से होकर आता है तो मुगल गार्डन की ओर खुलती हैं। इसकी दीवारें और स्तम्भ हल्के भूरे रंग के संगमरमर से बने हैं जो उसकी औपचारिकता में वृद्धि करते हैं।

ऐसा नहीं था कि लुटियन सजावटों से घृणा करता था लेकिन वह विशेष चीजों को ही पसन्द करता था उसकी सभी शैलियों को ज्यामिति नियन्त्रित करती थी। इसलिए वह केवल उन्हीं कलाकृतियों को पसन्द करता था जो ज्यामीति के साथ समायोजित हो जाती हों। इसके अतिरिक्त उसने यह भी निश्चित किया था कि इस महल की सजावट यूरोपीय शैली की नहीं होनी चाहिए इसलिए उसने भारतीय शिल्पियों को प्रशिक्षित करने के लिए एक विद्यालय खोलने की योजना भी रखी थी जहाँ उन्हें भवन की साज-सज्जा के सन्दर्भ में बताया जाना था।[1] इस भवन में एकमात्र सजावट तब की गई थी जब यह भवन निर्माण की प्रक्रिया में था और वह 'सभा भवन' में की गई थी। इस चित्रकारी में भारत के समुद्री मार्गों को दर्शाया गया था। इस चित्रकारी की योजना पर्सी ब्राउन ने बनायी थी और उसी के अधीन भारतीय चित्रकारों की एक टोली ने इसे चित्रित किया था। इस सभा भवन में आधुनिक भारत के अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णयों को देखा है। पाकिस्तान विभाजन के कुछ माह पहले वायसराय की कार्यकारी परिषद की मीटिंग इसी सभा भवन में होती थी और शीघ्र ही यहाँ पर यह निश्चित हो गया था कि भारत का विभाजन अवश्यम्भावी है। विभाजन से सम्बन्धित अनेक निर्णय इसी सभा भवन में लिए गए थे। इसी से लगे हुए एक कमरे

1. स्टोरी ऑफ द प्रेसिडेन्ट हाउस, पृ. 68
2. इण्डियन समर, लुटियन, वेकर एण्ड इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 195

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

में 'सर सीरिल रेड क्लिफ' ने यह योजना बतायी थी, कि बंगाल और पंजाब को विभाजित होकर दो देशों में बंटना होगा। भारत विभाजन के कुछ वर्षों बाद तक भी इस सभा भवन का प्रयोग मंत्रिमण्डल के बैठकों के लिए होता रहा। आजकल इसका प्रयोग राष्ट्रपति की औपचारिक सभाओं के लिए होता है।

इसके पास ही राष्ट्रपति का कार्यालय है और एक कक्ष है जहाँ वे अतिथियों से मिलते हैं। इसी के पास एक सुसज्जित भव्य प्रतिक्षा कक्ष है। इस भाग का दूसरा महत्त्वपूर्ण कक्ष 'पुस्तकालय' है जिसे दरबार हॉल की छोटी पुत्री कहा जाता है। महत्त्वपूर्ण अतिथियों को छोड़कर दूसरे सभी अतिथि पहले अशोक हॉल में प्रवेश करते और उसके बाद एक भव्य गलियारे से होकर राजकीय भोजनकक्ष में प्रवेश करते हैं जहाँ पर 104 लोगों के बैठने की व्यवस्था है। इस कक्ष की दीवारों में भारत के सभी राष्ट्रपतियों के आदमकद छायाचित्र लगे हुए हैं। इस भोजन कक्ष के नीचे एक छोटा भोजन कक्ष भी है जहाँ पर आधिकारिक भोजन होता है।

अंग्रेजी शासन के समय की अधिकांश कलाकृतियाँ पाँच वायसरायों के समय एकत्रित की गयी थीं ये वायसराय थे- लार्ड इरविन, लार्ड विलिंग्डन, लार्ड लिग लिथ गो, लार्ड वार्वल और लार्ड माउण्ट वेटेन। राष्ट्रपति भवन में पूर्व राष्ट्रपति आर. वेकटरमण के निर्देश पर अनेक महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ इस भवन में सुरक्षित की गयी थीं जिनमें से अधिकांश संगमरमर कक्ष और कलादीर्घा में सुरक्षित की गयी थीं। कलादीर्घा में विलियम डेनियल की कलाकृतियाँ प्रचुर मात्रा में लगाई गई थीं। जिन्होंने 18वीं सदी में भारतीय संस्कृति को चित्रित करने में महान योगदान दिया था। इसके अतिरिक्त भारतीय चित्रकारों की कलाकृतियाँ भी इस कलादीर्घा में सुरक्षित की गयी है। इन कलाकारों में प्रमुख हैं- जैमिनी राय, विनोद विहारी मुखर्जी, और एम. एफ. हसैन इस कलादीर्घा में अनेक राष्ट्र प्रमुखों के स्वहस्ताक्षरित चित्र भी लगे हुए हैं। यहाँ रखे हुए अनेक वस्तुओं में से एक अत्यधिक आकर्षक चाँदी का सिंहासन प्रमुख है जो 640 किग्रा. का है। इस सिंहासन पर किंग जार्ज प्रथम बैठे थे जब वे भारत आए थे। इसी संगमरमर कक्ष में किंग जार्ज पंचम और क्वीन मैरी की मूर्तियाँ भी रखी गई हैं जो पहले बाहर रखी गई थीं। यहाँ पर एक और भी कक्ष है जिसका नाम 'तोशाखाना' (उपहार कक्ष) है। यहाँ पर अनेक उपहार देखे जा सकते हैं जो चाँदी, कांच कोर्स बेलेन आदि के बने हैं जो राष्ट्रपति को उपहार में दिए गए हैं।

दरबार हॉल, अशोक हाल तथा राजकीय भोजन कक्ष में सीधे भी प्रवेश किया जा सकता है और अलग-अलग भी संगमरमर की सीढ़ियों से जाया जा सकता है। चौड़े गुलाबी रंग के पत्थर से बनी हुई सीढ़ियों से चढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये सीढ़ियाँ किसी कमरे के अन्दर बनी हुई हैं जबकि ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि नीले रंग की जो छत है वह वास्तव में वह नीला आकाश है। सीतारों वाली रात में इन सीढ़ियों पर चढ़ने पर छत का दृश्य और भी आकर्षण बन जाता है। जब कभी राजनयिक आयोजन यहाँ होते हैं तो इन सीढ़ियों के किनारे-किनारे सुरक्षागार्ड खड़े कर दिए जाते हैं जो समारोह को शानदान बना देते हैं। इन सीढ़ियों के शीर्ष से

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देखने पर लुटियन की मूर्ति दिखाई देती है। महामहिम राष्ट्रपति और उनका परिवार जिन कमरों में रहते हैं वे अत्यधिक शालीनता से सजाए गए हैं। सामान्य तौर पर भारत के राष्ट्रपतियों ने सादगीपूर्ण जीवन ही व्यतीत किया है और वही बात उनकी पत्नियों के संबंध में कही गयी है।

मुगल गार्डन– मुगल गार्डन लगभग 6 हेक्टेयर[1] में फैला हुआ है लेकिन यह अपने नाम अर्थात् मुगलों तक सीमित नहीं है क्योंकि इसमें अंग्रेजी बागशैली की अनेक विशेषताएँ हैं। आरम्भ में लुटियन ने दो अलग-अलग बाग बनाने की योजना बनाई थी। जिनमें से एक केवल वायसराय के लिए था जबकि दूसरा सामान्य जनता के लिए लेकिन लेडी हार्डिग के प्रयास से उसे अपनी मूल योजना छोड़नी पड़ी और मुगल गार्डन की योजना बनानी पड़ी। उसने बड़ी सावधानी से ईरानी और भारतीय शैली का अध्ययन किया, ताज महल का बगीचा, लाहौर और श्रीनगर के शालीमार-गार्डन का भी अध्ययन किया। लुटियन ने मुगल गार्डन को बनाने के लिए अनेक ज्यामितीय आकृतियों का मिश्रण कर दिया। मुगल गार्डन की जलापूर्ति शैली अद्‌भुत है और काफी कुछ यूरोपीय शैली और मुगल शैली का मिश्रण है। मुगल गार्डन के बीचों बीच हरी घास की एक वर्गाकार चटाई बिछी हुई है जिसका क्षेत्रफल 200^2 फिट है। यह घास महल की छाया के ठीक नीचे है। यहाँ से एक छोटी नहर निकलती है जो धीरे-धीरे कई स्तरों पर पानी छोड़ती जाती है। काफी दूर किनारे पर एक गोलाकार तालाब बना है जिसके किनारे-किनारे हरी घास है तथा उसके किनारे-किनारे अनेक प्रकार के फूलों के पौधे लगे हैं। नहर के किनारे-किनारे हरी घास के आयताकार टुकड़े बने हैं और इन टुकड़ों के पीछे की तरफ फूल लगे हुए हैं। इस बाग में जो सबसे आकर्षक चीज है वह इसके फैव्वारे हैं जो चलते समय कमल की पंखुड़ियों जैसे आकृति का निर्माण करते है जो लाल पत्थर में बनती हैं। इस गोलाकार तालाब तक जाने के लिए दो रास्ते बने हुए हैं जो हाथी के सूढ़ सा प्रतीत होते हैं। इस मुगल गार्डन के किनारे-किनारे बलुए पत्थर की जालियाँ लगी हैं और सम्पूर्ण गार्डन मजबूत पत्थर की दीवार से आवृत है। इस बाग में समाप्त होने पर बहुत सारे वृक्ष लगे हैं जो अलग-अलग समय पर फलते-फूलते हैं।

मुगल गार्डन वर्ष के आरम्भिक महिनों में अत्यधिक भव्य होता है जब इसमें सभी फूल-पौधे पुष्पित और पल्लवित होते हैं। ये जन सामान्य के लिए फरवरी माह में खोल दिया जाता है और इसकी सुरक्षा के लिए हजारों सुरक्षाकर्मी लगाए जाते हैं। इसमें फूलों की एक पूरी-पूरी श्रृंखला है, यहाँ लगभग 250 प्रकार के गुलाब के पौधे लगे हैं और इनमें बेनकेन्सीयन भी सम्मिलित हैं। जो सभी गुलाबों में प्रमुख माना जाता है। इस बाग में 101 बोगेनबिलिया में से 60 प्रकार के बोगेनबिलिया यहाँ लगे हैं। यह गार्डन अनेक खुली सभाओं के लिए स्थान प्रदान करता है। जैसा कि हम जानते हैं कि गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस के दिन अनेक गणमान्य नागरिक औपचारिकतावश मिलने आते हैं उनका स्वागत अधिकांशतः यही गार्डन में किया जाता है। मुगल गार्डन से लगे हुए टेनिस कोर्ट हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति भवन में 14 गोल गोल्फ कोर्स, एक

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 128; इण्डियन समर, लुटियन, बेकर और इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 226

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पोलो ग्राउण्ड और एक क्रिकेट ग्राउंड भी है। इसके अतिरिक्त मानव कद तन भी लगा हुआ है जहाँ पर एक समय केवल झाड़ियाँ लगी हुई थीं, जिस समय इस स्थान को राष्ट्रपति भवन बनाने के लिए चुना गया था। यहाँ पर कुछ ऐसे वृक्ष भी लगे हैं जो धीरे-धीरे बड़े होते हैं लेकिन बड़ी उम्र वाले होते हैं, यहाँ पर इस प्रकार के लगभग 600 प्रकार के वृक्ष लगे हैं। जिनमें आम, नीम, जामुन, पीपल, बरगद आदि शामिल हैं। ये वृक्ष अनेक पक्षियों को आकर्षित करते हैं। इस राष्ट्रपति भवन में दिन में मोरों का नाचना और रात में सिरायों का चिल्लाना कोई बड़ी बात नहीं है। राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति के नीजी कर्मचारियों के लिए भी भवन बनाए गए हैं। लुटियन ने राष्ट्रपति के नीजी सचिव, सैन्य सचिव और नियंत्रक के लिए चार बड़े-बड़े बंगले बनाए थे। राष्ट्रपति भवन के दस्तावेज बताते हैं कि जब राष्ट्रपति भवन की योजना तैयार की जा रही थी तो एक अधिकारी जो बहुत ऊँचे पद वाला नहीं था उसने बल दिया कि उसके घर में घोड़ों के चार अस्तबल होने चाहिए। इस निर्माण में मुख्य भवन के अतिरिक्त 42 और निर्माण किए गए हैं। भवन के सुरक्षा कर्मियों के साज-सज्जा भी लुटियन ने ही निश्चित की थी। इन अतिरिक्त निर्माणों में लुटियन ने पत्थर से बजाय ईंट और चूने का प्रयोग किया था।

प्रयुक्त योरोपीय प्रतीक– साम्राज्यवादी दिल्ली के पुननिर्माण के प्रथम वर्ष में नवनिर्माणाधीन इमारतों में भारतीय उपमहाद्वीपीय तथा ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिकात्मक शैली के मध्य द्वन्द्व उत्पन्न हुआ। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के वायसराय लार्ड हार्डिंग आरम्भ से ही विशुद्ध भारतीय वास्तु शैली के पक्षधर थे। परन्तु लुटियन और बेकर के निरन्तर विरोध के कारण भारतीय शैली के साथ-साथ लगभग उसी मात्रा में योरोपीय प्रतीकों का सभी निर्माणाधीन इमारतों में प्रचुरता से प्रयोग किया गया। जैसे- चतुष्कोणीय स्तम्भों, फूलदान, सिंहाकृति तथा अर्धवृत्ताकार मेहराब।

चतुष्कोणीय शंक्वाकार स्तम्भ (Obelisk)– ये चतुष्कोणीय शंक्वाकार स्तम्भ एक आयताकार आधार पर निर्मित हैं। यह स्तम्भ मूलतः मिस्री वास्तु शैली की विशेषता हैं जो कि राजा की सत्ता का प्रतीक तथा उसके आत्मिक जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। यह रोमन शासन काल में मिस्र से रोम पहुँचा था जो योरोपीय पुनर्जागरण काल में पूरे योरोप में शासन की सत्ता के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया जाने लगा।[1] इन स्तम्भों का राष्ट्रपति भवन में बहुलता से प्रयोग किया गया।

फूलदानः– ये फूलदान पिरानेसी द्वारा प्रयुक्त फूलदानों से भिन्न परन्तु बनावट में लुटियन ने राष्ट्रपति भवन के वास्तुशिल्प में अलंकरण के रूप में प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त हैदराबाद हाउस व बड़ौदा हाउस में भी इसी से मिलते-जुलते फूलदानों का प्रयोग किया गया है।

सिंहाकृति– सिंह ब्रिटिश राजपरिवार का राजचिह्न है।[2] भारत में साम्राज्यवादी दिल्ली के निर्माण में सिंह का प्रचलन पिरान्सी के 18वीं शदी के प्राचीन युद्धकला की एक झांकी के माध्यम से आया था।[3] ब्रिटिश राजपरिवार तथा भारत में ब्रिटिश शासकों की भाँति ही लुटियन भी अपने

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 173
2. वही,
3. वही,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देश के भारतीय प्रजा के प्रति मानवतापूर्ण उत्तरदायित्व में विश्वास रखता था अतः उसने पिरान्सी के शक्ति तथा ज्ञान के प्रतीक के रूप में उन सिंहाकृतियों को राष्ट्रपति भवन में प्रवेश मार्ग के साथ में प्रयोग किया है। इस प्रकार वायसराय भवन में जाने वाले प्रत्येक आगन्तुक को दोनों ओर व्यवस्थित रूप से सुसज्जित सिंहाकृतियों से सजे खम्भों की श्रृंखला को पार किए बिना जाना सम्भव नहीं है। यह भारत पर ब्रिटिश शासन की शक्ति तथा ज्ञान की सर्वोच्चता का आभास देने के लिए बनाया गया था।

अर्धवृत्ताकार मेहराबः– साम्राज्यवादी दिल्ली में निर्मित किसी भी भवन में नुकीली मेहराब का प्रयोग नहीं किया गया है। यह दर्शाता है कि निर्माणकर्त्ताओं में पुरानी दिल्ली तथा उसके मुगल सम्राटों के निर्माण शैली का पूर्णतः विरोध था। पूरी साम्राज्यवादी दिल्ली में प्राचीन रोमन मेहराबों की शैली पर आधारित गोल अर्धवृत्ताकार मेहराबों तथा पुनर्जागरण काल व बाद के शैली में प्रयुक्त अवयवों का भरपूर प्रयोग किया गया है जो साम्राज्यवादी दिल्ली के राजनैतिक व सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में उसके महत्त्व को शक्ति प्रदान कर सके। इस शैली का प्रयोग करते समय निर्माताओं ने स्थानीय मान्यताओं को ठुकराते हुए सचिवालय के बाहर स्थित शेख के कब्र पर इस्लामी वास्तुशिल्पीय शैली में बने प्रवेश द्वार के मेहराब को हटाकर वहाँ पर रोमन शैली के अर्धवृत्ताकार मेहराब से युक्त एक प्रवेश द्वार बना दिया।[1] लुटियन तथा बेकर पश्चिमी वास्तुशिल्प से इतने अभिभूत थे कि उन्होंने पूरे वायसराय भवन की योजना भी उसी योरोपीय शैली में निर्मित की तथा इसके महत्त्वपूर्ण कक्षों, बाहरी बारामदा, सीढ़ियों वाला आँगन, बालरुम, राजकीय-भोजनकक्ष तथा दरबार हॉल इत्यादि में नवसृजित दिल्ली-व्यवस्था शैली वाले स्तम्भों का बहुतायत में प्रयोग किया है। तथा बाहरी बारामदों तथा सहन इत्यादि स्थानों में डोरिक (रोमन शैली) वाले स्तम्भों का बहुतायत में प्रयोग किया गया है।

प्रयुक्त भारतीय प्रतीक– स्तूप, हाथी, नन्दी, सर्प तथा कमल जैसा कि पहले भी कहा गया है कि वायसराय लार्ड हार्डिंग सभी इमारतों को भारतीय वास्तुशैली के अनुरूप निर्मित कराना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने लुटियन व बेकर को आगरा, जयपुर, माण्डू इत्यादि स्थानों पर निर्मित इमारतों का अध्ययन करने के लिए प्रेरित भी किया था। परन्तु लुटियन को किसी भी भारतीय इमारतों में कोई भी वास्तुशिल्पीय विशेषता प्रतीत नहीं हुई। एक तरह से उसने शब्दों से इन स्थानीय वास्तुशैलियों का अनादर ही किया था। परन्तु जाने-अनजाने में या सम्भवतः वायसराय की इच्छा का सम्मान करने के लिए उसने राष्ट्पति भवन में यत्र-तत्र भारतीय वास्तुशैली के इन प्रतीकों का प्रयोग किया। सन् 1913 में हॉवेल[2] ने अपने स्मारकीय अङ्क 'इण्डियन आर्किटेक्चर' के अन्तिम अध्याय को पुनर्जागरण काल के 'बलात् विश्वास' वाले राजधानी नगर या ब्रिटिश संरचना वाले इण्डोसारसेनिक वास्तुशिल्प के विरुद्ध विवादास्पद भावों वाले इस विषय के लिए

1. इम्पीरियल डेल्ही, पृ. 173
2. इण्डियन समर, लुटियन्स, बेकर एण्ड इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 104

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पूर्णतः आरक्षित कर दिया। उसने सुझाया कि भारत के स्थानीय परम्पराओं के बुद्धिमत्तापूर्ण संरक्षण के लिए अकबर के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए था जो नश्लीय तथा धार्मिक विभेदों को मिटाने के माध्यम के रूप में दोनों संस्कृतियों के बीच एक सेतु सिद्ध होता।

स्तूप– लुटियन ने बौद्ध स्तूप को एक विशिष्ट वास्तुशिल्पीय शैली के रूप में प्रमुखता प्रदान की जिसमें एक पत्थर की दीवार इसके चारों ओर अवस्थित हो। उसने एक घिरे हुए शवगाह के टिले को इसके उपरी आवरण के सभी विशेषताओं सहित दरबार हॉल के उपर के गुंबद के रूप में चुना। यद्यपि कि यह पूर्णतः मूर्खतापूर्ण कृत्य है कि सत्ता के केन्द्र की छत को एक शोक के प्रतीक के आवृत्त किया जाय जो कि कब्रगाहों के ऊपर बना होता है। यह सम्भवतः वास्तुशास्त्रीय ज्ञान की अल्पता के कारण हुआ होगा। यह प्रतीक उसने तीसरी शदी ईसा पूर्व में निर्मित सांची के स्तूप से लिया होगा। इसकी वेदिका को न केवल गुंबद के आधार के रूप में राष्ट्रपति भवन में प्रयोग किया गया है बल्कि रायसीना पहाड़ी के नीचे प्रिंस एडवर्ड जिसे अब ग्रेट प्लेस के नाम से जाना जाता है कि स्मारकीय चाहरदीवारी के रूप में देखा जा सकता है। इस गुंबद के चारों ओर चार छोटे-छोटे गुंबद भी हैं जो छोटे स्तम्भों पर स्थित हैं और वे इस मुख्य गुंबद के आधार की आधी ऊँचाई तक ही आते हैं।

हाथी– एडविन लुटियन ने राष्ट्रपति भवन को हाथियो की प्रतिमा से विभिन्न स्थानों को अलंकृत किया है। परन्तु मुख्यतः उसने इन्हें प्रवेश द्वारों पर रक्षकों के रूप में स्थापित किया हे। सम्भवतः लुटियन ने भारतीय पौराणिक कथाओं में इनके महत्त्व व अस्तित्व को समझ लिया था। मोहन जोदड़ों के समय से ही सील पर हाथी के चित्र पाए गए हैं और उसके बाद भी कई बार हाथी एक कामकाजी पशु के रूप में पाया जाता रहा है। भारतीय पौराणिक कथाओं में हाथी ब्राह्मण्ड के वाहक माने जाते हैं। एलोरा में शिला काटकर बनाए गए शैवगुफा मन्दिरों में कैलाशपति के मन्दिर में हाथियों को प्राथमिकता दी गई है और यह आठवीं सदी[1] में निर्मित हिन्दू धार्मिक वास्तुकला का एक महान शास्त्रीय उदाहरण है। हस्त्यायुर्वेद[2] में भी राजा व उसकी प्रजा के प्रति हाथी की भूमिका का वर्णन किया गया है "यदि वे हाथी की पूजा नहीं करते हैं तो राजा व उसका राज्य तथा सेना नष्ट हो जाएंगे क्योंकि देवगण उससे अप्रसन्न हो जाएंगे, और यदि वे हाथी की पूजा-अर्चना करते हैं तो वे अपनी पत्नियों व पुत्रों, राज्य, सेना तथा हाथियों सहित फले-फूलेंगे। यथा समय फसल पकेगी, वर्षा के देवता इन्द्र समय से वर्षा करेंगे, कहीं भी महामारी नहीं होगी और न ही सूखा पड़ेगा। वे बहुत से पुत्रों, पशुधन के साथ 100 वर्षों तक जीयेंगे तथा उनकी प्रबल संतति होगी। जिस किसी को पुत्र की इच्छा होगी उसे पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी उनकी सम्पन्नता और अन्य द्रव्यों की अभिलाषा भी पूर्ण होगी। धरती कीमती धातुओं और रत्नों के खजाने से भरी रहेगी।"

---

1. मिथस् एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलाइजेशन, पृ. 105
2. वही, पृ. 108

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस प्रकार लुटियन ने वायसराय भवन के प्रवेश द्वार पर पत्थरों के जो हाथियों की मूर्तियाँ लगाई हैं उसके लिए उनके दो अर्थ माने जा सकते हैं। पहला बादलों से सम्बन्धित होने के कारण वे भूमि की उर्वरता को सुनिश्चित करते हैं तथा दूसरा ब्रह्माण्ड के वाहक होने के कारण वे सत्ताधारी ब्रिटिश साम्राज्य को भी अवलम्बन प्रदान करेंगे। साम्राज्यवादी दिल्ली में हाथी न केवल महलों की रक्षा करते हैं बल्कि शक्ति के भी प्रतीक हैं और धार्मिक व राजनैतिक जुलूसों में भी नियमित रूप से विद्यमान रहते हैं।

नन्दी–राष्ट्रपति भवन के बाहरी प्रवेश द्वार के समक्ष बारामदे में कमलाकर आधार पर एक विशाल नन्दी अवस्थित है। मूलतः यह सम्राट अशोक (272-232 ईसा पूर्व) द्वारा भारत के सभी भागों में अपने प्रभुत्व के प्रतीक के रूप में लगाए गए कई स्मारकीय शिलास्तम्भों के उपर लगा है।[1] हिन्दू देवता शिव के मन्दिरों में विशाल नन्दी प्रतिमाओं को पाते हैं। नन्दी न केवल शिव का वाहन है बल्कि यह शिव की रचनात्मक शक्ति का तथा एक हिन्दू के धर्मपरायणता का भी प्रतीक है। शैव मन्दिरों में नन्दी को एक पृथक् कक्ष "नन्दी मण्डप" में शिव के समक्ष स्थापित किया जाता है। इस प्रकार इस नन्दी के माध्यम से राष्ट्रपति भवन का पोर्टिको भवन के आन्तरिक कक्ष दरबार हॉल के बाहर एक विशेष महत्त्व रखता है।

यद्यपि यह प्रतीकात्मक सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी में यूँ ही स्थापित हो गया था। नन्दी और दरबार हॉल में बुद्ध की प्रतिमा मूल योजना के अंश नहीं हैं। इसके पीछे एक कहानी है कि कैसे भारतीय संग्रहालय कलकत्ता से ये दोनों कलाकृतियाँ यहाँ आ गयी। सन् 1947-48 में भारतीय कला की एक विशाल प्रदर्शनी लन्दन के बर्लिंगडन हाउस में आयोजित की गई थी। बाद में यह निर्णय लिया गया कि भारतीय जनता भी इस कलाकृतियों को देख सके अतः दरबार हॉल को संग्रहालय का केन्द्र बनाकर प्रदर्शनी लगाई गई तथा यह दिसम्बर 1960 तक वहीं रही जब तक कि संग्रहालय की स्वयं की इमारत नहीं बन गयी। बुद्ध व नन्दी की प्रतिमा यही रह गयीं जबकि शेष कलाकृतियाँ संग्रहालय में भेज दी गयीं। तब से आज तक ये राष्ट्रपति भवन की शोभा बढ़ा रही है।

नागसर्प– नागसर्प एक अन्य भारतीय पौराणिक महत्त्व का जीव है जिसे साम्राज्यवादी दिल्ली के निर्माताओं ने प्रमुख स्थान दिया था। राष्ट्रपति भवन के दक्षिणी सहन में दो ऊँचे अष्टभुजाकार स्तम्भों पर आधारित दो नाग सर्प एक विशाल पात्र से जल का फव्वारा छोड़ते हुए सुशोभित हैं। वे सर्पराज हैं जो लौकिक विश्व के जलसंसाधनों जैसे- झीलों, तालाबों, नदियों तथा महासागरों के जल को जीवन्तता प्रदान करते हैं। भगवान विष्णु के कन्धे व शीर्ष भी नौ सर्प फणों से आच्छदित हैं और वे इसके अतिविशाल कुण्डली पर विराजमान हैं। नाग अर्धजलीय स्वर्ग तथा रत्नों व मोतियों से सुसज्जित देदीप्यमान महलों में नदियों, झीलों तथा महासागरों के तल में रहते हैं।

---

1. आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया, पृ. 161, भा.।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पश्चिमी विचारधारा के अनुसार एक सर्प के रूप में नाग कोई डरावना तथा बुराई का प्रतीक जीव नहीं है, बल्कि जीवनदायी जल के दैवीय रक्षक हैं, साथ ही अतुल्य और विवादरहित शक्ति के प्रतीक भी।[1] अतः इन्हें पश्चिमी मतानुसार धरती पर रेंगते हुए न बनाकर उन्हें सीधे तना हुआ दिखाया गया है। ये फव्वारों के लिए मूल्यवान जल तथा महल के जलमार्गों व मुगल गार्डन के लिए जल का प्रवाह करते हुए स्थापित किए गए हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इन जीवधारी (पशु) आकृतियों का कोई साधारण निरुपण नहीं है, जैसा कि विश्व को आधार प्रदान करने वाले हाथी, पोर्टिको की रक्षा करता हुआ नन्दी उनके धार्मिक महत्त्व के साथ पशुआकृतियों का चुनाव, महल व साम्राज्य के उद्देश्यों के अनुकूल किया गया है ताकि राष्ट्रपति भवन पूरी तरह से पवित्र स्थान बन जाए या कि मेरु के सदृश जो कि विश्व का पर्वत है।

कमल पुष्पः- राष्ट्रपति भवन में कमल आकृतियाँ कई स्थानों पर देखी जा सकती हैं। एक तो जयपुर स्तम्भ के शीर्ष पर जहाँ फूल में से एक तारे का उदय हो रहा है तथा दूसरा मुगल गार्डन में जहाँ पर चार फव्वारों को इस प्रकार समायोजित किया गया कि प्रत्येक षड्भुजाकार कमलों का निर्माण करते हैं। भारतीय हिन्दू पौराणिक अभिलेखों में कमल पुष्प का विशेष महत्त्व है। देवी लक्ष्मी कमल की देवी हैं तथा वे पृथ्वी व समस्त लोकों के पालनहार विष्णु की पत्नी भी हैं। वे विष्णु की रचनात्मक ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसके अतिरिक्त कमल का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड के रचयिता ब्रह्मा से भी है। बौद्ध धर्म में भी तीसरी शताब्दी से बुद्ध को कमल पर आसीन दिखाया जाने लगा था तथा कमल देवीय-उत्पत्ति तथा ज्ञान के प्रकाश का प्रतीक बनता चला गया।

लुटियन को न केवल कमल का सौन्दर्य ही भाया जिसने उसे राष्ट्रपति भवन में इस हिन्दू व बौद्ध प्रतीक को व्यावहारिक भाषा के रूप में स्वीकार करने के लिए उत्प्रेरित किया बल्कि यह भारत की महान संस्कृति तथा प्रतीकात्मक क्षमता के साथ कमल का सम्बन्ध है, जिसने इस साम्राज्यवादी महल में कमल का स्थान सुनिश्चित किया।

संसद भवनः-

'संसद भवन' संसद की मुख्य इमारत, स्वागत कक्ष, संसदीय पुस्तकालय परिसर, संसद भवन सचिवालय तथा इसके चारों ओर बृहद् लॉन और छोटे तालाबों तथा फव्वारों से सुसज्जित एक विशाल परिसर है। पूरा संसद भवन परिसर सुसज्जित लाल बलुआ पत्थर की चारदीवारी की ग्रीलों तथा लोहे के विशाल दरवाजों से घिरा हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यह भारत की राजनैतिक एवं प्रशासनिक सत्ता का केन्द्र है। इस भवन निर्माण की आवश्यकता सन् 1919 में मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों के पश्चात् भारत में एक त्रिआयामी व्यवस्था वाली भारत सरकार के गठन के निर्णायक फैसले के पश्चात् पड़ी जिसमें एक उच्च सदन, एक देशीय राजाओं का सदन

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 184

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा एक विधायी सभा की व्यवस्था की गयी थी अतः इन तीन पृथक् सदनों को समाहित करते हुए एक स्वतंत्रत भवन की कल्पना तर्क संगत प्रतीत हुई। इस भवन की बनावट और भवन निर्माण की जिम्मेदारी सर हर्बटे बेकर[1] को सौंपी गई जिन्हें ये भवन सर एडविन लुटियन के द्वारा भारत की नई राजधानी नई दिल्ली के वास्तुशिल्प के अनुरूप बनाना था जो 30^0व 60^0 के कोणों के त्रिकोणीय पद्धति पर आधारित थी। निर्माण की योजना बनाते समय सर हर्वर्ट बेकर पहले एक ऊँचे गुंबद वाले हॉल को अन्य तीन सदनों से जोड़कर बनाना चाहते थे। परन्तु स्थान की अधिक माँग को देखते हुए उन्हें मजबूरन एक गोलाकार व्यवस्था को अपनाना पड़ा जो कि लुटियन के तत्कालीन निर्माण के वास्तुशिल्प के अनुसार भी था और इसमें आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त स्थान भी था। परन्तु एक गोलाकार संरचना एवं बृहद् बाह्य दीवार के कारण केन्द्रीय कक्ष पर गोलाकार गुंबद का बनाया जाना स्थगित करना पड़ा क्योंकि बाहरी ऊँची दीवारों के निकट जाने पर भितरी गुंबद स्पष्ट नहीं दिखता जैसा कि वर्तमान में भी इसके निकट जाने पर केन्द्रीय कक्ष की छतरी स्पष्ट नहीं दिखती। भवन के निर्माण की आधारशिला 12 फरवरी 1921 को ड्यूक ऑफ कनाट के द्वारा रखी गयी थी इस भवन के निर्माण में कुल 6 वर्ष का समय लगा तथा यह भवन 18 जनवरी सन् 1927 को बनकर तैयार हुआ, इस प्रकार 18 जनवरी, 1927 को भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड इरविन ने इसका उद्घाटन किया।[2] भवन की कुल लागत उस समय 8300000 रू. आई। परिसर की मुख्य इमारत संसद भवन एक गोलाकर संरचना में निर्मित है जिसका व्यास 560फुट (170.69मी.) है तथा इसकी परिधि 536.33मी. है तथा इसका कुल क्षेत्रफल 24281.12^2मी. है।[3] इसकी पहली मंजिल पर खुले बारामदे के बाहरी ओर 144 क्रीमरंग के बलुए पत्थर के 8.23मी. ऊँचे स्तम्भों की पूर्ण श्रृंखला है। परिसर में 12 द्वार हैं जिसमें से संसद मार्ग स्थित द्वार संख्या एक इसका मुख्य प्रवेश द्वार है। भवन में भारतीय वास्तुशिल्प की कई विधाओं का प्रयोग किया गया है। जिनमें से मुख्यतः छज्जा तथा जाली भारत की परम्परागत वास्तु शैली से प्रेरित है। भवन में आधुनिक सुखसुविधाओं, सुरक्षा व्यवस्थाओं इत्यादि की सुनियोजित व्यवस्था की गई है।

भवन के मध्य में तीनों सदनों के अर्धगोलाकार भवनों सहित केन्द्र में एक बृहद् गुंबद से आच्छादित केन्द्रीय कक्ष है जो एकिकृत भारत को प्रतिबिन्बित करता है। सहायकों की दीर्घा और उनके ऊपर गलियारों को जाने वाली सीढ़ियों सहित तीनों सभा कक्षों वाले तीनों खण्ड इस केन्द्रीय कक्ष से आपस में जुड़ते हैं। इन सबके बीच में रिक्त स्थान को भरने के लिए बागीचों वाले आंगन हैं। जिनकी हरी घास, नारंगी वृक्षों और फव्वारों इमारत के लाल पत्थरों, सफेद दीवारों, स्तम्भ श्रृंखला, पत्थरों की जाली की नक्कासी वाले दरवाजों के साथ एक मनभावन रंगों का एक तर्कसंगत विरोधाभास (Contrast) उत्पन्न करते हैं। इन तीन भीतरी सदनों के चारों ओर एक चार मंजिला

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 220
2. वही,
3. वही,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वृत्ताकार संरचना जो बाहरी बारामदे में स्तम्भों की श्रृंखला से आवृत्त है मंत्रियों, सभापति, संसदीय समितियों, विभिन्न राजनैतिक दलों के कार्यालय तथा लोकसभा एवं राज्यसभा सचिवालय इत्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों को पर्याप्त रूप से स्थान उपलब्ध कराता है। छोटे गुंबदों से आच्छादित तीनों सदनों के सापेक्ष पोर्च के नीचे से तीन मुख्य प्रवेशद्वार हैं जो ऊपर के विशाल खम्भे को भव्य ऊँचाई प्रदान करते हैं। बारामदे के अन्दर का गोल गलियारा जिसमें बाहरी सूर्य के प्रकाश सें काले और सफेद रंगों में विभाजित विशाल स्तम्भ ऐसा आभास देते हैं कि कहीं दूर जाकर यह गोलाई आपस में मिलकर एक वृत्त का निर्माण करती है। इसी प्रकार जेब्रा के सदस्य क्रीम रंग के पलस्तर वाली भीतरी दीवार भी प्रभावशाली आकार और राजसी रूप की अनुभूति प्रदान करती है, परन्तु इस भवन के प्रत्येक भाग में संदर्भ का प्रयोग होने के कारण गलियारे का चौड़ा रास्ता यत्र-तत्र पूर्णतः उद्देश्यहीन, कीवाड़ हीन दरवाजों से बाधित होता रहता है। इन दरवाजों में दो छोटे खम्भों पर रखे एक सहायक शहतीर के ऊपर एक लकड़ी की नक्काशी किया हुआ पत्थर का अर्धगोलाकार शीर्ष है। कहीं-कहीं पर जहाँ कहीं भी वास्तुकार की इच्छा हुई उसने स्तम्भों वाले बारामदे से तीन या चार पत्थरों को उतने ही बेडौल पत्थरों की जाली से व लकड़ी के नक्काशीदार चौखटों के पैनलों से जोड़कर पोर्चो का निर्माण किया गया है। भवन के अन्दर तीनों सदनों के भवन तथा केन्द्रीय कक्ष आपस में इस प्रकार से जुड़े हुए हैं कि वो एक विशाल पहिए के आरे को प्रतिबिम्बित करते हैं।

लोकसभासदन– ये 446²मी. क्षेत्रफल में बना अर्धगोलाकार सदन है जिसमें इस अध वृत्त के दोनों सिरों को जोड़ने वाले व्यास के मध्य में सभापति का आसन है। इस आसन के दाहिने ओर सरकारी कर्मचारियों के आने-जाने के लिए एक गैलरी अवस्थित है। आसन के बायीं ओर शासन ये जुड़े महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों जैसे– राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यों के राज्यपाल, विदेशी मंत्रियों के परिवार के या अभ्यागतों के बैठने का एक विशेष कक्ष है। सभापति के आसन के ठीक नीचे सदन के महासचिव के बैठने का स्थान है जिनके समक्ष लगी मेज पर सदन की कार्यवाही से जुड़े अधिकारियों एवं लिपिकों के बैठने का स्थान है। सदन के 550 सदस्यों को बैठने की व्यवस्था की गई है जो ग्यारह पंक्तियों वाले छः खण्डों में विभक्त हैं। सभापति के आसन के बायीं तरफ तथा दायी तरफ 97 सदस्यों के बैठने का स्थान है जबकि शेष चार खण्डों में 89 स्थान है। सभापति के आसन के दाहिनी ओर से लेकर मध्य भाग से थोड़ा अधिक सत्ता पक्ष के मंत्रियों एवं सदस्यों के बैठने का स्थान नियत है। विपक्ष के सभी सदस्य सभापति के बायी ओर बैठते हैं। उपसभापति सभापति के आसन के बायी ओर पहली पंक्ति के पहले स्थान पर बैठते हैं। लोकसभा के चारों ओर बने लकड़ी के आवरण पर बने 35 चमकीले डिजाइन अविभाजित भारत के सभी प्रदेशों, उपनिवेशों तथा अन्य ब्रिटिश अधिग्रहणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सदन से लगे हुए बाहरी और भीतरी दो गलियारे हैं जहाँ पर सदस्यों को बैठकर आपसी विचार-विमर्श तथा आराम करने के लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई है। सदन के सभापति के आसन के सामने की ओर दायीं ओर से बायीं ओर तक अर्धवृत्ताकार दीवार के समानान्तर पहली मंजिल पर एक दर्शक दीर्घा की व्यवस्था की गई है जहाँ पर बैठकर दर्शक एवं पत्रकार गण सदन की कार्यवाही का अवलोकन कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

राज्यसभा:- राज्य सभा जो प्रारम्भ में उच्च सदन के रूप में स्थापित किया गया था, का सदन भी इसी व्यवस्था के अनुरूप व्यवस्थित किया गया है। परन्तु, इसमें बैठने की क्षमता लोक सभा की सापेक्ष बहुत कम है इसमें कुल 250 सदस्यों के बैठने की क्षमता है। तथा शेष सभी व्यवस्थाएँ तथा स्थान लोक सभा के अनुरूप ही है। बैठने के स्थान लोकसभा में हरे रंग के हैं, जबकि इसमें लाल रंग का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त जो देशीय राजाओं के लिए सदन की व्यावस्था की गई थी उसे स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पुस्तकालय में परिवर्तित कर दिया गया।

केन्द्रीय कक्ष– इस भवन का, संसद भवन के प्रमुख अवयवों में, केन्द्रीय कक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण और पूरे भवन का केन्द्र बिन्दु है। ये इसकी बाहरी गोलाई से बने वृत्त के ठीक मध्य में है तथा संसद के अन्य सदनों जैसे लोक सभा, राज्य सभा तथा पुस्तकालय जो ब्रिटिश काल में देशीय राजाओं का कक्ष था इससे परस्पर 60^0 के कोण पर जुड़े हुए हैं। इन तीनों सदनों के मध्य में घास के मैदान वाले सहन हैं जिसकी हरी घास, नारंगी पेड़ और फौव्वारों से युक्त ये तीनों मैदान इमारत के लाल पत्थरों, स्वेत दीवारों, स्तम्भ श्रृंखला, पत्थरों की जाली वाले दरवाजों के साथ यह भावन रंगों का विरोधाभास उत्पन्न करते हैं। केन्द्रीय कक्ष स्वयं में एक गोलाकार ढांचा है जो 29.87मी. ऊँचे गुंबद से आच्छादित है। इस गुंबद के ऊपर एक छतरी बनी है जो इमारत को दूर से देखने पर स्पष्ट दिखाई देती है। केन्द्रीय कक्ष का भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 15 अगस्त 1947 को लार्ड माउण्ट बेटेन द्वारा भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को स्वतंत्र भारत की सत्ता सौंपी गयी थी तथा इसी कक्ष में भारत का संविधान लिखा गया था। इस केन्द्रीय कक्ष को पूर्व की केन्द्रीय विधायी सभा (Central Legislative Assembly) तथा विधायी परिषद के पुस्तकालय के रूप में प्रयुक्त किया जाता था, परन्तु 1946 में इसमें परिवर्तन करके इसे संविधान सभाकक्ष के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। 9 दिसम्बर 1946 से लेकर 24 जनवरी, 1950 तक संविधान सभा की सभी बैठकें इसी केन्द्रीय कक्ष में सम्पन्न की गयीं। वर्तमान में यह कक्ष लोक सभा तथा राज्य सभा के सदस्यों की संयुक्त सभा को आयोजित करने में प्रयुक्त किया जाता है या जब कभी भारत के राष्ट्रपति संसद को संबोधित करने के लिए इस भवन में आते हैं तब वे इसी कक्ष में संसद के दोनों सदनों को संबोधित करते हैं। इसके मुख्य पृष्ठ में ब्रिटिश भारत के वायसराय तथा उनकी पत्नी के दो अलग-अलग सिंहासन रखे हुए थे जिन्हें अब हटाकर एक ही आसन रखा गया है जिस पर भारत के राष्ट्रपति स्वयं बैठते हैं। इसके चारों ओर की दीवारों तथा आलों पर चमकिले पटलों पर भारत के विभिन्न महत्त्वपूर्ण राजनितिज्ञों, स्वतंत्रता सेनानियों, समाजसेवकों, साहित्यकारों के भित्तिचित्र लगे हुए हैं। कक्ष की दीवारों पर बारह चमकीले प्रतीक चिह्न लगे हुए हैं जो अविभाजित भारत के बारह प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके चारों ओर छः सुसज्जित मण्डप या दालान हैं तथा इसकी पहली मंजिल पर दीर्घाएं हैं। जिसमें प्रेस तथा विशिष्ट अतिथियों व सदस्यों के अभ्यागतों के बैठने के स्थान नियत हैं। संसद के अन्य तीन भवनों की अपेक्षा यह कक्ष वातानुकूलित नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्वागत कक्षः- स्वागत कक्ष वस्तुतः लाल बलुए पत्थर से निर्मित एक गोलाकार इमारत है जो द्वार संख्या एक के विपरीत रायसिना रोड पर स्थित है। यह नवीन तथा पुरातन दोनों प्रकार के वास्तुशिल्प का मिश्रण है। यहाँ पर मंत्रियों तथा संसद सदस्यों से मिलने आने वाले अभ्यागतों के प्रतिक्षा के लिए गोलाकार बैठने का स्थान है तथा यह आन्तरिक रूप से लकड़ी के कार्य से सुसज्जित है।

पुस्तकालय भवन (संसदीय ज्ञानपीठ):- वर्ष 2002 तक संसदीय पुस्तकालय संसद भवन में ही स्थित था। परन्तु इसकी सेवाओं में विस्तार होने के कारण यह स्थान इसके लिए पर्याप्त नहीं था अतः संसद के सदस्यों को पुस्तकालय, संदर्भ, शोध, लेख संरक्षण तथा सूचना सेवा प्रदान करने के लिए एक नए वृहद् भवन की आवश्यकता पड़ी। इसलिए 15 अगस्त, 1987 को तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी ने इसकी आधारशिला रखी। बाहर से यह इमारत संसद भवन में प्रयुक्त लाल व क्रीम रंग के बलुए पत्थर से बनी है तथा इसकी ऊँचाई संसद की मुख्य इमारत के पहले मंजिल के चबूतरे के बराबर रखी गयी है। पुस्तकालय भवन की छत लोहे की ढाँचे के ऊपर राष्ट्रपति भवन के गुंबद के सदृश छोटे बुलुबुलों के आकार के गुंबदों की श्रृंखला से आच्छादित है। ये स्टैनलेस स्टील के छल्लों के ऊपर बुलबुले के आकार में वृत्ताकार फाइबर की छतों से आच्छादित है। इसका केन्द्रीय भाग सूर्य की किरणों को परावर्तित करने वाले कांच तथा स्टैनलेस स्टील से बना हुआ है। ये चार पंखुड़ियों में विभक्त है जो परस्पर एक दूसरे से आपस में संबद्ध हैं।

कनाटप्लेसः-

शाही दिल्ली का विकास एक छोटे बाजार वाले नगर से नहीं हुआ था और ना ही यह किसी व्यापारिक सन्धि स्थल पर स्थित है इसके अतिरिक्त यहाँ से कोई महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग भी नहीं निकलता इसलिए इसके केन्द्र में कोई बाजार नहीं हैं इसके बजाय (राष्ट्रपति भवन) और इसके प्रशासनिक भवन इस नगर के केन्द्र में निर्मित किए गए हैं। क्योंकि बिना व्यापार और सरकारी सेवाओं के राज्य चलाना कठिन होता है इसलिए इन चीजों को आरम्भिक नगर योजना में सम्मिलित किया गया था और एक अलग स्थान पर इसका निर्माण किया गया जिसे कनाट प्लेस के नाम से जाना जाता है। इसकी मूल योजना 18वीं शताब्दी के बांथ में स्थित सर्कस और लंदन के पार्क प्लेस से लिया गया था।[1] कनाट प्लेस के दुकानों के बाहरी भाग में बड़े-बड़े छज्जे बनाए गए थे और स्तंम्भों से युक्त थे जो धूप और वर्षा दोनों से सुरक्षा प्रदान करते थे जो अब भी वर्तमान हैं। ठीक इसी तरह की योजना बाथ और चेल्थेनम की छतों में भी देखी जा सकती है। यह केवल दो मंजिला ऊँचा बनाया गया लेकिन इसके किनारे कोई चाहरदीवारी नहीं बनाई गई थी लेकिन इन कमियों के बाद भी इन दुकानों के आकर्षण में कोई कमी नहीं हुई जो पुरानी दिल्ली की चाँदनी चौक बाजार में दिखती हैं। कनाट प्लेस के निर्माण के लगभग 40 वर्ष बाद एक भारतीय

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

योजनाकार ने लिखा है कि कनाट प्लेस उस चमक दमक और आकर्षण से परिपूर्ण है जो दिल्ली वालों को अपनी ओर खिचती है।[1] स्थापत्य शैली और अत्यधिक सफल व्यापारिक महत्व के कारण इस क्षेत्र का महत्त्व आज भी विद्यमान है।

इण्डिया गेटः-

प्रथम विश्व युद्ध के समय ही यह स्पष्ट हो गया था कि इस विश्व युद्ध में शहीद हुए भारतीय सैनिकों की स्मृति में एक स्मारक का बनाया जाना अंग्रेजी शासन के लिए एक राजनैतिक विवशता हो जाएगी। सन् 1917 के आरम्भ में ही लुटियन को इस आवश्यकता का ज्ञान हो गया था और इसीलिए उसने राजपथ के अन्त में एक चौराहे का निर्माण किया और इसके बीचों-बीच एक विशाल मिहराबदार गेट का निर्माण किया जो इण्डिया गेट के नाम से प्रसिद्ध है। विश्वयुद्ध जीतने के बाद सलाहकारों ने इस प्रकार के निर्माण की सलाह दी थी और तब लुटियन ने लार्ड स्टैम फोर्डम को लिखा– "जहाँ तक प्रस्तावित युद्ध स्मारक का सम्बन्ध है, मैंने सुना है कि इस बात की सलाह दी गई है कि इसका स्वरूप उपयोगिकतावादी होना चाहिए मुझे लगता है कि यह एक बड़े अवसर को खो देना होगा। उपयोगिकतावादी उद्देश्यों को उचित समय पर कर्त्तव्य के रूप में पूरा किया जाना चाहिए। लेकिन यह महान युद्ध स्मारक वहाँ बनाया जाना चाहिए जहाँ सभी भारतीय अपने महान शहीदों को याद कर सकें, जिन्होंने अपने देश और अपने राजा की सदैव सेवा की।"[2] ब्रिटिश साम्राज्य शाही को अभी तक भारत में किसी भी प्रकार की चुनौती नहीं मिली थी और देशी राजाओं की राजभक्ति बनी हुई थी। कर्त्तव्य, अनुशासन, एकता, भाईचारा, राजभक्ति, सेवा और बलिदान ये वे सन्देश हैं जो इस अखिल भारतीय मेहराब से दिया जाना था।

यह विशालकाय गेट जो लुटियन की द्वितीय योजना पर आधारित था लगभग एक दशक (1921-1931)[3] में बनकर तैयार हुआ था। इस 160 फुट ऊँचे तथा 30 फुट चौड़े स्मारक के माध्यम से लगभग 60000 भारतीय सैनिकों का सम्मान किया गया जो विदेशों में युद्ध के समय वीरगति को प्राप्त हुए थे। इसकी दीवार में 13516 अंग्रेजी और भारतीय सैन्यअधिकारियों के नाम उत्कीर्ण हैं। इसके माध्यम से उन लोगों को भी श्रद्धांजलि दी गई जो तीसरे अफगान युद्ध सन् 1919 में शहीद हो गऐ थे।[4] इनकी तुलना रोम के ट्यूटीसमार्क (90ई. पू.), पेरिस के पोर्ट सेण्ट डेनिस (सन् 1673) और पेरिस के ही आर्क डी टीयोम्प (1836) से की जा सकती है।[5] ये सभी स्मारक चौकोर आकर के हैं जो तीन क्षैतिज और लम्बवत् भागों में विभक्त हैं, और यही संरचना

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ.
2. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 156-157
3. वही, पृ. 157
4. इण्डियन समर, लुटियन, बेकर एण्ड इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 258
5. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ. 161

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भारत के युद्ध स्मारक अर्थात् इण्डिया गेट की है।[1] लुटियन ने गोलाकार मिहराब का निर्माण किया था। इसका अनुपात 2:5 से 1 वर्ग मीटर तक का घेरा है जो इस निर्माण में एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है। लुटियन का यह निर्माण इस सन्दर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है कि इसमें स्तम्भों और भारतीय- इस्लामिक शैली से मुक्ति पा ली गई है। यह उस दिशा में उठायास गया एक कदम था जो निर्माणों को उनके अनुपात और भार से भी आकर्षक बना देता है।

इस युद्ध स्मारक (इण्डिया गेट) की सम्पूर्ण योजना छोटी-छोटी जयामितीय आकृतियों का एक मेल है। प्रत्येक धुरि और प्रत्येक कोण वर्गों की पूरी एक व्यवस्था से परिभाषित है जो एक के उपर एक बने हैं। दूसरी ओर इसकी सतह दो या चार समान आकार के त्रिभुजों से निर्मित है जो एक दूसरे में आबद्ध हैं। त्रिभुजों की इस प्रकार समायोजन के एक सुदृढ़ आयत का निर्माण होता है इसे आदर्श आयत भी कहते हैं। इसमें प्रथम दृष्ट्या दो विशालकाय पत्थर के जलपात्र दिखाई देते हैं जो दर्शकों को भ्रमित कर देते हैं ये दोनों आकृतियाँ विदेशी हैं जो भारत के लिए अपरिचित हैं और यूरोपीय वीरता के प्रतीक के रूप में इनका जन्म हुआ था।

ये जलपात्र या भस्मपात्र वीरगति के प्रतीक हैं और इनकी उत्पत्ति औपचारिक रूप से रोम में हुई थी।[2] यह भस्मपात्र देवदारू वृक्ष के प्रतीक के ऊपर रखा गया है और ये दोनों मिलकर जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया दर्शाते हैं। इसको यहाँ बनाया जाना इस बात का द्योतक है कि राजपथ यहाँ समाप्त होता है।

नई दिल्ली में निर्मित इस विशालकाय मिहराबदार द्वार की तत्कालीन प्रिंस ने अत्यधिक प्रशंसा की है। हर्बर्ट बेकर जिसका लुटियन से काफी विवाद रहा ने भी इस स्मारक की अत्यधिक प्रशंसा की है।[3]

इसके दोनों तरफ शानदान फौव्वारे बने हुए हैं। ये फौव्वारे दो जलधाराओं के अन्तिम बिन्दु हैं जो राजपथ के किनारे-किनारे चलती हैं। इन फव्वारों के नीचे की ओर 34 नालियाँ बनी हैं।

इस युद्ध स्मारक के ठीक पीछे किंगजार्ज पंचम का स्मारक है जिसे सन् 1936 में लुटियन ने बनवाया था। इसी वर्ष राजा की मृत्यु हुई थी और यह उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक है, उन सभी के लिए जो इस शाही दिल्ली के निर्माण में लगे हुए थे, कि शाही दिल्ली के निर्माता के स्मरण में एक स्मारक बनाया जाय। इससे यह प्रतीत होता है कि इस शहर के निर्माण की प्रगति कैसे हुई और कैसे सफलतापूर्वक इसका निर्माण किया गया। इस स्मारक का यहाँ बनाए जाने का एक कारण राजा का सत्ता के केन्द्र में होना भी था। इस तरह के स्मारक केवल लन्दन में ही नहीं बल्कि भारत में भी प्रचलित थे जैसे कि महाबलि पुरम में देवताओं के कांस्य प्रतिमाओं को आज भी

1. वही,
2. वही
3. वही

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सुरक्षित रखा गया है। हम यह मान सकते हैं कि लुटियन इन सभी चीजों से परिचित रहा होगा। किंगजार्ज पंचम की मूर्ति संगमरमर से निर्मित थी इस मूर्ति की योजना चाल्स्र जैगर और लुटियन ने मिलकर बनाई थी। स्वतंत्रता के बाद इस मूर्ति को यहाँ से हटा दिया गया और इस पूरे स्थान ने इसकी मूल गरिमा राजशी तत्व आदि खो दिए।

मार्टिन चर्च:-

दिल्ली में बढ़ती हुई सैन्य संख्या के साथ शाही शक्ति का केन्द्र दिल्ली में ही आ गया था, इसीलिए सैन्य आवासों और सामुदायिक सुविधाओं की आवश्यकता बढ़ गई थी। आर्थर जी सुस्मिथ ने एक सैन्य चर्च दूर शहर के बाहर बनवाया था।[1] यह स्थान अब तक बिल्कुल अलग-थलग और अज्ञात था इसके अलावा यह चहल-पहल से रहित और तत्कालीन अंग्रेजी स्थापत्य शैली से बिल्कुल अलग था।

नई दिल्ली के बाहरी भाग का सूखापन और गर्मी इस साधारण चर्च में स्पष्ट दिखाई देता है। इसकी दीवारों में लगभग न के बराबर खिड़कियाँ हैं और दीवारें अत्यधिक मोटी हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह दीवार किसी किले की दीवार हो न कि ऐसे पवित्र स्थान की। इस चर्च में कोई स्तम्भ गुंबद आदि जैसी चीजें नहीं थीं इसके बजाय यह सैन्य शक्ति का प्रतीत बन गया था परिणाम स्वरूप वार्टिन का यह चर्च भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अन्तिम प्रतीक बन गया था।[1]

जिस प्रकार इस चर्च में किसी भी यूरोपीय शैली को नहीं अपनाया गया है ठीक उसी प्रकार इसमें हिन्दू और इस्लामी स्थापत्य को भी नकार दिया गया था। अन्त में इसके निर्माण स्थान और संस्कृति के बारे में कोई भी जिज्ञासा अनावश्यक है। यह चर्च अंग्रेजी राज्य की उस सामाजिक छवि का प्रतीक बन गया था जो आक्रमण और रक्षा को दर्शाती हैं। अभी तक अंग्रेजों की ऐसी सैन्य सांस्कृतिक और नैतिक शक्ति का इतने शानदार तरीके से कहीं प्रदर्शन नहीं हुआ था। यह चर्च पहली बार विवाद के घेरे में तब आया जब भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन चरम पर था और शाही साम्राज्य का विश्व में अनपेक्षित पतन हो गया था।

कैथड्रल चर्च:-

राष्ट्रपति भवन के ठीक आगे ब्रॉसी एवेन्यू के उत्तरी छोर पर रिडेम्सन का कैथड्रल चर्च है जो जयपुर कॉलम के ठीक सामने ही है। यह महत्त्वपूर्ण स्थान महत्त्वपूर्ण नगर नियोजन की धुरी में है जिसकी शैली विशिष्ट है और इसका निर्माण एच.ए.एन.मेड ने किया था।[2] मेड ने इसके लिए एक समतल मैदान चुना जो जयपुर स्तम्भ के ठीक सामने था और इसे जयपुर स्तम्भ से आसानी से देखा भी जा सकता था। वह स्थान दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाली सड़क के समापन बिन्दु पर बन गया था।

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ.
2. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस चर्च के निर्माण के लिए निविदा आमंत्रण करने और चर्च के निर्माण का निर्णय सन् 1925 में लिया गया। रायसिना के चैपलिन ने लाहौर के विशप को इस बात के लिए मना लिया था कि सेकरेट्रीएट के पास एक चर्च का होना आवश्यक है। क्योंकि यह वह स्थान है जहाँ पर अनेक ईसाई कार्य करते हैं। लुटियन इस समय अपनी ख्याति के चरम पर था जो उसने नई दिल्ली के नगर नियोजन और स्थापत्य से प्राप्त की थी उसने ही निविदा में आए प्रस्तावों पर अन्तिम निर्णय लिया था और इस प्रकार इस कार्य के लिए उन्होंने मेड का चुनाव किया।

जब लार्ड इरविन ने अपना नया कार्यालय नए वायसराय हाउस में स्थानान्तरिक किया तब रेडम्सन ने इस चर्च के निर्माण को विशेष प्राथमिकता दी गई। "मेड ने एक ऊँचे केन्द्रीय स्तम्भ की योजना बनाई जो अत्यधिक लम्बा था और यह उसके द्वारा चर्च के लिए गुंबद के अधिक ऊँचा था जो काफी कुछ लुटियन के सन् 1910 में हैम्सटन में बनवाए गए चर्च जैसा ही था। इस विशाल चर्च के निर्माण के लिए समतल भूमि पर भारी नीव रखी गई थी। लेकिन 1935 तक स्तम्भ का निर्माण नहीं हो पाया था और तब तक मेड ने इस चर्च के लिए तीसरी योजना बना ली थी और बाद में यह चर्च उसकी अनुपस्थिति में ही बनाया गया। मेड की यह योजना इसलिए उचित थी क्योंकि वह लुटियन के महान निर्माण पेलाडियों की नकल प्रतीत होती थी और ये तत्त्व स्पष्ट रूप से इसके प्रवेश द्वार और सामने की दीवारों से ही स्पष्ट हो जाती हैं। इन दोनों ही निर्माणों में अन्दर की बीम स्तम्भों पर ही आधारित थी।

इस चर्च के नाम के लिए एक लम्बी बहस हुई और सन् 1947 में इसे कैथड्रल चर्च का नाम दिया गया[2] लुटियन और इरविन दोनों ने ही ईश्वर या परमपिता नाम का समर्थन किया लेकिन कलकत्ता के विशप ने इस नाम पर सन्देह प्रकट किया क्योंकि इस प्रकार का कोई नाम यूरोपीय चर्चों में नहीं था। रेडनटोर ने इसका नाम रीडिमर या होली रीडिमर सुझाया लेकिन यह नाम किसी को स्वीकार्य नहीं हुआ और अन्ततः इस चर्च का नाम 'कैथड्रल चर्च ऑफ रेडम्सन' पड़ा और यह सब कुछ उस भारतीय उपमहाद्वीप के केन्द्र में हुआ जहाँ शताब्दियों तक हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच संघर्ष एवं विनिमय चलता रहा था और अनेक विदेशी आक्रान्ताओं ने यहाँ पर अपने सांस्कृतिक और सैन्य चिह्न छोड़ने का प्रयास किया था।

बिड़ला मन्दिर (लक्ष्मी नारायण मन्दिर):-

लक्ष्मीनारायण मन्दिर नई दिल्ली का एक प्रसिद्ध और लोकप्रिय मन्दिर है। लोगों में यह बिड़ला मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। सन् 1193 अर्थात् प्रायः साढ़े सात सौ वर्षों के बाद यही एक बड़ा मंदिर है जिसका दिल्ली में निर्माण किया गया था। इस कार्य को करने का श्रेय राजा बलदेवदास का आदेश प्राप्त कर युगल किशोर बिड़ला को है[3] जिसके आधार पर इसको बिड़ला

1. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ.
2. इम्पीरिअल डेल्ही, पृ.
3. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ. 41

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिर के नाम से जाना जाता है। नई दिल्ली के उत्तर और पश्चिम में ऊँची पथरीली भूमि है। एक ओर इस ऊँची पथरीली भूमि को, जब कलकत्ता से स्थानान्तरित होकर दिल्ली राजधानी बनी तो, समतल कर वायसराय हाउस (राष्ट्रपति भवन), सचिवालय, संसद भवन, गिरिजाघर बनवा दिये गए थे। शेष पथरीली ऊबड़-खाबड़ भूमि पर निर्माण कार्य करना बहुत ही खर्चीला था अतः उसे छोड़ दिया गया था। उस समय नई दिल्ली में मस्जिद, गिरिजा घर इत्यादि तो थे परन्तु हिन्दुओं के लिए काई विशेष मन्दिर नहीं था न ही अंग्रेजों ने हिन्दुओं के लिए किसी मन्दिर की आवश्यकता समझी, परन्तु उस समय सनातन हिन्दू धर्मसभा के आग्रह पर महामना मालवीय जी, जो उस समय के केन्द्रीय काउन्सिल के सदस्य थे, ने एक हिन्दू मन्दिर के निर्माण के लिए सरकार से भूमि देने के लिए निवेदन किया। उस समय जितनी समतल भूमि थी उस पर निर्माण कार्य प्रायः हो चुका था या जो भूमि बची थी वो सभी आवंटित हो चुकी थी। अत एव अंग्रेजों ने मालवीय जी को सन्तुष्ट करने के लिए यही ऊँची-नीची पथरिली भूमि का लगभग एक एकड़ भाग सनातन धर्म सभा को मन्दिर निर्माण के लिए दे दिया।[1] किन्तु उस समय सामान्य आकार का मन्दिर निर्माण के लिए भी लगभग 50-60 हजार रू. की आवश्यकता थी सभा के लोगों ने मात्र 15 हजार रू. ही एकत्र कर पाए थे परन्तु मालवीय जी के प्रयास से धौलपुर नरेश महाराज उदयभानु सिंह ने 20 हजार एक और महराज दरभंगा ने भी 20 हजार रूपए धार्मिक निर्माण के लिए दिए[2] परन्तु फिर भी इन पैसों से केवल भूमि समतल हो पाई और दीवार कुछ ऊँचाई तक बन पायी। इसके बाद कार्य रुक सा गया, परन्तु अन्ततः इस मन्दिर निर्माण का कार्य पुनः तब प्रारम्भ हुआ जब इसके निर्माण कार्य पर युगल किशोर बिड़ला की दृष्टि गई। बिड़ला जी ने सम्पूर्ण निर्माण कार्यों का भार अपने ऊपर ले लिया और निर्माण कार्य आरम्भ हुआ। ऊँची-नीची भूमि समतल की गई बाद में आस-पास की अन्य भूमि खरीदकर उस पर इन्द्रप्रस्थ वाटिका, आर्य हिन्दू भवन, धर्मशाला, बुद्ध मन्दिर आदि बनाए गए।

जिस समय इस मन्दिर का निर्माण हुआ उस समय लोगों को प्राचीन हिन्दू मन्दिर शिल्प का अधिक ज्ञान न था, किन्तु फिर भी परम्परागत अभास के कारण मन्दिर के मुख्य अंग शिखर, गर्भगृह, अन्तराल और महामंडप सम्मिलित किए गए। प्राचीन मन्दिर की तरह इसमें अलंकरणों, देवांगनाओं आदि की मूर्तियाँ तो इसमें नहीं बनाई गईं परन्तु इस कमी को पूर्ण करने के लिए इसके दीवारों पर पौरागणिक और भारतीय इतिहास के अनेक कथाओं से सम्बन्धित चित्र बनाए गए। इसके अतिरिक्त संगमरमर के फलकों पर जगह-जगह वेद, उपनिषद्, गीता आदि के तथा महात्माओं और महापुरुषों के उपदेशात्मक और प्रेरक वाक्यों को उत्कीर्ण कराया गया। उदाहरण स्वरूप राजा बलदेव दास की आज्ञा से जो श्लोक उन्हें प्रिय थे एक पटल पर अनुवाद सहित अंकित किए गए हैं–

1. वही, पृ. 42
2. वही, पृ. 43-44

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरित्य नक्तिधीरः। श्रेयोहि धीरोभिप्रयसो वृणीते।
बाह्यस्पर्शेष्व सक्तात्मक विंदत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मक सुखमक्षय्यमश्नुते।

दूसरा उपदेश महामना मालवीय जी का है– "सनातन धर्मी, आर्य धर्मी, सिख जैन और बौद्ध आदि सभी हिन्दुओं को चाहिए कि अपने विशेष धर्म का पालन करें और दूसरों के साथ प्रेम और आदर का व्यवहार करें।"

इनके अतिरिक्त मन्दिर में चित्र रूप में अनेक उपदेश अंकित हैं जो दर्शकों को परोक्ष रूप से धर्मोपदेश देते हैं और धर्म में उनकी आस्था दृढ़ करते हैं। इस मन्दिर में एक स्थापत्य में प्राचीन मन्दिरों की तरह अलंकरण न होते हुए भी यह बहुत भव्य और सादा है।

इस मन्दिर का शिलान्यास मालवीय जी के प्रयास से धौलपुर नरेश के द्वारा चैत्र कृष्ण अमावस्या को संवत् 1989 में किया गया।[1] इस मन्दिर को बनने में छः वर्ष का समय लगा। उद्घाटन के पूर्व मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा तथा पूजन, यज्ञ आदि का कार्य 101 ब्राह्मणों द्वारा काशी के प्रसिद्ध कर्मकाण्डी विद्वान पंडित विश्वनाथ शास्त्री के आचार्यत्व में हुआ और यज्ञ की पूर्णाहुति हिमालय के तपस्वी और ऋषिकल्प महात्मा केशवानन्द अवधूत जी के सानिध्य में दी गई। मन्दिर का विधि वत उद्घाटन राष्ट्रपिता महात्मागाँधी के करकमलों द्वारा चैत्र कृष्ण द्वादशी संवत् 1995, 17 मार्च 1939 को किया गया।[2] इस अवसर पर गाँधी जी के द्वारा दिया गया उपदेश महत्त्वपूर्ण है– "मेरी आशा है कि लक्ष्मीनारायण और बुद्ध दोनों मन्दिर धर्मभावना की वृद्धि करने में विशेष भाग लेंगे। मेरे साथ हिन्दू मन्दिर में ऊँच-नीच और छुआ-छूत की भावना है ही नहीं। वर्ण भेद अवश्य है परन्तु कोई वर्ण दूसरे वर्णों से ऊँचा नहीं। वर्ण में अधिकार भेद नहीं है केवल धर्म भावना है।"

यह मन्दिर नई दिल्ली के उत्तरी छोर पर स्थित है। उसके सामने की सड़क का नाम इस मन्दिर के कारण मन्दिर मार्ग रखा गया है। मन्दिर सड़क की तरफ 140 फुट चौड़ा है तथा पहाड़ी के ढलान पर स्थित है। निर्माणकर्त्ताओं ने इस ढलान को मार्ग से 24 फुट की दूरी तक इस तरह तराश दिया है कि मन्दिर के लिए 12 फुट ऊँचा मैदान निकल आए। इस ढलान और सड़क के बीच के 24 फुट के भूंभाग को समतल करके कार्यालय आदि बना दिए गए हैं। मन्दिर के सामने के भाग में कार्यालयों के बीचों-बीच मन्दिर में जाने के लिए संगमरमर की सीढ़ियाँ हैं जिससे होकर विशाल संगमरमर के निर्मित प्रांगण में जाया जाता है। इस प्रांगण के पश्चिमी भाग में, सड़क की ओर, गणेश जी, और पूर्वी छोर पर हनुमान जी के छोटे-छोटे मन्दिर हैं जो कार्यालयों के ऊपर बने हैं। ये दोनों ही मूर्तियाँ बड़ी भव्य और सुन्दर हैं। प्रांगण के उत्तर तरफ कुछ आगे निकला हुआ मन्दिर का प्रवेश मण्डप है। इससे होकर महामण्डप में जाया जाता है। इस मंडप में प्रवेश करते ही देवी लक्ष्मी और भगवान नारायण के दर्शन होते हैं। महामण्डप 46 फुट लम्बा और 40 फुट

1. वही, पृ. 45
2. वही,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चौड़ा है।[1] इसमें दक्षिण पश्चिम और पूर्व में चार बड़े-बड़े खम्भे देकर महामण्डप का मध्यभाग 26फुट चौड़ा कर दिया गया है, जिससे तीन ओर दीर्घा बन गई है। इस महामण्डप और गर्भ गृह के बीच 110 फुट लम्बा और काफी चौड़ा अन्तराल है।[2] गर्भगृह का द्वार इसी भाग में खुलता है। गर्भगृह 2 1/2 फुट वर्गाकार आकार का है। इसके उत्तरी भाग में भगवान नारायण और देवी लक्ष्मी की बड़ी सुन्दर मूर्ति एक वेदी पर स्थापित है। उनके सामने दीपधार पर घी के दीपक जलते रहते हैं।

प्राचीन मन्दिरों में केवल एक ही गर्भगृह होता था। परन्तु इस मन्दिर में इस मुख्य गर्भगृह के अतिरिक्त उसके दायें बायें दो गर्भगृह और हैं जो इस गर्भ गृह की परिक्रमा के कारण उससे अलग हो गए हैं। मुख्य गर्भगृह के पूर्व में भगवान शिव की मूर्ति का गर्भगृह, और पश्चिम में माँ दुर्गा की मूर्ति का गर्भगृह है। ये गर्भगृह मुख्यगर्भगृह से छोटे और कुछ पीछे हटकर बनाए गए हैं। तीनों गर्भगृह के द्वार एक ही अन्तराल में खुलते हैं। इनके भी परिक्रमा मार्ग हैं, परन्तु वे इस प्रकार बनाए गए हैं। कि दुर्गा जी के मन्दिर से आरम्भ कर तीनों गर्भगृहों की परिक्रमा एक साथ की जा सकती है।

माँ दुर्गा की मूर्ति सिंहवाहीनी है और भगवान शिव ध्यान मुद्रा में आसीन हैं। ये मूर्तियाँ भी वेदिकाओं पर स्थापित हैं। माँ दुर्गा जी के मन्दिर में अन्तराल समाप्त हो जाता है और वहाँ से सीढ़ियों द्वारा प्राङ्गण में उतरा जाता है। उतरते ही सामने एक छोटा सा मन्दिर बना है। इसका नाम 'वेद मन्दिर' है। यह उस मन्दिर की विशेषता है। इस छोटे से मन्दिर में एक भव्य वेदी पर पुरानी शैली से कपड़ों में बंधे चारों वेद प्रतिष्ठित हैं। मंदिर के उत्तर पूर्व के कोने से कुछ ऊँचाई पर गीता मन्दिर बना है। इस मन्दिर में एक विशाल मण्डप है जिसके एक भाग में दाहिने हाथ में चक्र लिए भगवान श्री कृष्ण की रंगीन प्रतिमा एक वेदी पर प्रतिष्ठित है। यह प्रतिमा मानवाकार से कुछ बड़ी है। इस मन्दिर में गीता के श्लोक उत्कीर्ण हैं। मन्दिर में दो खण्ड हैं। भगवान शिव और भगवती दुर्गा के गर्भगृहों के बाहरी पार्श्वो से ऊपर के खण्ड में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। महामण्डप के मध्यभाग को छोड़ कर शेष मन्दिर अर्थात् प्रवेश द्वार, महामण्डप के कुछ भाग और अन्तराल के ऊपर सुन्दर कमरे और बारामदे बने हैं जिनके सुन्दर दरवाजे बाहर की ओर खुलते हैं। इस खण्ड की दीवारों पर संगमरमर के फलकों से सुन्दर चित्र और उपदेश वाक्य अंकित है। प्रवेश द्वार के ऊपरी खण्ड के ऊपर एक छोटा, किन्तु सुन्दर शिखर है। इस खंड के उपरी भाग में अनेक छोटे शिखर हैं जो उनकी शोभा बढ़ाते हैं।

मन्दिर के तीनों गर्भगृहों पर, जो 30 फुट ऊँचे हैं, शिखर उठाए गए हैं। मुख्य और सबसे ऊँचा शिखर भगवान् लक्ष्मीनारायण के गर्भगृह के ऊपर है। यह ऊँची नींव के धरातल से 169 फुट

---

1. वही,
2. वही

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऊँचा है।[1] इसके अगल-बगल के गर्भगृह 57 फुट ऊँचे हैं जो दुर्गा जी और शिव जी के गर्भगृह के ऊपर बनाए गए हैं। देखने में इन तीनों शिखरों का समूह बहुत ही भव्य और आकर्षक लगता है। मुख्य शिखर की बनावट अत्यन्त सुन्दर है, तथा पारम्परिक आकार का है। मन्दिर शिल्पशात्रानुसार इनके किनारों पर ग्रीवा तक आड़े कर्ण रथ बने हैं। जिनके बीच में अनेक भूमिवाले आमलक बने हैं। शिखर में तीन अरुश्रृंग हैं जो एक दूसरे के अन्दर हैं और क्रमशं छोटे होते गए हैं। सबसे भितरी और सबसे छोटे अरुश्रृंग के मूल पर रथिका है जिसके ऊपर इस अरूश्रृंग की ग्रीवा से एक सुन्दर घण्टा लटकता हुआ उत्कीर्ण किया गया है। तीनों उरुश्रृंगों में ग्रीवा, आमलक, चन्द्रिका, आमलसारिका और कलश उत्कीर्ण हैं।

सबसे ऊँचा अरुश्रृंग ग्रीवा से लगभग 10 फुट नीचे समाप्त होता है। चन्द्रिका के ऊपर आमलसारिका है और उसके ऊपर कलश है जो अपनी स्वर्णिम आभा से दूर से ही चमकता है। ग्रीवा के कलश के ऊपर के बीजापूरक तक की ऊँचाई 23 फुट है। अगल-बगल के दोनों शिखरों में केवल एक-एक अरुश्रृंग हैं जिसके मध्य में एक-एक सांकल से विशाल घण्टा लटकता है।

इन दोनों शिखरों के अतिरिक्त जहाँ शुकनासा होती है वहाँ भी एक छोटा शिखर है। महामण्डप के ऊपर शिखर नहीं है। किन्तु इसके चारों मुण्डेरों पर छोटे-छोटे शिखर बने हैं। सामने की ओर का शिखर कुछ बड़ा है। इन शिखरों से मन्दिर का बाह्य सौन्दर्य बढ़ गया है। प्रवेश मण्डप के ऊपर भी एक छोटा किन्तु, सुन्दर शिखर है।

मन्दिर के आन्तरिक भाग को संगमरमर की पट्टियों द्वारा आच्छादित किया गया है। इसके दीवारों में जगह-जगह फलकों में पौराणिक और ऐतिहासिक रंगीन चित्र या रेखा चित्र बने हैं, या उनमें उपदेश वाक्य उत्कीर्ण हैं। ये चित्र केवल पौराणिक कथाओं के ही नहीं बल्कि अनेक प्रेरक ऐतिहासिक घटनाओं के भी हैं। यथा-समर्थ रामदास जी द्वारा छत्रपति शिवाजी को भगवा ध्वज देना, गुरुगोविन्द सिंह जी बाज लिए हुए। गंगावतरण का दृश्य आदि। अवतारों और महापुरुषों के भी चित्र हैं जैसे दत्तात्रेय जी। इसी प्रकार प्रांगण में 10फुट ऊँचे दो स्तम्भ हैं जिन पर गीता के चुने हुए श्लोक अर्थ सहित अंकित किए गए हैं।

मंदिर के पीछे एक विशाल उद्यान है जिसमें नहरों के अतिरिक्त एक सुन्दर सरोवर भी है। इस उद्यान में प्राकृतिक सौन्दर्य दर्शाने के लिए गुफाएँ आदि भी बनी हैं। तथा स्थान-स्थान पर पत्थर या सीमेन्ट की छोटी-बड़ी मूर्तियाँ भी लगाई गई हैं। बीच-बीच में घास के छोटे-छोटे मैदान छोड़ दिए गए हैं।

इस प्रकार नागर शैली में निर्मित यह लक्ष्मीनारायण मन्दिर दिल्ली में हिन्दू धर्म का केन्द्र स्थल बन गया है। यह मन्दिर केवल दर्शन और पूजन का ही स्थान नहीं है बल्कि वह हिन्दू धर्म के इतिहास, उसकी पौराणिक कथनों तथा उपदेशों की शिक्षा देने का भी कार्य करता है।

---

1. वही, पृ. 51

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

निर्माण सामग्री एवं तकनीकी:–

ब्रिटिश कालीन स्थापत्य का मुख्य योजनाकार लुटियन का सम्बन्ध जीवनभर पत्थरों से रहा साथ ही भारतीय शैली और परम्परा से जितना उसका सम्बन्ध था उससे यह समझने में देर नहीं लगी कि गुलाबी रंग के बलुए पत्थर का यहाँ क्या परियोजन है जिससे यह नई दिल्ली के निर्माणों में बहुतायत में प्रयोग किया है विशेषकर राष्ट्रपति भवन और संसद भवन में। इसको मुगलों ने भी बृहद्रूप में अपने भवनों में प्रयोग किया था। इसी प्रकार हल्के क्रीम रंग के धौलपुरी बलुए पत्थर का भी राष्ट्रपति भवन में बृहद्रूप में प्रयोग किया था। वे दोनों ही पत्थर दिल्ली की जलवायु में पूरी तरह रच-बस गए थे। गुलाबी रंग के पत्थरों के साथ धौलपुर के क्रीम रंग के पत्थर का प्रयोग रंगों के विरोधाभास को दर्शाता है। गुलाबी रंग के पत्थरों का प्रयोग ऊँचे चबूतरों के निर्माण में किया गया है जबकि दीवारों और स्तम्भों में धौलपुरी क्रीम रंग के पत्थर का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार राष्ट्रपति भवन के छज्जों में क्रीम रंग के पत्थरों का प्रयोग करके आन्तरिक भाग को मुगल शैली में सजाया गया है। राष्ट्रपति भवन के दरबार हॉल को विभिन्न रंग के संगमरमर के कार्य से सुसज्जित किया गया है जिसमें से अधिकांश भारत के ही हैं। इसमें से सफेद संगमरमर मकराना और अलवर से मंगाया गया था, हरा संगमरमर बड़ौदा और अजमेर से भूरा संगमरमर मांखड़ से, पीला जैसलमेर से गुलाबी संगमरमर अलवर, मकराना और हरियाणा से लाया गया था केवल गहरे चाकलेटी रंग के संगमरमर इटली से मंगाये गए थे। इसके अतिरिक्त ईंट, लकड़ी सीमेण्ट और संगमरमर का प्रयोग किया गया है।

इस काल के निर्माण तकनीकी को देखने से पता चलता है कि जिस प्रकार लुटियन की कार्य योजना को एक जटिल विस्तृत रूप से बनाया गया था उसी प्रकार उसके हस्त निर्मित नक्शे को अंकगणितीय ज्यामितीय निर्देशों के बाद भी वास्तुशास्त्र को ध्यान में रखते हुए एक सुदृढ़ अनुपात में बनाया गया था। लुटियन के ज्यामितीय तकनीकी के रहस्यों को खोजते समय हमें उसके निर्माणों में वर्ग, वृत्त और समान आकार के त्रिभुज सामान्यतया मिलते हैं। इस प्रारूप को प्रारम्भ में आदर्श आयत का नाम दिया गया था जो लुटियन पहले भी अपने निर्माणों में कर चुका था। इस आदर्श आयत की लम्बाई और चौड़ाई इसमें लगे हुए दो समान आकार के त्रिभुजों से ली गई थी। इस आयत का लम्बाई वाला क्षेत्र उत्तर से दक्षिण और उससे छोटा चौड़ाई वाला क्षेत्र पूरब और पश्चिम विस्तृत है। इस आदर्श आयत में उत्कीर्ण वृत्त इस सम्पूर्ण योजना के न केवल केन्द्रीय वर्ग को प्रकाशित करता है बल्कि दरबार हॉल के उत्तर और दक्षिण में स्थित दो विशाल अहातों को भी परिभाषित करता है। ठीक इसी प्रकार एक दूसरा वृत्त जो मूल समान आकार के वृत्तों में उत्कीर्ण है, राष्ट्रपति भवन के चार भागों की स्थिति को प्रदर्शित करता है। इन चार भागों का प्रारम्भिक ज्यामितीय आकार आरम्भ में वर्गाकार था जो सीधे-सीधे मध्यवर्ग से जुड़े हुए थे। ये पाँच वर्ग और मूल त्रिभुज मिलकर इस सम्पूर्ण भवन का निर्माण करते हैं। लुटियन द्वारा प्रयुक्त विभिन्न ज्यामितीय नियमों में से एक प्रमुख है वह यह है कि इसके सभी कोण 60^0 के अन्दर ही निर्मित

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हैं जिसे लुटियन ने ए.एन कहा है। उसके अन्य दूसरे निर्माणों में भी इस तकनीकी को स्पष्टतः देखा जा सकता है। सबसे पहले बिल्कुल बाएँ कोने पर जो उसने निर्मित किया था उसका आकार 45.45^0 या $54.1/3^0$ में था। वहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि यह माप आयताकार निर्माण में प्रयोग किया गया था। इसी प्रकार यदि इण्डिया गेट की योजना को देखा जाय तो उसकी सम्पूर्ण योजना छोटी-छोटी ज्यामितीय आकृतियों का एकीकरण है। इसकी धुरी और प्रत्येक कोण वर्गों की एक पूर्ण व्यवस्था से परिभाषित है जो एक दूसरे से ऊपर बने हुए हैं। दूसरी तरफ इसके सतह को देखा जाए तो जो ज्यामितीय तकनीकी हमें दिखाई देती है वह यह है कि इसकी सतह दो या चार समान आकार के त्रिभुजों से निर्मित है जो एक दूसरे से आबद्ध हैं, लुटियन द्वारा इस प्रकार से त्रिभुजों के संयोजन से एक सुदृढ़ आयत का निर्माण होता है जिसे आदर्श आयत भी कहते हैं। इसके गोलाकार मेहराब का अनुपात 2:5 से 1 वर्गमीटर तक का घेरा है जो इसमें अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इस तकनीकी को देखने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ तक आते-आते लुटियन का यह निर्माण इस सन्दर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है कि इसमें स्तम्भों और भारतीय-इस्लामी शैली से मुक्ति पा ली गई है। यह उस दिशा में उठाया गया एक कदम था जो निर्माणों को अनुपात और भार से भी आकर्षक बना देता है।

निष्कर्षः-

इस प्रकार निष्कर्षतः ब्रिटिशकालीन स्थापत्य के विवेचन से ज्ञात होता है कि सन् 1911 में जार्जपंचम और महारानी के सिंहासनारोहण दरबार में भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली स्थानान्तरित की जाने की घोषणा की गई। यही निर्णय नई दिल्ली की स्थापना की नींव डाली और ब्रिटिश काल के स्थापत्य युग का आरम्भ हुआ। जिसका प्रारुप या योजना इडविन लुटियन नामक अंग्रेज आर्किटेक्ट ने दिया। इस तरह दिल्ली में कालोनियन शैली की नीव पड़ी। इस काल के भवनों का निर्माण तत्कालीन आवश्यकताओं और शैलियों को देखते हुए किया गया। लुटियन ने अपने भवनों में भारतीय इस्लामी शैली, जो उस समय प्रचलित थी, के साथ-साथ रोमनशैली का भी उपयोग किया जिसको तत्कालीन स्थापत्यों में देखा जा सकता है। लुटियन इस काल के स्थापत्यों को यूरोपीय शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप बनाना चाहते थे परन्तु तत्कालीन वायसराय ने उनको भारतीय संस्कृति के अनुरूप तथा भारतीय इस्लामी शैली, जो प्रचलिचित थी, के अनुसार दक्षिण दिल्ली में रायसीना पहाड़ी के क्षेत्र में निर्मित कराया। इस प्रकार इस काल में मिश्रित शैली का विकास हुआ जो कई शैलियों का मिला-जुला रूप हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास योग्य भूमि

श्रीचक्रधरकर

निवास योग्य स्थान व भूमि को 'वास्तु' कहते हैं, यह शब्द 'वस्' निवास धातु से 'तुण्' प्रत्यय करने पर बनता है।[1] जिस शास्त्र में भूमि तथा भवन में निवास सम्बन्धि अधिकतम सुविधा प्राप्ति के नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो, उसे वास्तुशास्त्र कहते हैं। आवास प्राणीमात्र की आधारभूत आवश्यकता है। कीट से लेकर पतङ्ग, सरिसृप, पशु-पक्षी तथा मानव सभी को आवास आवश्यक होता है। ये सब प्राणी अपने अपने सुविधा के अनुसार अपने बच्चों को सुरक्षित रखने के लिए बच्चों के जन्म से पहले आवास निर्माण करते हैं। पक्षी वृक्षों के कोटर में, सरिसृप एवं वन्य प्राणी पर्वत गुफाओं एवं कन्दराओं में। जलचर समुद्र, नदी, तलाब के किनारों पर और पालतू पशु मानव के आस-पास ही मनुष्य द्वारा बनायी गयी व्यवस्थाओं में निवास करते हैं। प्राणियों में मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अपनो आवास विधिवत निर्माण करता है। जो घर पत्नी, सन्तान तथा इष्ट मित्रों को सुख व आनन्द प्रदान करने वाला होता है घर वह उत्तम माना जाता है। घर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय को प्रदान करने वाला और सभी ऋतुओं में होने वाली आपदाओं से रक्षा करने वाला होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य परोपकारार्थ तथा परलौकिक सुख की इच्छा के लिए सार्वजनिक निवास, कूप, सरोवर, पाठशाला, चिकित्सालय और देवमन्दिर आदि का भी निर्माण करता है। निवासस्थान की आवश्यकता केवल मानव समुदाय को ही नहीं अपितु चराचर जगत में जन्म लेने वाले सभी प्राणीयों को होती है। सभी प्राणी अपनी-अपनी सापेक्ष आवश्कयताओं के अनुरूप गृह का निर्माण करते हैं। इस निर्माण में जीवन का समग्र सुख एवं सुरक्षा का भाव सन्निहित होता है। असुरक्षित जीवन जीना कोई भी प्राणी नहीं चाहता। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के अन्तर्गत गृहकर्त्ता के कल्याणार्थ प्रार्थना की गयी है। यथा–

हे वास्तोष्पते! आप हमें जगाएं। हमारे गृह में पुत्र-पौत्र आदि द्विपदों एवं गो अश्व आदि चतुष्पदों को निरोग एवं सुखी करें। जो धन हम आपसे मांगे, वह हमें प्रदान कीजिए।[2]

---

1. शब्दकल्पद्रुम चतुर्थ काण्ड पृ. 358 नई दिल्ली
2. ऋग्वेद 7/54/1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हे वास्तोष्पते! आप हमारे लिए कल्याणकारी धन का विस्तार-प्रसार करें। हे सोम हम आपकी कृपा से गौ तथा अश्वों के साथ निरोग रहें। आप पिता की तरह हमें सुरक्षा दें।[3]

हे वास्तोष्पते! हम आपसे सुखकर, रमणीय और ऐश्वर्ययुक्त स्थान प्राप्त करें। हमें प्राप्त और प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ धन-वैभव की आप रक्षा करें। हमें सदा कल्याणकारी साधनों-पदस्कों से सुरक्षित रखें।[4]

अथर्ववेद के गृहनिर्माण सूक्त में भी गृह के कल्पनार्थ वारतोष्पति से प्रार्थना की गयी है यथा—घर में सब प्रकार का अन्न, रसपान का साधन, जल आदि सदा उपस्थित हो। घर प्रमाण से बनाया जाये। सब प्रकार का अन्न उस में सिद्ध हो। यह घर कभी किसी का नाश नहीं कर सकता।[5]

यह घर दो, चार, छः, आठ या दस कक्षा वाला होता है, जैसा पेट में गर्भ सुरक्षित रहता है उसी प्रकार में इसके आश्रय में रहता हुआ सुरक्षित रहूं।[6]

घर के पश्चिम की ओर मुख करके मनुष्य प्रवेश करे। घर में अग्नि और जल सदा रखा जावे। ये ही दो पदार्थ गृहस्थाश्रम के यज्ञ को सिद्ध करने वाले हैं। इस प्रकार का घर सदा सुख देने वाला होता है।[7]

मैं घर में ऐसा जल भरता हूँ जो स्वयं रोग उत्पन्न करने वाला न हो और जो रोग को दूर करने वाला हो। इस रीति से मैं घर की प्रसन्नता बढ़ाता हूँ। ऐसे घर में मनुष्य निवास करें।[8]

इस प्रकार के घर में रहने से संसार का भार बहुत हल्का होगा। जिस प्रकार कुलवधू का संरक्षण और पोषण लोग करते है उसी प्रकार घर की रक्षा करनी चाहिए और इस घर में उत्तमोत्तम पदार्थ लाकर रखने चाहिए।[9]

घर की चारों दिशाओं और उपदिशाओं में जो सुन्दर दृश्यों की महिमा होगी, उसकी सत्कार पूर्वक प्रसन्नता बढ़नी चाहिए। उत्तम प्रशंसनीय पृथ्वी, आप, वायु, चन्द्र, सूर्य, आदि देवों की प्रसन्नता इस घर पर रहेगी, ऐसा आचार व्यवहार करना चाहिए।[10]

---

3. तत्रैव 7/54/3
4. तत्रैव 7/54/3
5. अथर्ववेद, कांड 9 गृहनिर्माणसूक्त 3 श्लोक 16
6. तत्रैव 31
7. तत्रैव 22
8. तत्रैव 23
9. तत्रैव 24
10. तत्रैव 25/31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वासयोग्य भूमि का वर्णन–

जिस भूमि पर धातुओं का भण्डार हो, जहाँ पर कुंज, गुल्म, लताएँ, पेड़-पौधे पर्याप्त संख्या में विद्यमान हो, जहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की श्रृंखलाएँ हों और जो चारों ओर प्रसारित हो जहाँ पर सुन्दर-सुन्दर जलाशय हो जिसमें स्वादिष्ट पेय जल भरपूर हो और वैसे ही जहाँ नदियों के तटों पर नाना प्रकार की वृक्षावलियाँ शोभित हों।[11] जहाँ पर सुभग सुन्दर कोयलों के कूकने के आलाप-स्वर हो और मधुमक्खियों के छत्ते हों, जहाँ विचित्र तरह के फल-फूल वाले वनों की शोभा हो।[12] जहाँ कमलदलों की श्रृंखलाओं पर मधु संचय करने में सचेष्ट रहने वाले भौरे गुंजार करते हों, जहाँ खाइयाँ व जोहड-नाडी-तलाई-पोखर भी सरोवरों के समान पर्याप्त जलसिन्धु की भाँति शोभित हों।[13] जहाँ निरन्तर सुगन्धि, सहित, स्वादिष्ट, शीतल, सुन्दर कोंपलों, अंकुरों से धान्य को उत्पन्न करने वाले खेत हों और वे सीमान्त पर बाड आदि से पूरी तरह रक्षित हो जो भूमि कंकड़, पत्थरों और दीमक की बाँबियों से रहित एवं निष्कण्टक हो, पर्याप्त रूप से जौ का उत्पादन करने वाली खेती हो गोचर भूमि हो।[14] जो भूमि लहलहाती हो, भूमि में स्वादिष्ट, शीलत जल हो जो दुष्टजनों से कभी पदाक्रान्त न हो, जहाँ पर नाना प्रकार के गृह बसाएँ गए हों और जहाँ क्षोभजन्य त्रास न हो और भूमि में मन मुदित हो।[15] उपयुक्त गुणों, लक्षणों से युक्त श्रेष्ठतम भूमि पर यथास्थल राजा को अपना जनपद, खेट, ग्राम्य पुर का निवेश करना चाहिए।[16] पृथक्-पृथक् लक्षणों से युक्त सोलह प्रकार की भूमि होती है।

इन सोलह भूमियों के नाम क्रमशः हैं– १. बालिशस्वामिनी, २. भोग्या, ३. गोचर रक्षिणी सीता, ४. अपाश्रयवती, ५. कान्ता, ६.खनिमती, ७. आत्मधारिणी, ८. वणिक् प्रसाधिता, ९. द्रव्यसम्पन्ना, १०. अमित्रधातिनी, ११. आश्रेणीपुरुसा, १२. शक्य-सामन्ता, १३. देवमातृका, १४. धान्यशालिनी, १५. हस्तिवनोपेता, १६. सुरक्षा है।[१७]

ऐसी भूमि जो बालिश राजा द्वारा शासित की जा सकती हो और जहाँ पर रहने वाले लोग भद्र हो अर्थात् समझदार प्रजा व नासमझ राजा हो, वह भूमि बालिशस्वामिनी कही जाती हैं।[१८]

---

11. समराङ्गणसूत्रधारः, अध्याय 8, श्लोक 27/28, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2011
12. तत्रैव श्लोक 29
13. तत्रैव श्लोक 30
14. तत्रैव श्लोक 31/32
15. तत्रैव श्लोक 33/34
16. तत्रैव श्लोक 35
17. तत्रैव श्लोक 7/9
18. तत्रैव श्लोक 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

जहाँ भूमि करों का वितरण अधिक होता हो और जहाँ की प्रजा बहुत धनवान् हो जो कि करों को भर सकती हो, वह भूमि भोग्या कही जाती है।[१९]

जहाँ पहाड़ों के मध्य में अथवा बाहर नद और नदियाँ क्षेत्र की सीमा का विभाजन करती हों, ऐसी भूमि सीता गोचर रक्षिणी कही जाती है।[20]

जहाँ पर नदियों का प्रवाह हो और पहाड़ों व वनादि के अन्तर्गत प्रवेश करते हुए लोगों के मन में भय बना रहता हो, वहाँ बसने वालों को कहीं उपयुक्त स्थली नहीं मिलती हो, वह अपाश्रती भूमि होती है।[21]

जहाँ पर वन, उपवन वाले पहाड़ों, सरिता के कुंज बड़े मनोहर हो और जहाँ लोग निवास के लिए सहज ही अभिलासा करते हों, वह भूमि कान्ता कही जाती है।[22]

जिस भूमि पर सुवर्ण, रजत आदि सदैव मिलते हों और उन धातुओं के लवण-पिण्ड पर्याप्त मिलते हों, वह भूमि खनिमति कही जाती है। जहाँ पर दण्ड, कुश, न हो, कर वसूली अधिक न हो और जो भूमि पर्याप्त लोकाश्रय गुणवाली हो, वह आत्मधारिणी कही जाती है।[23]

वणिक् प्रसाधिता भूमि वह होती है जहाँ प्रसिद्ध क्रय विक्रय करने वाले, व्यापार के साधन उपलब्ध हों और वैश्य समुदाय के लोग बहुतायत से मिलते हों।[24]

द्रव्यवती भूमि वह होती है जहाँ शाक, शागवान, अश्वकर्ण, खादिर-खेर श्रीपर्णी - गम्भीरी, स्यन्दन-तनिश, असन-बीजक, बांस वेत्र सरकण्हा आदि वनस्पति पाई जाती है।[25]

जहाँ के निवासी साधु-सज्जन लोग हों और जिन्होनें बलात्, हठादि का त्याग कर अपने भूमि को न्यायपूर्वक विभाजित कर अपना वास कर रखा हो एवं जिस से उन्हें मित्रों की सहायता मिलती रहती हो, वह भूमि अमित्रघातिनी होती है।[26]

---

19. तत्रैव श्लोक 11
20. तत्रैव श्लोक 12
21. तत्रैव श्लोक 13
22. तत्रैव श्लोक 14
23. तत्रैव श्लोक 15
24. तत्रैव श्लोक 16
25. तत्रैव श्लोक 17
26. तत्रैव श्लोक 18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आश्रेणीपुरुषा भूमि वह होती है जहाँ पर कोई बन्दी या कैदी नहीं हो और अपना कोई बन्धक नहीं हो जो कि पड़ोस के किसी राजा के किले की शरण में जाना चाहता हो तथा जहाँ पर विनीत एवं सभ्य जन रहते हों।[27]

जिस भूमि पर सामन्तगण मन्त्र एवं उत्साह से विहीन होकर रहते हों, उसको शक्यसामन्ता भूमि कहते हैं।[28]

देवमातृका भूमि वह होती है, जहाँ के कृषक, खेतीहर लोग नदियों के जल पर आश्रित रहकर कृषिकर्म, धान्योत्पादन में लगे रहते है और जहाँ अनपेक्षित बादल बरस जाते हों।[29]

जिस भूमि पर बाग-बगीचे, कुंज आदि अधिक हो, जहाँ पर बीजों का उत्पादन बिना किसी विशेष श्रम के, सहजता से हो जाता हो और जहाँ किसान खेतों से बहुत उत्पादन करते हों, वह भूमि धान्या या धान्यशालिनी कही जाती है।[30]

ऐसी भूमि जिसकी सीमा पर पर्वत हो और जहाँ हाथियों के विहार योग्य वनारण्य हों, ऐसी राजा की हस्तिसेना बढ़ाने वाली भूमि हस्तिवनोपेता कही जाती है।[31]

जो भूमि सदैव विषमतला हो और इसी कारण जो शत्रुदलों के लिए सदा ही दुर्जेय, दुर्भेद्य हो, विषम पर्वतों एवं नदियों के फलस्वरूप गुप्त या रक्षित रहने वाली भूमि सुरक्षा संज्ञक होती हैं इस प्रकार जहाँ उन सोलह प्रकारकी भूमियों के लक्षणादि का यथावत् वर्णन किया गया है।[32] गृह-भवन निर्माण व भूमि का चयन करते समय मृतिका की गुणवत्ता का विचार करना चाहिए। भूमि दोष रहित हो, चिकनी हो। इस तरह उचित आकार की भूमि में गृह व भवन निर्माण करना चाहिए। मिट्टी के गुण-दोष का विचार उसके रंग, गन्ध एवं स्वाद आदि के अनुसार किया जाता है। वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण के लिए भूमि को इन आधारों पर चार श्रेणियों में बाँटा गया है–

ब्राह्मणी– यह सफेद रंग की, कुशा युक्त, मधुर स्वाद एवं सुगन्धित मिट्टी वाली होती है। यह ब्राह्मणी भूमि सबसे अच्छी तथा शुभ मानी जाती है। प्राचीन वास्तुग्रन्थों में यह सब प्रकार के सुखों को देने वाली बतलायी गयी है।[33] यह भूमि ब्राह्मण, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, नैतिक एवं

---

27. तत्रैव श्लोक 19
28. तत्रैव श्लोक 20
29. तत्रैव श्लोक 21
30. तत्रैव श्लोक 22
31. तत्रैव श्लोक 23
32. तत्रैव श्लोक 24
33. बृहद्वास्तुमाला श्लोक 27/28/29/30/31/32 पृ. 7.8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आध्यात्मिक लोगां को निवास के लिए श्रेष्ठ मानी गयी है।

क्षत्रीया– उसकी मिट्टी लाल रंग की होती है, जिसमें रक्त जैसी गन्ध होती है। इसका कसैला स्वाद होता है और इस पर शर आदि उगते हैं। यह क्षत्रिय एवं शासक वर्ग के आवास के लिए प्रशस्त मानी गयी है।[34] यह क्षत्रीया भूमि ज्ञान, बल, सम्मान एवं राज्य देने वाली बतलायी गयी है। इस भूमि पर शासक मन्त्री, राज्याधिकारी, राजनेता, सेना, पुलिस एवं प्रशासन के उच्चाधिकारियों के आवास तथा कार्यालय बनाना शुभ माना जाता है।

वैश्या– इस भूमि का रंग हरीतिमा लिए हुए या पीला होता है। इस में अन्न जैसी गन्ध होती है और इसका स्वाद कुछ खट्टा होता है। इस मिट्टी में कुश एवं कास उगते हैं।[35] यह भूमि व्यापारियों, व्यावसायियों, दुकान, शोरूम, व्यावसायिक संस्थानों, बैंकों, उद्योगों एवं व्यावसायिक केन्द्रों के लिए अच्छी मानी गई है। प्राचीन वास्तु ग्रन्थों में इस भूमि को धनदायक माना गया है।

शूद्रा– इस भूमि का रंग काला होता है। इसकी मिट्टी में मदिरा जैसी गन्ध होती है। इसका स्वाद कड़वा होता है और इसमें सब तरह की घास उगती है। यह भूमि अच्छी नहीं मानी जाती।[36]

भूमि के दोष– गृह और प्रसाद, देवालयों आदि के लिए जो भूमि काम में ली जाती है। उनके बारे में क्रम पूर्वक बताया जा रहा है। जो भूमि मध्य में खड्डा है वह मध्य प्लवा भूमि कहलाती है। यदि उसमें चारों ओर से पानी आके उस खड्डे में एकत्र होता है, वह भूमि आवास के लिए निकृष्ट होती है। ऐसी 'मध्यवत्तका' भूमि कनिष्ठा कहलाती है यह भूमि में जो निवास करते हैं वह भूमि उनकी सर्वनाश करती है। जो भूमि वृक्ष व पेड़ों से रहित है अर्थात् उजाड़ हो कराल. कठोर से युक्त हो जिसका मस्तक भाग बीच में उन्नत हो, ऐसी भूमि सर्वदा वर्जन करना चाहिए।[37] क्योंकि ऐसी भूमि पर चौरों का भय सर्वदा बना रहता है और इसके रख-रखाव में भी बहुत द्रव्य का नाश होता है। ऐसी उच्छिन्ना नतोन्नता भूमि गृह व भवन योग्य नहीं होती है।[38] जिस भूमि में अज-बकरी ऊँट और गधे विचरण करते हों, जो भूमि शल्य युक्त हो कण्टली हो, जगह-जगह कटी-फटी और ऊसर भूमि हो, वे सब शोक कारण होती है ऐसी भूमियाँ गृह व भवन

---

34. तत्रैव श्लोक 27/28/29/30/31/32 पृ. 7. 8
35. तत्रैव श्लोक 27/28/29/30/31/32 पृ. 7. 8
36. तत्रैव 27/28/29/30/31/32 पृ. 7.8
37. अपराजितपृच्छा सूत्र 51/25/26 प्रकाशक सम्पादक एवं व्याख्याकर्ता डॉ. श्रीकृष्णजुगनू, प्रो. भंवरशर्मा शक्तिनगर, दिल्ली 110007 प्रथम संस्करण वर्ष 2011
38. अपराजितपृच्छा सूत्र 51/27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के लिए वर्जनीय कही गई है।[39] जो भूमि वर्षा जल रिक्त हो जाने पर, कीचड़-मिट्टी के सुख जान से तीन प्रकार से स्फुरित हो जाती है प्रथम मिट्टी फट जाती हो फिर उसके भूरे वर्ण की हो और उसमे गम्भीर भ्रमघटिका अर्थात् चक्र जैसे बने पाए जाए, तो ऐसी भूमि त्रयम्बक की सिद्धि कराने वाली मानी जाती है।[40] इस तरह प्राचीन वास्तुग्रन्थों में कहा गया है कि गृह व भवन निर्माण के लिए भूमि की मिट्टी का मुख्य गुण उसका चिकनापन एवं ठोस होना चाहिए। उसके विपरीत जो मिट्टी रेतीली या पोली हो, उस पर भवन नहीं बनाना चाहिए। इत तरह बृहद्वास्तुमाला में भी कहा गया है।

स्फुटिता च सशल्या च वल्मीकाऽऽरोहिणी तथा
दूरतः परिहर्त्तव्या कर्त्तुरायुर्धनापहा।।[41]

स्फुटिता भूमि मरण कारिणी, उषरा भूमि धन नाशिनी, शल्ययुक्ता भूमि सर्वदा क्लेश दायिनी, विषमा भूमि शत्रुवर्धिनी, श्मशान भूमि भय दायिनी, वल्मीक युक्ता भूमि विपद्दायिनी, कुलनाश, कूर्माकार भूमि धनक्षय करती है।

स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी।
सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुबर्धिनी।।

चैत्ये भयं गृहकृतो वल्मीके स्वकुले विपत्।
गर्तायातु विनाशः स्यात् कूर्माकारे धनक्षयः।।[42]

प्रशस्त भूमि– भवन निर्माण के लिए प्रशस्त भूमि का विवेचन करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में बतलाया है, कि जिस भूमि की मिट्टी में अच्छी औषधि, वृक्ष एवं लताएँ उगती हो, जिसकी मिट्टी मधुर, चिकनी, सुगन्धित एवं समतल हो और जिस भूमि पर थके-हारे व्यक्ति को बैठने से शान्ति मिले– ऐसी भूमि पर मकान बनाना चाहिए। यथा–

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा स्निग्धा समानसुषिरा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनिश्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।[43]

वस्तुतः भवन निर्माण के लिए वह भूमि अच्छी होती है, जिसकी मिट्टी उपजाऊ, चिकनी ठोस, सुगन्धित एवं समतल हो। ऊँची-नीची, खार-खड्डे वाली, रेतीली या पोली मिट्टी वाली

39. अपराजितपृच्छा सूत्र 51/28
40. अपराजितपृच्छा सूत्र 51/29
41. बृहद्वास्तुमाला श्लोक 79 पृ. 16
42. बृहद्वास्तुमाला श्लोक 80/81 पृ. 16
43. बृहत्संहिता

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भूमि पर कभी भी मकान नहीं बनाना चाहिए। जिस भूखण्ड का आकार आयताकार या वर्गाकार हो, चारों ओर मार्ग हो, प्रत्येक कोना समकोण हो, भूमि का ढलान पूर्व या उत्तर में हो, वेध न हो और पश्चिम एवं दक्षिण दिशा में पहाड़, चट्टान टीले, ऊँचे वृक्ष हों। जिस भूखण्ड का आकार वर्गाकार, वृताकार या आयताकार हो, उसके पूर्व, उत्तर तथा पश्चिम में सड़क हो, पश्चिम की सड़क कुछ उची हो, ईशानकोण में विस्तार या वेध हो और आस-पास का वातावरण मनोहर हो। जिस भूखण्ड का आकार शुभ हो, उसके पूर्व एवं उत्तर में सड़क हो, पूर्व या उत्तर में वेध, दक्षिण व पश्चिम भाग ऊँचा हो, पूर्व या उत्तर में नदी, तालाब, बावड़ी या जलाशय हो और पूर्व ढलान हो। जिस भूखण्ड का आकार शुभ हो, उत्तर व पश्चिम में सड़क हो, उत्तर में ढलान हो, पश्चिम की भूमि उन्नत हो, उत्तर-पश्चिम कोने पर वेध हो, पश्चिम में ऊँचे भवन या पेड़ हों। जिस भूखण्ड का आकार भद्रासन, चतुष्कोण या षड्कोण हो, जिसके पूर्व व पश्चिम में सड़क हो, पश्चिम सड़क थोड़ी ऊँची हो, भूमि का ढलान पूर्व की ओर हो और पूर्व की ओर समुद्र, नदी या जलाशय हो। जो आवासीय भूखण्ड गोमुखी या व्यापारिक भूखण्ड सिंहमुखी हो, उसके उत्तर व दक्षिण में सड़क हो, दक्षिणी सड़क कुछ ऊँची हो, भूमि का ढलान उत्तर की ओर हो, उत्तर में खुला और दक्षिण में ऊँचे भवन या वृक्ष हों। जो भूखण्ड अष्टभुजाकार हो, उसके उत्तर या पूर्व में सड़क हो, भूमि का ढलान ईशान में हो, ईशान कोण पर वेध हो और पश्चिम में ऊँचे भवन या वृक्ष हों जिस भूखण्ड का आकार शुभ, ईशान में विस्तार एवं खुलापन पूर्व, पश्चिम या उत्तर में सड़क हो, वायव्य कोण पर पश्चिम की ओर से या आग्नेय कोण पर दक्षिण की ओर से वेध हो और सामने खुला मैदान हो।[44]

जिस भूखण्ड का आकार शुभ हो, जिसके पश्चिम में मार्ग, पूर्व में ढलान और उत्तर में ऊँचे भवन या वृक्ष हों। जिस भूखण्ड का आग्नेय कोण पर पूर्व की ओर या वायव्य कोण पर उत्तर की ओर कटान हो, जिसके उत्तर, दक्षिण या पूर्व में मार्ग हो। जिस भूखण्ड के पूर्व में मार्ग तथा दक्षिण, पश्चिम में ऊँचे भवन, पहाड़ या वृक्ष हों। जिस भूखण्ड के उत्तर में मार्ग, इशान में विस्तार, शुभ आकार एवं समीप में देवालय, गिरजाघर, मस्जिद या गुरूद्वारा हो। पृथ्वी पर प्राणीमात्र के जीवन में आश्रय का सर्वाधिक महत्त्व है।

---

44. वास्तुशास्त्र का परिचय-पाठ्यक्रम-राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नारद संहिता में वास्तु विधान

रविन्द्र उनियाल

वैदिक धर्म में गृह निर्माण को अति पुनीत माना गया है। जीवन में गृह निर्माण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गृह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को देने वाला है। आचार्य वराह मिहिर ने गृह निर्माण के महत्त्व को बताते हुए लिखा है–

अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां। धत्ते श्रियं किमुत शाश्वत मन्दिरेषु।।[1]

पथिक को मार्ग में सुख-साधन उपलब्ध होने पर आनन्द की प्राप्ति होती है तो क्यों नहीं एक सद्गृहस्थ को, उसके जीवन पथ में साधन सम्पन्न उत्तम गृह अधिक आनन्द को देने वाला होगा। पुराणों में तो गृह के बिना गृहस्थाश्रम धर्म का पालन असम्भव व निष्फल बताया है।[2] इस सन्दर्भ में मनु ने भी प्रत्येक दृष्टि से प्रथम तीन आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को ही श्रेष्ठ बताते हुए लिखा है–

यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्येष्ठाश्रमो गृही।।[3]

धर्मशास्त्र में गृहस्थाश्रम जीवन को 25 से 50 वर्ष की आयु तक बताया है। इस आयु में व्यक्ति भौतिक, शारीरिक, मानसिक, धार्मिक, आध्यात्मिक कार्यों के फल को अर्जित कर उन्नति करता है। साथ ही भौतिक विषयों का उपयोग, दाम्पत्य जीवनयापन, वंश-प्रतिष्ठा, धनोपार्जन, सन्तानोत्पत्ति आदि को विशिष्ट कर्म बताया है। इसीलिए तो गृहस्थाश्रम को सभी कर्मों को करने में सक्षम बताते हुए लिखा है। **"सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।"**[4] पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए बताए गये कर्मों के लिए गृहस्थाश्रम व्यवस्था मुख्य साधन है। यथा–

दाराग्रयोऽथातिधेय इज्याश्राद्धक्रिया प्रजाः।
इत्येषां वै गृहस्थस्य साक्षाद् धर्म संग्रहः।।[5]

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 88
2. गृहस्थस्य क्रिया सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं बिना।
   यतस्तस्माद् गृहारम्भ कर्म चात्रभिदीयते।। –भविष्यपुराणे उद्धतार वास्तुसारसंग्रहः प्राक्कथन, पृ. 2
3. मनु स्मृति, 3.78
4. रघुवंश 5.10
5. वायुपुराणे 8.18-182

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहस्थाश्रमी स्त्री पुत्रादि सुखों के साथ ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति भी करता है।[6]

गृहस्थाश्रम के सभी कर्म गृह के बिना सम्पन्न करना सम्भव नहीं हो पाता और दूसरों के घर में किया गया श्रोतस्मार्तादिक शुभ कर्म भूमीश को सिद्धि देने वाले होते हैं कर्त्ता को इस शुभ कर्म का फल नहीं मिलता है।[7] वसिष्ठ ऋषि ने गृहास्थाश्रम की श्रेष्ठता के प्रसंग में लिखा है कि जिस प्रकार सभी नदी, नाले, झरोखे आदि अन्ततः सागर में ही गिरते हैं और सभी प्राणियों के बच्चे माता पर आश्रित होकर जीते है। उसी तरह सभी भिक्षुजन-गुरुकुल-पशु-जन्तु आदि भी गृहस्थ आश्रम पर ही आश्रित होते हैं।[8] तभी तो कहा है-"**धन्योगृहस्थाश्रमः**"।

गृह निर्माण का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण व पुनीत होने के साथ ही कठिनाइयों से भी परिपूर्ण है। सभी तो दत्तात्रेय ने सर्प को गुरुमान कर गृहनिर्माण के कार्य से सन्यास ले लिया था। मात्र पत्थर-मिट्टी व काष्ठादि से गृह का आकार देने से गृह गृहस्थ के सुखों को देने वाला नहीं होता। अपितु गृह बिना सम्यक् वास्तुविन्यास एवं शान्ति के गृहवासियों को रोग, शोक, दरिद्रता, अकल्याण व विनाश को देने वाला होता है। जिस प्रकार सुन्दर गुणों वाली सुशील व सुलक्षणा स्त्री से विवाह के पश्चात् व्यक्ति क्रमशः घर-परिवार-कुटुम्ब या वंश से निरन्तर समृद्ध होता जाता है। उसी प्रकार मृण्ण-पाषाण निर्मित भवन में वास्तु के उपयोग हो जाने से निरन्तर समृद्ध होकर व्यक्ति अन्त में परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने वाला होता है।

सृष्टि के कल्याण के लिए ब्रह्मा ने पृथक् से अथर्वेद के उपवेद वास्तुशास्त्र की रचना की। जिसे स्थापत्य वेद नाम दिया गया। स्थापत्य वेद का प्रयोजन निवास योग्य स्थापना से ही है। स्थापत्य वेद की रचना के पश्चात् कालान्तर में वास्तु के अनेक आचार्य हुए। अग्नि पुराण[9] के अनुसार वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्यों की संख्या 18 प्राप्त होती हैं। मत्स्यपुराण[10] के अनुसार नारद को

---

6. स्त्रीपुत्रादिभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्
   जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बंघर्मापहम्।
   वापीदेवग्रहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
   गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधा श्रीविश्वकर्मादयः।। वास्तुराजवल्लभ, 1/5
7. परगेहे कृता सर्वा श्रोत स्मार्त क्रिया शुभा।
   न सिद्धयन्ति यतस्तस्मात् भूमीशः फलमश्नुते।। -वास्तुरत्नाकर, 1.7-8 5, मत्स्यपुराण, 252.2
8. यथा नदी नद्या सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितः
   एवं आश्रमिणः गृहस्थे यान्ति संस्थितः।
   यथा मातरमाश्रित्या सर्वे जीवन्ति जन्तवः
   एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः।। उद्धृतम् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग दिग्दर्शिका, पृ. 19
9. अग्निपुराणे- 39.1-5
10. भृगुरत्रिर्वशिष्टश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
    नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्ष पुरन्दरः।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रमुख वास्तु के आचार्यों में माना गया है इनका नारद संहिता के नाम से संहिता ग्रन्थ है नारद संहिता का एक प्रकाशन वर्तमान में उपलब्ध हो पाया है, जिसमें वास्तु विषयक तीन अध्याय उपलब्ध होते हैं, जो वास्तु के अध्येताओं के लिए ज्ञान में अभिवृद्धि कारक हैं। नारद संहिता में वास्तु विषयक सामग्री अधिक न होने से लेख में सभी पहलुओं का विस्तृत विवेचन सम्भव नहीं है। अतः सामग्री को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है।

भूमिशोधन–

नारद संहिता में ज्योतिष के संहितास्कन्ध के अधिकांश विषय वर्णित हैं नारद संहिता वास्तु व शिल्प के अलावा प्रकृति-पर्यावरण एवं कृषि-वाटिका के मूलभूत ज्ञान से सम्बद्ध है क्योंकि भूमि परीक्षण व उसकी गुणवत्ता आदि का अध्ययन वास्तु के साथ-साथ सभी विषयों के लिए परमोपयोगी है। अतः भूमि परीक्षण के विविध प्रकार नारद संहिता में बताए गये हैं।

शहर, ग्राम, नगर तथा गृह के निर्माण में वर्ण-गंध-रस-प्लव आदि के द्वारा भूमि की परीक्षा करनी चाहिए। यथा–

निर्माणे पत्तने ग्रामे गृहादीनां समासतः।
क्षेत्रमादौ परीक्षेत गन्धर्ववर्णरस प्लवैः।।[11]

ब्राह्मणों के लिए श्वेत वर्ण वाली भूमि तथा शहद की भांति गंध वाली भूमि, क्षत्रिय के लिए रक्तवर्णी व पुष्प की तरह गंध वाली, वैश्य के लिए हरित वर्ण व अम्ल गंध वाली और शूद्र के लिए कृष्ण वर्ण एवं मांस की गंध वाली भूमि शुभ फल को देने वाली बताई गयी है। यथा–

मधुपुष्पाम्लपिशितगन्धान् विप्रानुपूर्वकम्।
सितरक्तेश हरित कृष्णवर्ण यथा क्रमात्।।[12]

श्वाद और प्लव के आधार पर भी भूमि परीक्षण करना चाहिए। जिसमें ब्राह्मणों के लिए मधुर स्वाद वाली, क्षत्रियों के लिए कटु स्वाद वाली, वैश्यों के लिए तिक्त स्वाद वाली और शूद्रों के लिए कषाय स्वाद वाली भूमि शुभ होती है। इसके पश्चात् प्लव के द्वारा भी परीक्षण बताया है। चारों वर्णों के लिए ईशान, पूर्व, उत्तर, प्लव भूमि उत्तम होती है। अन्य सभी दिशाओं की प्लवा भूमि अशुभ फल देती है।

ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
बासुदेवो अविरुद्धश्च तथा शुक्र बृहस्पती।।
अष्टादशै ते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।। –मत्स्यपुराण- 252.2-4

11. नारदसंहिता वास्तु लक्षणाध्याय श्लोक-1
12. नारदसंहिता वास्तु लक्षणाध्याय, श्लोक-2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मधुरं कटुकं तिक्तं कषायश्च रसाः क्रमात्।
अत्यन्तं वृद्धिदं नृणामीशान प्रागुदक प्लवम्॥
अन्यं दिक्षुप्लवं तेषां शश्वदत्यन्त हानिदम्॥[13]

चतुवर्ण भूमि परीक्षण चक्र

वर्ग	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
वर्ण	श्वेत	रक्त	कृष्ण	हरित
गंध	शहद	पुष्प	मांस	अम्ल
रस	मधुर	कटु	कषाय	तिक्त
प्लव	ई-पूर्व-उत्तर	ई.पूर्व-उत्तर	ई-पूर्व-उत्तर	ई-पूर्व-उत्तर

जिस भूमि का परीक्षण करना हो उसके स्वामी के हाथ से एक हाथ लम्बा, चौड़ा और गहरा गड्ढा खोदकर पुनः उसी मिट्टी से भरना चाहिए। और यदि मिट्टी शेष बचे तो शुभ व वृद्धिदायक, समान रहे तो मध्यम व कम हो जाय तो अशुभ या हानिकारक होती है। यथा–

तत्र कर्ता हस्तामात्रं खनित्वा तत्र पूरयेत॥
अत्यन्त वृद्धिरधिके हीने हानिः समेसयम्॥[14]

एक अन्य प्रकार से भूमि परीक्षण विधि यह है कि गड्ढे की मिट्टी को निकाल कर सायंकाल जल से भर दें। प्रातः काल में देखने पर यदि जल शेष रहे तो भूमि उत्तम, कीचड़ शेष रहे तो मध्यम व सूख कर दरार पड़ जाय तो भूमि वास योग्य नहीं हाती है। यथा–

तथा निशादौ कृत्वा तु पानीयेन प्रपूरयेत्।
प्रतिर्दृष्टे जले वृद्धिः समं पंके व्रणे क्षयः॥[15]

दिङ् निर्धारण

ज्योतिष शास्त्र दिग्–देश और काल का अध्ययन करता है ये त्रिप्रश्न हैं।[16] दिङ्ज्ञान वास्तु शास्त्र का आधार है। अतः दिङ्निर्धारण के बिना वास्तुशास्त्र का अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता है।

13. बृहद्वास्तुमाला- 1-30
14. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो.-5
15. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो.-6
16. सूर्य सिद्धान्त त्रिप्रश्नाधिकार, श्लो. 1-6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एवं लक्षण संयुक्ते क्षेत्रे सम्यक् समीकृते
दिक्साधनाय तनमध्ये समे मण्डलमालिखेत्।।
पूवोक्तलक्षण संयुक्ते तन्मध्ये स्थापयेत्ततः।।[17]

समतल भूमि में दिक् साधन के लिए मण्डल बनाना चाहिए। मण्डल के केन्द्र में शंकु को स्थापित करें प्रातः व सायंकालीन छाया मण्डल को जहाँ स्पर्श करें। वहाँ उन दोनों पूर्वापर बिन्दुओं को परस्पर मिलाना चाहिए। उसके पश्चात् शंकु मूल से इस पूर्वापर रेखा पर एक लम्ब डालना चाहिए। यह लम्ब रेखा माम्योत्तर होगी। इस प्रकार क्रमशः पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं का निर्धारण कर दिशा ज्ञान करना चाहिए।

चतुर्दिक अष्ठद्वारों का फल

पूर्वोक्त रीति से शोधी गयी भूमि में पूर्वादि चारों दिशाओं में आठ-आठ द्वार निर्धारित करें फिर जिस फल की प्राप्ति की कामना हो उसी स्थान पर गृह का द्वार बनाना चाहिए।[18] चतुर्दिक 8-8 द्वार होने से 32 द्वार हो जाते हैं प्रत्येक द्वार का फल निम्न सारिणी से ज्ञान किया जा सकता है।

चतुर्दिक अष्टद्वार फल

द्वार	1	2	3	4	5	6	7	8
पूर्व द्वार फल	हानि	दरिद्रता	धनलाभ	राज्यलाभ	धनलाभ	बड़ी चोरी	अति क्रोध	भय
दक्षिण द्वार फल	निधन	बन्धन	भय	द्रव्य	धन	आरोग्य प्राप्ति	व्याधि वृद्धि	दरिद्रता भय
पश्चिम द्वार फल	पुत्र हानि	शत्रु वृद्धि	लक्ष्मी प्राप्ति	धनागम	सौभाग्य	अति दुख	दुख	शोक
उत्तर द्वार फल	कलत्र हानि	दरिद्रता	हानि	धन लाभ	धनागम	सम्पत्ति वृद्धि	महाभय	रोग

17. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 6-10
18. आयामेषु चतुर्दिक्षु प्रागादिषु च सत्स्वपि।
अष्टाष्टौ च प्रतिदिशं द्वाराणि स्युर्यथाक्रमात्।।
प्रदक्षिणक्रमात्तेषामामानि च फलानि वै।
हानिरैस्वं धनप्राप्तिनृपपूजामहद्धनम्।।
अतिचौर्यमतिक्रोधो भीतिर्दिशिशचीपतेः।
निधनं बन्धनं भीतिरर्थाप्तिधनवर्धनम्।।
अनातङ्कं व्याधिभयं ि नःसत्वं दक्षिणादिशि
पुत्रहानिः शत्रुवृद्धिलक्ष्मींप्राप्तिर्धनागमः।।
सौभाग्यमतिदौभाग्यं दुःखं शोकश्च पश्चिमे।
कलत्रहानिनिःसत्वं हानिर्धान्यं धनागमः।।
संपद्वृद्धिर्महाभीतिरामयो दिशि शीतगोः। -नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. सं.- 12-18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृह में पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में कपाट लगाना निषिद्ध नहीं है।[19]

एकाशीतिपदवास्तु–

भवन निर्माण में वास्तु चक्र को प्रमुख व आवश्यक बताया है क्योंकि वास्तु चक्र के आधार पर ही भवन के कक्षों का निर्माण किया जाता है। वास्तु ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थापना के लिए भिन्न-भिन्न वास्तु चक्र बताये हैं। यथा–नगर निर्माण, राजप्रसादनिर्माण, ग्राम निर्माण में चतुषष्टि पद वास्तु, सभी प्रकार के गृहों के निर्माण में एकाशीति पद वास्तु एवं कूप, वापी, तड़ाग, वन, उद्यान तथा जलाशयादि के निर्माण में षण्नवत्यधिकशतपद वास्तु का वर्णन उपलब्ध होता है। नारद संहिता में एकाशीति पद वास्तु के पदों की संज्ञायें वर्णित हैं। यथा–

मध्ये नवपदं ब्रह्मस्थानं तदतिनिंदितम्
द्वात्रिशदशाः प्राकाराः समीपाशाः समततः
पिशाचांशाः गृहारम्भे दुःखशोकभयप्रदाः।
शेषास्युर्गृह निर्माणे पुत्र पौत्र धन प्रदाः।[20]

एकाशीति पद (81) वास्तु मण्डल में केन्द्र के 9 पद ब्रह्म स्थान होने से त्याज्य कहे गये हैं। इस स्थान में दीवार या कक्ष बनाना निंदनीय है। तथा चक्र के चतुर्दिक 32 कोष्टक को छोड़कर समीप के 24 कोटकों की पिशाचांश संज्ञा है, पिशाचाशों में गृहारम्भ करना अशुभ होता है। इससे अतिरिक्त पदों में शिलान्यास करने से पुत्र पौत्रादि की प्राप्ति होती है। वास्तुचक्र में पिशाचाशों के शिशुओं की संज्ञा वाले पद भी हैं। "ब्रह्मभागपिशाचाशाः शिशूनां यत्र संहतिः"[21] अर्थात् ब्रह्मभाग और पिशाचांस के मध्य वाले पदों की संज्ञा पिशाचांश के शिशुओं की होती है। साथ ही वास्तुमण्डल में वास्तु पुरुष के मर्म स्थान और सन्धियाँ भी होती हैं। इनमें प्रथम वास करना अशुभ बताया है। यथा– मर्माणि सन्धयो नेष्टास्तेष्वेव विनिवेशने"[22]

एकाशीति पद वास्तु चक्र में पदों की संज्ञा

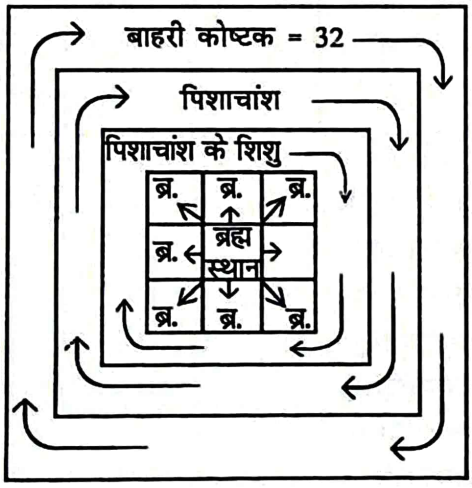

19. पश्चिम दक्षिणेवापि कपाटं स्थापयेद् गृहे।। नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. सं.- 18 1/2
20. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 20-22 –वास्तुराजवल्लभः 2/4
21. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 23
22. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहारम्भ में मास विचार–

नारद के अनुसार गृहारम्भ में चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन एवं पौष महीने निषिद्ध होते हैं। इनमें गृहारम्भ गृहवासियों को कष्ट देने वाला होता हैं। मार्गशीर्ष, फाल्गुन, वैशाख माघ, श्रावण और कार्तिक मास में गृहारम्भ करना पुत्र आरोग्य तथा धन के लिए शुभ बताये गये हैं। यथा–

सौम्याफाल्गुनवैशाखे माघश्रावणकार्तिकाः।
मासाः स्युर्गृहनिर्माणे पुत्रारोग्यधनप्रदाः।।[23]

अकारादि अष्टवर्ग द्वारा भूमि चयन–

नारद संहिता में अकारादि अष्टवर्गों से भूमि परीक्षण करने की विधि का भी वर्णन मिलता है पूर्व दिशा से क्रमशः आठों दिशाओं में अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग वर्णों में एवं पुनः इन्हीं अष्टदिशाओं में पूर्व से क्रमशः गरुड़, मार्जार, सिंह, श्वान, सर्प, मूषक, गज या मृग स्वामी होते हैं। इनमें अपने वर्ग से पञ्चम शत्रु होते हैं और अपने वर्ग में परम प्रीति होती है।[24] शत्रु को छोड़कर सभी शुभ होते हैं। यथा–

अष्टवर्ग बोधक चक्र

वर्ग सं.	1	2	3	4	5	6	7	8
वर्ग	अवर्ग	कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	त वर्ग	प वर्ग	य वर्ग	श वर्ग
दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
वर्गाधिपति	गरुड़	मार्जार	सिंह	श्वान	सर्प	मूषक	गज	मृग
वर्गाक्षर	अ ई उ ऋ ए	क ख ग घ ङ	च छ ज झ	ट ठ ड ढ ण	त थ द ध न	प फ ब भ म	य र ल व	श ष स ह

भू खण्ड परीक्षण के लिए सर्वप्रथम ग्राम या नगर की वर्ग संख्या को पहले रखकर बाद में निवास इच्छुक व्यक्ति की वर्ग संख्या को रखने से जो संख्या हो उसमें 8 का भाग देने पर शेष धन संज्ञक होता है। इसी प्रकार पहले निवास इच्छुक व्यक्ति की वर्ग संख्या को रखकर ग्राम या नगर की वर्ग संख्या को रखे प्राप्त संख्या में आठ का भाग देने पर शेष ऋण संज्ञक होता है।[25]

23. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 24
24. अकारादिषु वर्गेषु दिक्षुप्रागादिषु क्रमात्।
खगेशौतु हरिश्वाख्य सर्पाखुगजमूषकाः।।
वर्गेषु क्रमशो ज्ञेयाः स्ववर्गात्पञ्चचमो रिपुः।
स्ववर्गे परमा प्रीतिः कथ्यते गणकोत्तमैः।। नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 25-26
25. विभजेद् अष्टभि शेषं साधकस्य धनं भवेत्।
व्यत्यये नासकं तस्य ऋणमल्पं धनच्छुभूम्।। ना. सं. वा. श्लो. 27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

धन शेष अधिक व ऋण शेष कम हो तो निवासकर्ता के लिए शुभ होता है। विपरीत हो तो अशुभ होता है।[26] विषम आय शुभ तथा सम आय में निधन होता है। यथा उदाहरण–

व्यक्ति नाम– रमापति – वर्ग सं. 7

स्थन नाम– जनकपुरी – वर्ग सं. 3

37 ÷ 8 = लब्धि/5 शेष, शेष धन संज्ञक होगा

73 ÷ 8 = 9 लब्धि/1 शेष, शेष ऋण संज्ञक होगा

यहाँ धन ऋण संज्ञक शेष से अधिक है। अतः यह ग्राम या भूखण्ड निवास योग्य है। एकादिशेष का फल नारद संहिता में इस प्रकार दिया है। यथा–

गृह स्वामी के नक्षत्रसे गृह का नक्षत्र तीसरा हो तो धन का नाश, पञ्चम हो तो यशक्षीण तथा सातवाँ हो तो मृत्युकारक होता है। इसी तरह गृह और गृहेश की राशियों में परस्पर द्विद्वर्दाश, नवमपञ्चम्, षडाष्टक सम्बन्ध हो तो क्रमशः निर्धनता, कलह एवं मृत्यु कारक होते हैं। शेष सभी राशियाँ शुभ होती हैं।

धनक्षयं तृतीयर्क्षे पञ्चर्क्षे च यशः क्षयम्।
आत्मक्षयं सप्तमर्क्षे भवत्येवं हि भर्तृभात्॥
द्विर्द्वादशं निर्धनाय त्रिकोणमच्युताय च।
षडाष्टकं मृत्यवे स्यात् शुभदा राशयः परे॥[27]

सूर्य एवं मंगल के दिन एवं इनके ही नवांशक में गृह निर्माण करना अग्निभय कारक होता है। व अन्य ग्रहों के दिन या नवांशक में सभी कार्य पूर्ण कहे गये। हैं यथा–

सूर्याङ्गारकवारांशाः वैश्वानरभयप्रदाः।
इतरग्रहवाराशाः सर्वकामार्थसिद्धये॥[28]

गृहद्वार स्थापना–

गृह का द्वार वास्तु पुरुष की मुख की दिशा में बनाया जाता है। अतः वास्तुपुरुष के मुख की दिशा का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। भाद्रपद से आरम्भ कर तीन-तीन महीनों तक वास्तु पुरुष का मुख क्रमशः पूर्वादि चारों दिशाओं में होता है। यथा– भाद्रपद से प्रारम्भ कर कार्तिक पर्यन्त पूर्व

---

26. धनाधिक्यं गृहवृध्यै ऋणाधिक्यमशोभनम्।
विषमायं शुभायैव समायं निधनाय च॥–नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लोक 31
27. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 31-32
28. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 33

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

में, मार्गशीर्ष से माघ पर्यन्त दक्षिण में, फाल्गुन से वैशाख पर्यन्त पश्चिम में तथा ज्येष्ठ से श्रावण पर्यन्त उत्तर दिशा में वास्तु पुरुष का मुख होता है।[29] इनमें गृह का द्वार होना शुभ होता है। इनसे विपरीत दिशा में अशुभ होता है, परन्तु यदि चारों दिशाओं में द्वार हो तो अशुभ फल नहीं होता है।

शिलान्यास

ग्रन्थों में गृहारम्भ में शिलान्यास करना बताया गया है इससे गृह समृद्ध व शुभ फलों को देने वाला होता है। शिलान्यास करते समय मिट्टी के बक्से में सोना चाँदी -रत्न-धान्य-शैवाल रखकर उसे एक हाथ गहरे गड्ढे में रखना चाहिए यथा–

मृत्रुपेटिकाः स्वर्ण रत्न धान्य शैवाल संयुताः।
गृहमध्ये हस्तमात्रे गर्त्रे न्यासाय विन्यसेत्।।[30]

शिलान्यास के सन्दर्भ में मुहूर्त विचार भी ग्रन्थ में किया गया है। यथा–

स्वकेन्द्रस्थैस्त्रिकोणस्थैः शुभस्त्र्यायारिकौः परैः
लग्नात्पृष्ठाय चन्द्रेण दैवज्ञार्चनपूर्वकम्।।[31]

शुभ ग्रह स्वराशि में होकर केन्द्र (1, 4, 7, 10) में या त्रिकोण (5, 9) में हो, पाप ग्रह त्रिषडाय (3-6-11) में हों और चन्द्रमा लग्न से छठे या ग्यारहवें घर में हों तो ऐसे शुभ समय में शिलान्यास करना चाहिए।

शंकु निर्माण

दिश ाके निश्चय करने के लिए शंकु स्थापना की आवश्यकता होती है वह शंकु सीधा एवं ठोस होना चाहिए। अतः नारद संहिता के अनुसार शंकु निर्माण के लिए कुछ विशिष्ट वृक्षों की लकड़ी को ही स्वीकार्य बताया गया है। शंकु के निर्माण में खैर, अर्जुन, शाल, सुपारी, तेज पत्र, लाल चन्दन, प्लाश, रक्तशाल, कुटाज, कदम्ब, बाँस, और विल्व वृक्ष की लकड़ी को ग्राह्य माना है। शंकु के उर्ध्वभाग चतुष्कोण व मध्यभाग अष्टकोण और अधोभाग छिद्ररहित होता है।

शंकु का प्रमाण–

चतुवर्ण के लिए शंकु का प्रमाण भी भिन्न-भिन्न है। ब्राह्मणों के लिए 24 अंगुल, क्षत्रिय के लिए 23 अंगुल, वैश्य के लिए 16 अंगुल और शूद्र के लिए 12 अंगुल प्रमाण का शंकु होता है।

29. प्रतिकूल मुखं गेहं रोगशोकभयप्रदम्।
सर्वतोमुखगेहानामेष दोषो न विद्यते।। – नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 31-35
30. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 31-36
31. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 44

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शंकु सोना चाँदी व रत्नादि से सजा हो तो अधिक शुभ होता है।[32] मुहूर्त जानकर ही शंकु की स्थापना करनी चाहिए। मुहूर्त विचार में लग्न सूर्य, मंगल से रहित होना चाहिए तथा अष्टम भाव ग्रह हीन हो लग्न पर शुभ ग्रहों की दृष्टि व युति हो तो इस लग्न विशेष में पुण्यावाचन और सौभाग्यवती स्त्रियों के मंगल गीतों के साथ शंकु की स्थापना करनी चाहिए।[33]

शंकु रोपण विधि–

भूखण्ड के मध्यभाग में वास्तु पुरुष की नाभि होती है। नाभि से 7 अंगुल तक कुक्षि भाग होता है। कुक्षि भाग में शंकु रोपण किया जाता है। कुक्षि भाग में शंकु रोपण करने से पुत्र-पौत्र-धनादि की प्राप्ति होती है।[34]

शालभेद से गृह प्रकार–

शाल भेद से गृहों के विभिन्न प्रकार बताए गये हैं। यथा– एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल, चतुरशाल और सप्तशाल प्रकार के अलावा 16 प्रकार के भवनों के नाम भी मिलते हैं। जिनमें 1. ध्रुव, 2. धान्य, 3. जय, 4. नन्द, 5. खर, 6. कान्त, 7. मनोहर, 8. सुमुख, 9. दुर्मुख, 10. क्रूर, 11. शत्रु, 12. स्वर्णप्रद, 13. क्षय, 14. आक्रान्द, 15. विपुल, 16. विजय हैं प्रस्तर भेद से इनके भी 96 प्रकार होते हैं।

एकद्वित्रिचतुःशालाः सप्तशालाह्वयाः स्मृताः।
ताः पुनः षड्विधाः शालाः प्रत्येक दशषड्विधाः।
ध्रुवं धान्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरमम्।
सुमुखं दुर्मुखं क्रूरं शत्रुस्वर्णप्रदं क्षयम्।।
आक्रान्दं विपुलाख्यं च विजयं षोडशं गृहम्।
गृहाणि षण्णवत्येव तेषां प्रस्तार भेदतः।।[35]

आलिन्दो के अनुसार भवनों के 16 प्रकार होते हैं। गृहद्वार से प्रदक्षिणा क्रमानुसार लघुपद में अलिन्द बताया है। यथा–

---

32. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. सं. 38
33. व्यर्कारवारलग्नेषु चापे चाष्टमवर्जिते।
    नैधने शुद्धिसंयुक्ते शुभलग्ने शभाशंके।। नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 42-43
34. वास्त्वयामदलं नाभिस्तस्मादव्यध्यङ्गुलत्रयम्।
    कुक्षिस्तस्मिन्यसेच्छङ्कुपुत्रपौत्रप्रवर्द्धनम्। नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 37
35. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लोक 45-47
36. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 45

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुर्याल्लघुपदेलिन्दं गृहद्वारात्प्रदक्षिणम्।
पूर्वादिगेहस्वलिन्देषु गृहभेदास्तु षोडशाः।[36]

गृहवास्तु में दिशा ज्ञान–

गृह निर्माण में घर के कमरों का निर्धारण दिशाओं के अनुरूप किया जाना चाहिए। पूर्व दिशा में स्नानागार और अग्निकोण में भोजनालय बनाना शुभ है। दक्षिण दिशा में शयन कक्ष और नैऋत्य कोण में शस्त्रागार, स्त्रीभोग, धन के लिए कक्ष बनाना अत्यन्त शुभ है। और ईशान कोण दू-दही-जलपान-घृतादि को रखना शुभ है। वायव्य कोण में शृंगार व प्रसाधन कक्ष बनाया जाना शुभ होता है।

स्नानागार दिशि प्राच्यामाग्नेयां पचनालयम्।
याम्यायां शयनागारं नैऋत्यां शस्त्रमन्दिरम्॥

एवं कुर्यादिदंस्थानं क्षीरपानाज्यशलिकाः।
शय्यामूत्रास्त्रतद्विधाभोजनामंगलाश्रयाः ॥

धान्यस्त्रीभोगवित्तं च शृंगारायतनानि च।
ईशान्यादिक्रमस्तेषां गृहनिर्माणकं शुभम्॥[37]

अपि च–

शयनं दक्षिणस्यां च नैऋत्ययामायुधाश्रयम्।
भोजनं पश्चिमायां च वायव्यां धन सञ्चयम्।

उत्तरे द्रव्यसंस्थानमैशान्यां देवतागृहम्।
इन्द्राग्न्योर्मथनं मध्ये यमाग्न्योर्धुतमन्दिरम्॥

यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम्।
राक्षसजलयोमध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम्॥[38]

उपरोक्त प्रकार से वस्तुओं के रहने का स्थान अपनी-अपनी आय के अनुसार शुभ समझना चाहिए।[39] यथा–

---

36. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लोक 49
37. तत्रैव, श्लो. 50-52
38. बृहद्वास्तुमाला
39. एतेस्वस्थानशस्तानि स्वस्वाय स्वस्वदिश्यपि। नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. 53

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

"गृहवास्तु में कक्षविन्यास चक्र"

वायव्य उत्तर ईशान

पश्चिम

<table>
<tr><td>शृंगारकक्ष</td><td rowspan="2">द्रव्यसंग्रह</td><td rowspan="2">पुस्तकालय
व
अध्ययन कक्ष</td><td>पूजाधर</td></tr>
<tr><td>प्रसाधन</td><td>ओषधालय
धृत, दूध, दही
जलपानादि</td></tr>
<tr><td>भोजनालय
कक्ष</td><td colspan="2" rowspan="2">अलिन्द (बरामदा)
या खुलास्थान</td><td>मुख्य द्वार</td></tr>
<tr><td>शयन कक्ष</td><td>स्नानागार</td></tr>
<tr><td>शस्त्रागार</td><td>शयन
कक्ष</td><td>अन्नभण्डारणादि</td><td>पाकशाला</td></tr>
</table>

पूर्व

नैऋत्य दक्षिण आग्नेय

गृह में आग्राह्य वृक्ष

गृह के सम्मुख ऐसे वृक्षों व पौधों को अशुभ बताया है जो पर दूध, काँटे और फल वाले हों। ये वृक्ष एवं पौधे गृह में अशुभ कहे गये हैं। यथा– **"वृक्षाः दुग्धसकण्टकाश्चफलिनस्त्याज्या– गृहाद्दूरतः।"**[40]

ऐसे वृक्ष भवन से दूर ही लगाने चाहिए। नारद संहिता में ऐसे वृक्षों के नाम उल्लिखित हैं। यथा– प्लक्ष (पाकड़), गुल्लर, आम, नीम, स्नुही (थूहर), बहेड़ा, काँटेदार वृक्ष, जलवृक्ष, बरगद,

40. राजवल्लभमण्डनम्– 1.29

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पीपल, कपित्थ, अगस्त. सहिजन, ताड़ तथा इमली लगाने से गृहवासियों के लिए अशुभ होता है।[41] दूध युक्त वृक्ष धन का नाश करते हैं। काँटेदार वृक्ष शत्रुभय, फलदार वृक्ष सन्तान की हानि करते है। तथा स्वर्ण वर्ण वाले फूल भी घर के समीप अशुभ फल प्रदान करते हैं। यथा–

स दुग्ध वृक्षा द्रविणस्य नाशं कुर्वन्ति ते कण्टकिनोऽरिभीतम्।।
प्रजाविनाशं फलिनः समीपे, गृहस्य वर्ज्याः कलधौत पुष्पाः।।[42]

घर के सम्मुख पिता व भाई के घर को भी शुभ नहीं माना गया है। पिता और भाई का घर अपने घर से पश्चिम व दक्षिण में होना शुभ होता है। साथ गृह निर्माण में गृह का स्तम्भ या पाद दैर्ध्यचतुर्थांश समान रखना चाहिए असमान स्तम्भ अशुभ और अकल्याणकारक होता है। यथा–

पितृवत्स्वाग्रजं गेहं पश्चिमे दक्षिणेऽपिवा।
गृहपादा गृहस्तम्भाः समाः शस्ताश्च नाऽसमाः।।[43]

आयादि विचार–

ऊँट तथा हाथी के गृह निर्माण में ध्वज या गज आय होना शुभ तथा घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, कुत्ता आदि पशुओं के गृह निर्माण में ध्वज अथवा वृष आय होना शुभ है। शय्या, आसन, मन्त्रादिको में ध्वज, सिंह व वृष आय शुभ फल को देती है।

ऊष्ट कुंजरशालानां ध्वजायोऽप्यथवा गजे
पशुशालाश्वशालानां ध्वजायोऽप्यथावावृषे।।
द्वारे शय्याशना मंत्रे ध्वजसिंहेवृषाः शुभाः।।[44]

अन्य वास्तु ग्रन्थों में ध्वजादि आयों का विस्तृत वर्णन मिलता हैं।[45]

एकाशीतिपदवास्तु मण्डल निर्माण व पूजन–

पूर्वोक्त वास्तु विधि से भवन निर्मित हो जानेके पश्चात् भवन में वास्तु पुरुष का वास्तुमण्डल में पूजन किया जाता है। वास्तुमण्डल बनाकर सर्वप्रथम सम्पूर्ण 81 पदों में तत्-2 देवों का आवाहन

---

41. प्लोदुंबर चूताख्या निवस्नुही विभीतिकाः।।
ये कण्टका दग्धवृक्ष वटाश्वत्थकपित्थकाः।
अगस्त्यशिगुतालाख्या तितिणीकाश्चनिदिताः।। नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. सं.- 53-54
42. बृ.वा.मा. श्लो.सं. 10
43. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो.सं. 55
44. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय, श्लो. सं. 62
45. कीर्ति शोको ज्यो बैरं धनं निर्धनता सुखम्।
रोगश्चेति गृहारम्भे ध्वाजादीनां फलं क्रमात्।। –बृहद्वास्तुमाला आयाधानयनम्, श्लो.सं. 5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

व स्थापन करना चाहिए तदनन्तर विधिपूर्वक पूजन करना चाहिए है।[46] वास्तु मण्डल बनाने के लिए सर्वप्रथम चतुष्कोण चौकी पर सफेद वस्त्र बिछाकर उस पर गीले कुंकुम और कलावे के द्वारा दस-दस रेखाऐं पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण खीचंने पर 81 कोष्टकों का वास्तु चक्र बनाना चाहिऐ। चक्र को रंगीन चावल व दालों के द्वारा भर कर तैयार करना चाहिए।[48] यथा–

वास्तुपूजा महंवक्ष्ये नववेश्म प्रवेशने।
हस्तयात्रा लिखेद्रेखा दशपूर्वादशोत्तराः॥

गृहमध्ये ताण्डुलोपर्य्येकाशीति पदं भवेत्।
पञ्चोत्तरान्वक्ष्यमाणाश्चत्वारिशंत्सु वा न्यसेत्॥[47]

चक्र के बाहरी मण्डल में क्रमशः ईशान कोण से प्रदक्षिणा क्रम में ईशान कोण पर्यन्त 32 कोष्टकों में 32 देवताओं के नाम स्थानस्वरूप से पूज्य है। 32 देवताओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–

1. अग्नि, 2. पर्जन्य, 3. जयंत, 4. पाकशासन, 5. सूर्य, 6. सत्य, 7. भृश, 8 आकाश, 9. वायु, 10. पूषा, 11. पितर, 11. नैऋत्य, 12. दण्डधर, 13. गन्धर्व, 14. भृंगराजक, 15. मृग, 16. पितर, 17. गणाधीश, 18. दौवारिक, 19. सुग्रीव, 20. पुष्पदन्तक, 21. जलाधीश, 22. असुर, 23. शेष, 24. पाप, 25. रोग, 26. भोगी, 27. मुख्य, 28. निशाकर, 29. सोम, 30. सूर्य, 31. अदिति, 32. दिति।[48]

फिर बाहरी कोष्टकों के अन्दर वाले 25 कोटकों वाले मण्डल के चतुष्कोणों में ईशान से प्रदक्षिणा क्रम में क्रमशः आप, सविता, जय, रुद्रदेव की स्थापना कर पूजन करना चाहिए मध्य के 9 पदकोष्ठक ब्रह्मा के और चारों तरफ पूर्वादि क्रम में एकान्तर स्थान क्रम से अर्यमा, सविता, विवस्वान्, बिबुधाधिप, मित्र, राजयक्ष्मा, पृथ्वीधर और आपवत्स इन आठ देवताओं का स्थान है। ये कुल 45 स्थान 45 देवता स्वरूप से पूजित हैं। ये सभी देव पदिक होते हैं।[49] यथा–

अथेश्यान्यादि कोणस्थश्चत्वारस्तत्समीपगाः।
आपः सवितृसंज्ञश्च जयोरुद्रः क्रमादमी॥
मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्याष्टौ च समीपगाः॥
एकान्तराः स्युः प्रागाधाः परितो ब्रह्मणः स्मृतः॥
अर्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः।
मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधराह्वायः॥[50]

---

46. नारद संहिता वास्तुलक्षणाध्याय 32.1-2
47. नारद संहिता 32/1-2 पृ. 224
48. ना.सं.वा.ल. 32/3-5 पृ. 225
49. ना. सं. वा. 32/6-7 पृ. 227
50. ना.सं.वा.ल. 32/8-10 पृ.सं. 225

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

1. 09 पदों में 9 पदिक वाला देव– ब्रह्मा
2. 40 पदों में 2 पदिक वाला देव– जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश विरथ, बृहत्क्षत्, यम, गन्धर्व, भृंगराज, सुग्रीव पुष्पदन्त, वरुण, असुर, शेष, पापयाक्षमुख्य, भल्लाट, सोम, भुजंग
3. 12 पदों में 3 पदिक वाले देव– अर्यमा, विवस्वान्, मित्र पृथ्वीधर
4. 20 पदों में 1 पदिक वाले देव– शिखि, दिति, पर्जन्य, आप, आपवत्स, सविता, रोग, पापयक्ष्मा, अहि, राजयक्ष्मा, रुद्र, अन्तरिक्ष, अनिल, सवित्र इन्द्र, सुग्रीव, पूषा। मृग, पितर, दौवारिक, जय।

9 पदिक वाले देवों की संख्या 1 है, 2 पदिक वाले देवों की संख्या 20 है। 3 पदिक वाले देवों की संख्या 4 है। एवं 1 पदिक वाले देवों की संख्या 20 है। इस तरह कुल 45 देवता होते हैं। जिनका 81 कोष्ठकों में विन्यास होता हैं। यथा–

ईशान — पूर्व — आग्नेय

उत्तर — दक्षिण

शिखी 1	पर्जन्य 2	जयन्त 3	इन्द्र 4	सूर्य 5	सत्य 6	भृश 7	अंतरिक्ष 8	अनिल 9
दिति 32	आप 33	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	सावित्र 34	पूषा 10
अदिति 31	अदिति	आपवत्स 44	अर्यमा	अयमा 37	अर्यमा	सविता 38	वितथ	वितथ 11
भुजङ्ग 30	भुजग	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहत्क्षत	बृहत्क्षत 12
सोम 29	सोम	पृथ्वीधर 43	ब्रह्मा	ब्रह्मा 45	ब्रह्मा	विवस्वान् 39	यम	यम 13
भल्लाट 28	भल्लाट	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गन्धर्व	गन्धर्व 14
मुख्य 27	मुख्य	राजयक्ष्मा 42	मित्र	मित्र 41	मित्र	इन्द्र 40	भृंगराज	भृंगराज 15
नाग 26	रुद्र 36	शोष	असुर	वरुण	पुष्पदंत	सुग्रीव	जय 35	मृग 16
रोग 25	पापयक्ष्मा 24	शोष 23	असुर 22	वरुण 21	पुष्पदंत 20	सुग्रीव 19	दौवारिक 18	पितर 17

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस तरह 81 पदों में कुल 45 देवताओं का निवास होता है। पूजा में वास्तुमण्डल निर्माण के पश्चात् ब्राह्मण के द्वारा गणेशाम्बिका वरुणादि देवताओं का पूजन कर एकाशीति पद वाले देवताओं का विधिपूर्वक पूजन व प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभो! आप धन धान्यादि की समृद्धि निरन्तर मेरे घर में करते रहें। यथा–

आवाहनादि सर्वोपचाराश्च क्रमशस्तथा।
नैवेद्यं विविधान्नेन वाधाद्यैश्च सर्मपयेत्॥

वास्तु पुरुषस्नमस्तेऽस्तु भूशय्याभिरतः प्रभोः।
मद्गृहं धनधान्यादि समृद्धं कुरु सर्वदा॥[51]

प्रार्थना के पश्चात् ब्राह्मण को भोजनोपरान्त दक्षिणा देकर आशीर्वाद लेना चाहिए। जो इस प्रकार वास्तुमण्डल का पूजन करते हैं। वे गृहवासी आरोग्य-पुत्र-धन- धान्यादि से समृद्ध व सुखी रहते हैं। और सम्यक् रूप से गृहस्थ धर्म का पालन कर परम पुरुषार्थ को प्राप्त करते हैं। यथा–

इति प्रार्थ्य यथाशक्तिः दक्षिणामर्चकाय च।
दद्यात्तदग्रे विप्रेभ्यो भोजनं च स्वशक्तिः॥
अनेन विधिना सम्यग् वास्तु पूजां करोति यः।
आरोग्यं पुत्रलाभं च धनं धान्यं लभेन्नरः॥[52]

---

51. नारदसंहिता., 32/16-17 पृ.सं. 227
52. नारदसंहिता., 32/18-19 पृ.सं. 227

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मन्दिर वास्तु में प्रतीक

आशीष कुमार चौधरी

सृष्टि के सभी जीवों के प्रदुर्भाव एवं अस्तित्व में **दिक्** एवं **काल** की शक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन्हीं शक्तियों के अनुरूप चलते हुए अपने रहन-सहन को व्यवस्थित करने में निःसंदेह जीवन की सुख-शान्ति निहित है। प्रकृति की इन्हीं शक्तियों से सामंजस्य बनाकर जीवन-यापन करने की कला का नाम ही **"वास्तुकला"** है। भारतीय वास्तुकला का स्वरूप हमें वेद से ही प्राप्त होने लगता है, किन्तु इसका पल्लवन वेदाङ्गों, पुराणों और आगमों में होता दिखाई देता है।[1] कोश ग्रंथों के अनुसार वह स्थान जिस पर कोई भवन खडा हो अथवा घर बनाने हेतु उपयुक्त जगह हो उसे **'वास्तु'** कहेंगे।[2]

वास्तु के तीन भेद बताए गए हैं– धार्मिक वास्तु के अन्तर्गत मन्दिर, मठ, धर्मशाला, जलाशय एवं धार्मिक स्थानादि आते हैं। मन्दिर को प्रासाद कहा जाता है हलायुध-कोश[3] के अनुसार राजा के विशाल भवन को प्रासाद कहा जाता है। अमरकोश[4] की व्याख्या के अनुसार देवताओं और राजा का वह गृह जिसे देखने से मन प्रसन्न हो जाता है, वह प्रासाद की श्रेणी में आता है।

वास्तुशास्त्र के अनुसार मन्दिर का निर्माण वहाँ होना चाहिए जहाँ देवतागण आनन्द की अनुभूति करते हों, वृहत्संहिता[5] के अनुसार वन प्रदेश के पास, नदियों के तट पर, झरनों के पास, नगरों में एवं उद्यानों में देवगण सदा प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं।

प्रारम्भिक मन्दिर का उद्गम श्रोत समतल भूमि पर बनी यज्ञ तथा नाग पूजा वेदियों एवं उनके ऊपर छप्पर निर्मित हुआ जान पड़ता है। मन्दिर का सर्वप्रथम उल्लेख **शतपथ ब्राह्मण**[6] में मिलता है जब दो मण्डप से युक्त मन्दिर बनाए जाते थे और ये मण्डप **स्तम्भों** व **बल्लों** पर

---

1. राज. प्र.सं. 2011, पृ. 7
2. वास्तु संक्षेपतो वक्ष्य गृहादौ विघ्ननाशनम् "ईशानकोणादारम्य ह्यकाशीति त्येजत्। हलायुधकोश, पृ. 606, वस् + तुण्, वासयोग्य भुमौ। वाचस्पत्यम्, पृ. 4888, वसन्ति प्राणिनो यत्र। वस् निवासे + "वसेरगारे णिच्च।" शब्दकल्पद्रुम्, चतुर्थ खण्ड, पृ. 358
3. हलायुध कोश, पृ. 473
4. अमरकोश, द्वितीय काण्ड, पृ. 136
5. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याय, श्लोक 8
6. शतपथब्राह्मण, 3, 5, 3, 9

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आश्रित होते थे, **धरन्** द्वारा **छत** को आश्रय दिया जाता था। गुप्त काल में छतें सपाट ही अधिक होती थी, उत्तर गुप्तकाल में देवालय में अलंकरण को प्राथमिकता मिली तथा वे शीर्ष सुन्दर सुसज्जित शिखर से मण्डित किए जाने लगे।[1]

देवप्रसाद के विकास का क्रम जब शुरू हुआ तो मन्दिरों की तीन कोटियाँ सामने आई[2] - **नागर, द्राविड** एवं **वेसर**। शिल्प-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में **नागर मन्दिर** अष्टाङ्ग से युक्त किये जाते थे[3] - 1. **मूल या आधार, 2. मसूरक 3. जङ्घा, 4. कपोत, 5. शिखर, 6. ग्रीवा, 7. आमलक, 7. कलश।**

द्राविड शैली के मन्दिर की स्थापत्य रचना किञ्चिद् भिन्न प्रतीत होती है इन मन्दिरों का आधार भाग वर्गाकार होता है, तथा गर्भ-गृह पर सीधा **पिरामिड** आकार का शिखर होता है। शीर्ष गुम्बदाकार छह या आठ पहल होते हैं। प्राङ्गण में अनेक छोट बड़े मन्दिर एवं जलदीर्घाएँ होती है, प्राङ्गण का मुख्य द्वार **गोपुर** कहा जाता है।[4]

प्रासाद जहाँ से आरम्भ होता है वहाँ सबसे नीचे एक वर्गाकार **वेदी** होती है, यह वेदी चार प्रकार की होती है और इसी चतुष्कोण वेदी पर प्रासाद की चतुष्कोण भित्ति का निर्माण होता है।[5] इसमें भीतर बीच में चतुष्कोण रहता है इसका नाम गर्भ-गृह है, इसमें **वास्तु-पुरुष** की प्रतिष्ठा की जाती है और इसे वास्तु-पुरुष मण्डल कहते हैं।[6] वास्तु-पुरुष मण्डल के मध्यम में ब्रह्मस्थान रहता है, जहाँ निधि-कलश की स्थापन की जाती है। यह **निधि-कलश** एक पात्र है, जिसमें स्वर्णादि रखकर गर्भ-गृह के बीच **ब्रह्मस्थान** में स्थापित कर दिया जाता है।[7] प्रासाद ज्यों-ज्यों उठता है त्यों-त्यों **पशुपक्षी, देव-देवी, मिथुन, गन्धर्व, किन्नर, यक्षादि** की मूर्ति बनाई जाती है। शिल्पशास्त्र में इनकी संख्या एक से सोलह तक बतायी गयी है, किन्तु प्रायः इनकी संख्या एक, सात और चौदह होती है। मन्दिर में एक **विमान** भी होता है, इन विमानों का अन्त एक वर्गाकार

---

1. उपाध्याय, उदयनारायण, भारतीय स्थापत्य एवं कला, पृ. 14-15
2 कलानिधि, पृ. 12
3 नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा-मतमतम्। मयमतम्, 19/35
4. मयमतम्, 20.55-67
5. प्रथमा चतुरश्रा स्यात स भद्रा च द्वितीयका।
   तृतीया श्री धरो नाम चतुर्थी पद्मिनी स्मृता।। समराङ्गणसूत्र - प्रथम भाग, 47वाँ अध्याय, श्लो.सं. 2
6. प्रासादमण्डम्, 8/48
7. क्षीरोदर्णवके पूर्व मथ्यमाने सुरासुरैः।
   तत्रोत्पन्न सुलिकम् कलशः कामरूपिणम्।।
   प्रतिष्ठादिषु सर्वेषु सर्वपुण्य महोत्सवे।
   संस्थाप्य पुण्यकलशं सर्वविघ्नोपशाकम्।। कलानिधि, 9/2-2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वेदी में रहता है।[1] उसके ऊपर एक चक्राकार शिलाखण्ड रहता है, इसे **आमलक**[2] कहते हैं। आमलक का भीतरी अंश अङ्गुठी की तरह शून्य होता है और बाहर आँवले की तरह रेखाएँ उभरे हुए दाँत के तरह कटे रहते हैं एक अंश निकला रहता है जिसमें ध्वज डालने के लिए छेद बना रहता है, इसे **"वेणुरन्ध्र"** और **"वेणु कोश"** कहते हैं।[3] आमलक के ऊपर **कलश** रहता है, प्रासाद के अष्टमांस के बराबर कलश की गोलाई को मोटा रखना चाहिए और उसमें परम पुरुष की सोने की मूर्ति रहती है।[4] कलश सोने, ताम्बे या पीतल का होना चाहिए इसका नाम अमृत कलश है[5], यह निधि कलश के ठीक ऊपर रहता है। निधि कलश और अमृत कलश के बीच ऊपर से नीचे तक ज्योतिर्मय **मूलस्तम्भ** की कल्पना की जाती है, इसके चारों ओर सृष्टि की रचना का प्रतीक बनाया जाता है। कलश का मुख एक बन्द कमल से ढका रहता है, इसके मुंदे हुए दलों का अग्रभाग ऊपर की ओर रहता है। मन्दिर का निर्माण हो जाने पर जितना ऊँचा मन्दिर होता है उतने ही ऊँचे बाँस में या और किसी ध्वजदण्ड में पताका लगायी जाती है, इसे मन्दिर के शिखर पर आमलक में लगे हुए **वेणुकोश** में डाल दिया जाता है और **पताका** अनन्त आकाश में लहराने लगती है।[6]

प्रासाद के निम्न भाग में गर्भ-गृह के चारों ओर द्वार होता है। पूर्व में **शान्ति द्वार**, दक्षिण में **विद्या** पश्चिम में **निवृत्ति** और उत्तर में **प्रतिष्ठा** द्वार रहता है।[7] इसमें एक द्वार मन्दिर में प्रवेश के लिए खुला छोड़ दिया जाता है और तीन इस प्रकार बन्द किए जाते हैं कि उनमें प्रतिमा की स्थापना के लिए स्थान बना रहता है। यदि गर्भ-गृह में वास्तु मण्डल को छोड़ दिया जाता है और इसी घनद्वार में प्रधान देवता, मूर्ति की स्थापना की जाती है और इन द्वारों में पार्श्वदेवता, आवरणदेवता और द्वारदेवता की स्थापना की जाती है।[8]

प्रासाद का नाम **मूल-शिखर, मूल-मञ्जरी, मूल-शृङ्ग** भी है,[9] इसमें एक चतुष्कोण वेदी रहता है, जिस पर प्रासाद के चारों ओर प्रदक्षिणा के लिए परिक्रमा बनी रहती है।[10] इस वेदी पर प्रासाद के चतुर्दिक् स्तम्भ पर मण्डप बना रहता है, इन स्तम्भों के साथ आवरण देवता की

---

1. समराङ्गण, द्वितीय भाग, 59वाँ अध्याय, 1-2
2. स्कन्धकोशान्तरे सप्त भक्ते ग्रीवा तु भागतः।
   सार्ध आमलसारश्च पद्मछत्रं तु सार्धकम्।। प्रासादमण्डम्, 4/24
3. अग्निपुराण, 102/2
4. कलानिधि, 10/6-7
5. प्रासादमण्डम्, 4/25
6. प्रासादमण्डम्, 4/25
7. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3,94/45-47
8. वही, पृ. 21
9. प्रासादमण्डम्, 6/1-5
10. वही, 1/7

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थापना की जाती है। **अमरकोश**[1] के अनुसार मण्डप मनुष्यों का आश्रय स्थल है यथा **"अथ मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयाः।"** **मानसार**[2] के अनुसार सात प्रकार के मण्डप बनाए गए हैं– **हिम, निषदज, विजय, माल्यज, परियात्र, गन्धमादन, हेमकूट। समराङ्गणसूत्रधार**[3] में 27 प्रकार के मण्डप की चर्चा है। वही **गरुण पुराण** में देवालय के सम्मुख दस, बारह, हाथ का सोलह स्तम्भों से युक्त तथा मध्य में वेदिका से युक्त मण्डप की रचना करनी चाहिए।[4] मण्डपों के ऊपर छोटे-बड़े मन्दिर के शृङ्ग, लता इत्यादि होते हैं। दक्षिणापथ में इन्हें **कूट, कोष्ट, पञ्जर,** इत्यादि कहे जाते हैं, इनमें भी **आमलक, शिखर, कलशादि, मूल मञ्जरी** अर्थात् प्रासाद की तरह ही होते हैं।

मण्डप की वेदी के बारह चतुष्कोण **प्राकार या प्राचीर** होते हैं, इस प्रकार मन्दिर के साथ प्रासाद वेदी और प्राकार के तीन **चतुष्कोण** होते हैं।[5] यन्त्रों से मिला कर देखने से इनका आकार और महत्त्व समझ में आता है। यन्त्रों में एक बिन्दु या दो त्रिकोण, एक, दो अथवा तीन वृत्त त्रिकोण अथवा **अष्टदलकमल** और एक, दो अथवा तीन रेखाओं वाला **चतुष्कोण** रहता है। मन्दिर, स्तूप, स्तम्भ और शिवलिंग इन्हीं सिद्धांतों पर बनते हैं। प्रासाद के अमृत-कलश के ऊपर **कमलकलिका** का ऊर्ध्वभाग **बिन्दु** स्थान है, जो नाद-बिन्दु के रूप में सृष्टि का आरम्भ है। **बन्द-कमल** अविकसित दृष्टि का सङ्केतक है।[6] कलश मन्दिर का मस्तक माना जाता है, **कलानिधि**[7], **प्रासादमण्डनादि**[8] शिल्प ग्रंथों में इसका विस्तृत विवेचन है। मन्दिर के **गर्भ-गृह** द्वार और **विमानों** पर **मिथुन** की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं।[19]

कला की स्वतन्त्र परम्परा में प्रतीकों का अपना विशिष्ट स्थान है। मन्दिर वास्तुकला का प्रतीकात्मक विवेचन कुछ नया नहीं है, इनके स्वरूप के परिज्ञान द्वारा हम प्राचीन काल से ही लाभान्वित होते रहे हैं। ऋषिगणों के सूक्ष्म विचार को मूर्त रूप देना ही मनुष्यों का स्वभाव रहा है। मन्दिर वास्तु के प्रतीकात्मक मूल स्वरूप पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि इनके प्रत्येक बिन्दु का अपना गूढ़ रहस्य है जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी लाभकारी सिद्ध होता है। इस शोध-पत्र के माध्यम से मन्दिर वास्तु के प्रतीकात्मक स्वरूप को प्रतिभासित करने का प्रयास किया गया है एवं नवीन शोध-आयाम प्रस्तुत करने को लक्ष्य बनाया गया है।

A detached building, a pavilion, an open hall, an arbour, a corridor, a tower, a tample the auditorium in a theareter. An Encyclopadeaia of Hindu Architecture, p. 395

1. अमरकोश, 2/2/9
2. मानसार 34/76-78
3. समराङ्गणसूत्र 34/76-78
4. गरुड.पुराण, 48/4-5
5. मत्स्य.पुराण, 270/15-16
6. मिश्र, जनार्दन- भारतीय प्रतीक विद्या, पृ. 270
7. कलानिधि, 9/2-6
8. प्रासादमण्डम्, 4/25-49
9. मिश्र, जनार्दन- भारतीय प्रतीक विद्या, पृ. 271

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy